

**‘STRI MUKTI KA PRASHAN AUR ‘HANS’ PATRIKA KI
BHOOMIKA’**

**(RAJENDRA YADAV SAMPADIT ‘HANS’ 1986-2013 KE VISHESH
SANDARBH MEIN)**

A Thesis submitted in Partial Fulfilment of the Requirement
For the Degree of Doctor of Philosophy in Hindi



2021

Researcher

PRIYA KAUSHIK

16HHPH09

Supervisor

PROF. ALOK PANDEY

Department of Hindi, School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad - 500046

Telangana,

India

‘स्त्री मुक्ति का प्रश्न और ‘हंस’ पत्रिका की भूमिका’

(राजेन्द्र यादव संपादित ‘हंस’ 1986-2013 के विशेष संदर्भ में)

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबंध



2021

शोधार्थी

प्रिया कौशिक

16HHPH09

विभागाध्यक्ष

प्रो. गजेन्द्र पाठक

हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविश्वविद्यालय

हैदराबाद 500046

शोध निर्देशक

प्रो. आलोक पाण्डेय

हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद 500046



DECLARATION

I PRIYA KAUSHIK (Registration no. **16HHPH09**) hereby declare that the thesis entitled **STRI MUKTI KA PRASHAN AUR 'HANS' PATRIKA KI BHOOMIKA'** (**RAJENDRA YADAV SAMPADIT 'HANS' 1986-2013 KE VISHESH SANDARBH MEIN**) 'स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस' पत्रिका की भूमिका' (राजेन्द्र यादव संपादित संपादित 'हंस' 1986-2013 के विशेष संदर्भ में) submitted by me under the guidance and supervision of Professor **ALOK PANDEY** is a bonafide plagiarism free research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga / Inflibnet.

Signature of Supervisor

(Prof. ALOK PANDEY)

Signature of Student

PRIYA KASHIK

Regd. No. 16HHPH09

DATE



CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **STRI MUKTI KA PRASHAN AUR 'HANS' PATRIKA KI BHOOMIKA'** (RAJENDRA YADAV SAMPADIT 'HANS' 1986-2013 KE VISHESH SANDARBH MEIN), 'स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस' पत्रिका की भूमिका' (राजेन्द्र यादव संपादित संपादित 'हंस' 1986-2013 के विशेष संदर्भ में) submitted by PRIYA KAUSHIK bearing Regd. No. **16HHPH09** in partial fulfilment of the requirements for the award of **DOCTOR OF PHILOSOPHY** in **HINDI** is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

As for as I know, This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for award of any degree or diploma.

Further, the student has the following publication(s) before submission of the thesis for adjudication and has produced evidence for the same in the form of acceptance letter or the reprint in the relevant area of his research:

A. Published research paper in the following publications :

- 1) HINDI DALIT SAHITYA KA VIKAS AUR 'HANS' KI BHOOMIKA, JANKRITI BAHUBHASHI ANTARRASHTRIYA MASIK PATRIKA, ISSN 2454-2725, VOL-4, ISSUE 36-37, APRIL-MAY 2018, PAGE 263-273.
- 2) STRI MUKTI KA 'HANS' SAMSAAMYIK SRIJAN, ISSN 2320-5733, YEAR 11, VOL- 21, JAN-MAR 2021, 243-245.

B. Research Paper presented in the following conferences :

1. 'HINDI SAHITYA KO 'HANS' KI DEN' , DEPARTMENT OF HINDI, BANARAS HINDU UNIVERSITY, VARANSI, 20-21 OCTOBER 2016
2. STRI MUKTI KA PRASHAN AUR 'HANS' KI BHOO MIKA', STRI ADHYAYAN VIBHAG, MAHATMA GANDHI ANTRRASHTRIYA HINDI VISHVVIDHYALAYA, WARDHA, 05-08 MARCH 2017

Further the student has passed the following courses towards fulfilment of coursework requirement for Ph.D. :-

Course Code	Name	Credit	Result
1. Paper-1 (801)	Critical Approaches to Research	4	Pass
2. Paper-2 (802)	Research Paper	4	Pass
3. Paper-3 (826)	The Ideological Background of Hindi Literature	4	Pass
4. Paper-4 (827)	Practical Review	4	Pass
5. Paper-5 (701)	Research Methodology	4	Pass

Supervisor

Head of Department

Dean of the School

अनुक्रमणिका

अध्यायीकरण

भूमिका i-vi

प्रथम अध्याय :- राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व और कृतित्व 1-22

1.1. व्यक्तित्व

1.2. कृतित्व

1.3. अक्षर प्रकाशन

1.4. 'हंस'

द्वितीय अध्याय :- 'हंस' परिचय और महत्व 23-46

2.1 'हंस' परिचय

2.1.1 प्रथम उत्थान :- प्रेमचन्द द्वारा संपादित 'हंस' (मार्च 1930-सितम्बर 1936)

2.1.2 द्वितीय उत्थान :- प्रेमचन्दोत्तर 'हंस' (अक्टूबर 1936-अगस्त 1952)

2.1.3 तृतीय उत्थान :- राजेन्द्र यादव संपादित 'हंस' (अगस्त 1986-नवम्बर 2013)

2.2 राजेन्द्र यादव के संपादित 'हंस' का महत्व

तृतीय अध्याय :- स्त्री-विमर्श :- विविध आयाम 47-99

3.1 स्त्री विमर्श:- एक अवलोकन

3.1.1 विमर्श का अर्थ

3.1.2 स्त्री-विमर्श का अर्थ और स्वरूप

3.1.3 स्त्री-विमर्श की प्रमुख धाराएं

3.2 स्त्री मुक्ति संघर्ष

3.2.1 पाश्चात्य समाज में स्त्री मुक्ति संघर्ष

3.2.2 भारतीय समाज में स्त्री मुक्ति संघर्ष

3.3 हिंदी साहित्य में स्त्री के मुक्ति स्वर

चतुर्थ अध्याय:- स्त्री मुक्ति का प्रश्न और हिंदी की समकालीन साहित्यिक

पत्रकारिता

100-137

4.1 कविवचन सुधा

4.2 बालाबोधिनी

4.3 सुगृहणी

4.4 हिन्दी प्रदीप

4.5 सरस्वती

4.6 मर्यादा

4.7 स्त्री दर्पण

4.8 प्रभा

4.9 चाँद

4.10 सुधा

4.11 वसुधा

4.12 आलोचना

पंचम अध्याय :- स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस' 138-320

5.1 'हंस' के स्त्री मुक्ति केन्द्रित विशेषांक

5.1.1 औरत उत्तरकथा : अंक- 1 (नवंबर- दिसंबर 1994), औरत उत्तरकथा : अंक-2 (जनवरी 1995)

5.1.2 अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक (जनवरी-मार्च 2000), (मार्च 2000)

5.1.3 स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप (मार्च 2001)

5.1.4 स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान (2009)

5.2 'हंस' के स्त्री मुक्ति केन्द्रित संपादकीय

5.3 'हंस' में स्त्री मुक्ति के प्रश्न के विविध आयाम

5.3.1 'हंस' की स्त्री मुक्ति केन्द्रित कहानियाँ

5.3.2 'हंस' की स्त्री मुक्ति केन्द्रित कविताएं

5.3.3 'हंस' की स्त्री मुक्ति केन्द्रित लघुकथाएँ

5.3.4 'हंस' के स्त्री मुक्ति केन्द्रित वैचारिक लेख

षष्ठम अध्याय :- स्त्री मुक्ति के संदर्भ 'हंस' का महत्व और योगदान 321-334

उपसंहार 335-342

परिशिष्ट 343-354

संदर्भ सूची 355-363

शोध आलेख

शोध संगोष्ठी

भूमिका

हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता से संबंधित है और इसका इतिहास लगभग 200 साल पुराना है। हिन्दी पत्रिकाओं के स्वतन्त्रता पूर्व और स्वतन्त्रता के बाद के इतिहास पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इस लंबी अवधि के दौरान हिन्दी पत्रकारिता के स्वरूप और विचारधारा में परिवर्तन होता रहा है। हिन्दी की आरंभिक साहित्यिक पत्रिकाएँ और उनके संपादक युगीन सामाजिक भावबोध को समग्र रूप से अपनी चेतना में समाहित किए हुए थे और पत्रिकाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति भी करते रहे। आज़ादी से पूर्व पत्रिकाओं का मुख्य ध्येय साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति प्राप्त करना रहा। इस दमानात्मक साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति के लिए भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने सामाजिक चेतना का प्रसार करते हुए साहित्य को इसका प्रमुख विषय बनाया। इसी के साथ साहित्यिक साहित्यिक पत्रकारिता का शुभारंभ माना जाता है।

वर्तमान समाज में साहित्यिक पत्रकारिता पत्रकारिता जगत में एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इस क्षेत्र को समृद्ध और निरंतर प्रगतिशील बनाने में हिन्दी के अनेक साहित्यिक विद्वानों ने पत्रकार और संपादक की भूमिका निभाई तथा संपादक के दायित्वों का पूर्ण निष्ठा से निर्वहन किया। समय की नब्ज को पहचानते हुए अनेक साहित्यिक आंदोलनों को उभारा साथ ही इन आंदोलनों से साहित्य को नया दृष्टिकोण, नए विचार और नई चेतना प्राप्त हुई। इन पत्रकार साहित्यकारों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमचंद, कमलेश्वर, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला आदि नाम महत्वपूर्ण रहे हैं। इन महत्वपूर्ण संपादकों की सूची में एक नाम साहित्यिक एवं पत्रकार व्यक्तित्व के धनी राजेन्द्र यादव का है।

राजेन्द्र यादव ने प्रेमचंद की प्रगतिशील दृष्टि को विरासत के रूप में अपनाया। राजेन्द्र यादव ने प्रेमचंद की जनचेतना, धार्मिक, जातीयता, भ्रष्ट राजनीति में बदलाव की आवश्यकता को समझा

और परंपरा से स्थापित जीर्ण मूल्यों और व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विरोध से स्वस्थ समाज के सूत्र को संजोते हुए राजेन्द्र जी प्रेमचंद की परंपरा का अखंडित रूप से निर्वहन करते रहें।

राजेन्द्र यादव के सम्पादन में संपादित 'हंस' भी प्रगतिशील परंपरा के प्रति प्रतिबद्ध रहा और समय की आवश्यकता के अनुसार स्त्री प्रश्नों, दलित प्रश्नों और धर्मनिरपेक्षता के प्रश्नों पर 'हंस' को खास रूप से केन्द्रित किया। साहित्य में यह समय अस्मितामूलक विमर्श के रूप में माना जाने लगा है। इन हाशिएकृत समाज को मुख्यधारा से जुड़ने और साहित्य में इन विमर्शों की पैठ बनाने में 'हंस' की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। स्त्री मुक्ति का प्रश्न आज के दौर में समाज और साहित्य का केंद्रीय मुद्दा है। हिन्दी क्षेत्र में स्त्री मुक्ति और स्त्री स्वतन्त्रता की अनुगूँज सर्वप्रथम पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही देखने को मिलती है। 'हंस' में स्त्री-अस्मिता की आवाज़ को बुलंद किया साथ ही इन मुक्ति स्वरों को हिन्दी चेतना में अनिवार्य रूप में शामिल किया। राजेन्द्र जी को स्त्री मुक्ति के सवाल को इतनी प्रतिबद्धता से उठाने पर यथास्थितिवादियों की आलोचना को भी सहना पड़ा परंतु ये आलोचनाएं राजेन्द्र यादव को विचलित नहीं कर सकीं और राजेन्द्र जी अपनी विशेषता के अनुरूप स्त्री मुद्दों पर बेबाक और विवादित बहसों को जन्म देते रहें। राजेन्द्र यादव ने स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को 'हंस' के माध्यम से विमर्श का मुख्य मुद्दा बनाया और स्त्री विमर्श को एक पुख्ता आधार प्रदान किया।

इस शोध प्रबंध में 'हंस' में प्रकाशित स्त्री मुक्ति केन्द्रित विशेषांकों तथा सामान्य अंकों में स्त्री मुक्ति की वैचारिक बहसों, ज्वलंत समसामयिक मुद्दों को लेखों, संपादकियों, कहानियों, कविताओं, लघुकथाओं से गुजरते हुए स्त्री मुक्ति के समसामयिक सरोकारों को समझने तथा उनके समाधान के लिए प्रयास किया गया है। इस शोध प्रबंध को सुगमता की दृष्टि से और विषयानुरूप छः अध्यायों में विभाजित किया गया है।

पहले अध्याय का शीर्षक है राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व और कृतित्व। इस अध्याय के अंतर्गत राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व, उनके जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला गया है। साहित्यकार के मूल्यों, विचारों

और उनके जीवन संघर्ष को जानने के लिए उनका व्यक्तित्व और कृतित्व आधार प्रदान करते हैं। राजेन्द्र यादव के जीवन अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपनी सीमितता और कमजोरी को अपनी शक्ति बनाकर अपने व्यक्तित्व को निखारा तथा बचपन की एक घटना से प्राप्त अक्षमता की क्षतिपूर्ति राजेन्द्र यादव ने बौद्धिकता से की। अध्याय में उस वातावरण पर संक्षिप्त चर्चा की गयी है, जिस माहौल और मानसिकता के भीतर राजेन्द्र यादव में प्रगतिशील विचारों ने जन्म लिया और उन विचारों को राजेन्द्र यादव ने अपने रचनात्मक लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त किया। राजेन्द्र यादव का जीवन, व्यक्तित्व विकास, कृतित्व एवं कथादृष्टि को दृष्टिपटल पर रखने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है ‘‘हंस’’ परिचय और महत्व। इस अध्याय के अंतर्गत ‘हंस’ परंपरा और ‘हंस’ के तीनों उत्थानों की चर्चा की गयी है। प्रेमचंद युगीन एवं प्रेमचंदोत्तर ‘हंस’ की प्रवृत्तियों, विशेषताओं और भिन्नताओं को भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। प्रेमचंद युगीन ‘हंस’ (मार्च 1930- सितम्बर 1936) का मुख्य स्वर साम्राज्यवादी और सामंती व्यवस्था से मुक्ति का रहा है तो वहीं प्रेमचंदोत्तर ‘हंस’ (अक्टूबर 1936 - अगस्त 1952) में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप आलोचनात्मक प्रवृत्ति का अधिक समावेश हुआ। राजेन्द्र यादव ने 34 वर्षों बाद अगस्त 1986 में ‘हंस’ का पुनर्प्रकाशन किया। यह दौर साहित्यिक पत्रकारिता की दृष्टि से नाजुक दौर रहा था। तमाम महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ या तो बंद हो चुकी थीं या केवल अंतिम साँसों पर जिंदा थी। ऐसे संजीदा समय में ‘हंस’ का पुनर्प्रकाशन का निर्णय अपने आप में बेहद साहसिक कदम था। राजेन्द्र यादव के सम्पादन (अगस्त 1986- नवंबर 2013) में ‘हंस’ की प्रसिद्धि और महत्व को भी इस अध्याय में अभिव्यक्त किया गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है ‘स्त्री विमर्श : विविध आयाम’। इस अध्याय के अंतर्गत विमर्श के अर्थ, स्वरूप को समझते हुए स्त्री विमर्श की वैचारिकी को समझने का प्रयास किया गया है। स्त्री विमर्श की मान्यताओं को प्रबलता से उठाया गया है और पितृसत्ता की क्षीण मानसिकता पर कड़ा

प्रहार किया गया है। स्त्री विमर्श की विभिन्न धाराओं के माध्यम से समय-समय पर स्त्री मुक्ति के लिए उठी वैचारिक बहसों और मांगों को भारतीय और पाश्चात्य परिपेक्ष्यों में स्पष्ट किया गया है। हिन्दी साहित्य में स्त्री वैचारिकी की सकारात्मक दखल को भी अध्ययन का केंद्र बनाया गया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है 'स्त्री मुक्ति का प्रश्न और हिन्दी की समकालीन साहित्यिक पत्रकारिता' इस अध्याय के अंतर्गत स्त्री मुक्ति केन्द्रित 12 प्रमुख पत्रिकाओं का चयन किया गया है। इन चयनित पत्रिकाओं का स्त्री मुक्ति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिन्दी क्षेत्र में स्त्री मुक्ति और स्वतन्त्रता के स्वर सर्वप्रथम हमें पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही देखने को मिलते हैं। इन शुरुआती पत्रिकाओं में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों के प्रति समझौतावादी रवैया ही अपनाया जाता रहा। स्त्री के प्रति परंपरागत दृष्टिकोण जिसमें स्त्री के गृहणी स्वरूप को बरकरार रखते हुए, पितृसत्ता को क्षति पहुंचाएँ बिना ही स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को उठाया गया। भले ही इन अधिकांश पत्रिकाओं ने स्त्री की परंपरागत छवि को बनाए रखते हुए उनकी मुक्ति का मार्ग खोजा परंतु फिर भी इन पत्रिकाओं ने स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन पत्रिकाओं में स्त्री मुक्ति स्वरों की खोज और इन पत्रिकाओं के महत्व को रेखांकित किया गया है।

पंचम अध्याय का शीर्षक है 'स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस'। यह अध्याय इस शोध प्रबंध का मुख्य अध्याय है। राजेन्द्र यादव के संपादनत्व में 'हंस' का हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य के लिए सबसे बड़ा योगदान उसमें प्रकाशित हुए विशेषांक हैं। 'हंस' में विशेषांकों के माध्यम से हाशियेकृत समाज को राजेन्द्र यादव ने एक पुख्ता आधार प्रदान किया। जिससे उनकी सामाजिक यथार्थ स्थिति की खुलकर अभिव्यक्ति हो सकी। राजेन्द्र यादव के नीर-क्षीर 'हंस' विवेक तथा सुक्ष्म पारखी दृष्टि से अस्मितामूलक समाज हाशिये से केंद्र में आया। इस अध्याय के अंतर्गत स्त्री मुक्ति केन्द्रित विशेषांकों की मुक्तिकामी वैचारिक सामग्री पर विशद चर्चा की गयी है। 'हंस' के प्रत्येक सामान्य अंक में भी स्त्री समस्याओं को लेकर अनेक संपादकियों, लेखों, कहानियों, लघुकथाओं, कविताओं को शामिल किया जाता रहा। इस अध्याय में राजेन्द्र यादव के सम्पादनकाल के 'हंस' में से स्त्री मुक्ति केन्द्रित

रचनात्मक लेखन का चयन किया और स्त्री मुक्ति की चेतना के प्रसार के लिए समाज को प्रेरित किया गया। स्त्री अस्मिता के प्रश्नों पर राजेन्द्र यादव ने ‘हंस’ में अपनी चिंताएँ व्यक्त की तथा स्त्री की दारुण यथार्थ स्थिति का गंभीरता से संज्ञान लेते हुए उनकी मुक्ति के लिए नयी दिशा प्रदान की। स्त्री मुक्ति का विषय ‘हंस’ की क्रांतिधर्मिता के केंद्र में था।

षष्ठम अध्याय का शीर्षक है ‘स्त्री मुक्ति के संदर्भ में ‘हंस’ का महत्व और योगदान’। यह अध्याय इस शोध प्रबंध का अंतिम अध्याय है। इस अध्याय में स्त्री मुक्ति के लिए ‘हंस’ के महत्वपूर्ण योगदान का मूल्यांकन किया गया है। आज स्त्री विमर्श ने जो स्वीकृत मुकाम हासिल किया है, उसकी प्राप्ति में ‘हंस’ की खासी भूमिका रही है। ‘हंस’ ने जितनी बेबाकी और पक्षधरता से स्त्री मुद्दों पर मुहीम की शुरुआत की वैसी पहल अन्यत्र किसी पत्रिका में देखने को नहीं मिलती। इस अध्याय में स्त्री मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने में ‘हंस’ की भूमिका को मूल्यांकित किया गया है।

उपसंहार के अंतर्गत पूर्वविवेचित अध्यायों से प्राप्त निष्कर्षों एवं शोधविषय की उपलब्धियों की संक्षेप में चर्चा की गयी है। इसके पश्चात परिशिष्ट के अंतर्गत ‘हंस’ में प्रकाशित स्त्री मुक्ति से संबंधी विभिन्न आयामों को व्यक्त करते चित्रों को संकलित किया गया है और अंत में संदर्भ सूची को सम्मिलित किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को सहर्ष अनुमति प्रदान करने के लिए मैं विभागीय शोध समिति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। मैं अपने शोध-निर्देशक प्रो. आलोक पाण्डेय सर की विशेष रूप से आभारी हूँ। मेरी रुचि के अनुरूप विषय चयन से लेकर, आपने शोध कार्य में उत्पन्न सभी छोटी-छोटी जिज्ञासाओं और आशंकाओं को स्नेहिल एवं सुचिन्तित मार्गनिर्देशन द्वारा हल किया और शोध विषय के संदर्भ में मेरी दृष्टि और समझ विकसित करने में आपकी अहम भूमिका रही है। भविष्य में भी मैं आपके मार्गदर्शन की अभिलाषी रहूँगी।

मेरी शोध सलाहकार समिति के सदस्य प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी सर और डॉ. भीम सर के प्रति भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ, आपने समस्त व्यस्तताओं के चलते भी अपने बहुमूल्य सुझावों और मार्गदर्शन से इस शोध प्रबंध पूरा करने में मेरी सहायता की। साथ ही मैं हिन्दी विभाग के अपने सभी गुरुजनों को भी हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

इस शोध-कार्य की पूर्णता पर मैं अपने माता-पिता, भाई-भाभी और अपने समस्त परिवार के प्रति आभारी हूँ। जिनकी प्रेरणा, प्यार और विश्वास का ही परिणाम है कि मैं यहाँ तक पहुँच सकी हूँ। आप सब ने मुझे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आत्मविश्वास बनाए रखने के लिए प्रेरित किया। यह शोध प्रबंध उसी प्रेरणा और विश्वास का परिणाम है।

मैं 'हंस' परिवार के सदस्यों और मिलिंद प्रकाशन के प्रति भी आभारी हूँ। जहाँ से मुझे आधार सामग्री उपलब्ध हुई और शोध कार्य में सुविधा हुई। शोध-कार्य हेतु मैंने इन्दिरा गांधी मेमोरियल पुस्तकालय (हैदराबाद), केंद्रीय संदर्भ पुस्तकालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), डॉ. बी आर अंबेडकर केंद्रीय पुस्तकालय (जे.एन.यू) और डॉ. जाकिर हुसैन लाइब्रेरी (जामिया मिलिया इस्लामिया) इन विभिन्न विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों का उपयोग किया। इन सभी पुस्तकालयों के कर्मचारियों एवं प्रबंधकों के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। मैं मेरे सभी मित्रों, अग्रजों और अनुजों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनके प्यार, सहयोग, सुझावों से मैं इस शोध प्रबंध को पूरा कर सकी हूँ। अंत में मैं उन सभी के प्रति हृदय से ऋणी हूँ, जिनका प्रत्यक्ष और परोक्ष सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा।

प्रिया कौशिक

प्रथम अध्याय

राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व और कृतित्व

प्रथम अध्याय

राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व और कृतित्व

कथाकार राजेन्द्र यादव स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनका नाम स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में विशेष उल्लेखनीय है। किसी भी साहित्यकार के विचारों, मूल्यों और आदर्शों को सम्पूर्णता में समझने और आत्मसात करने के लिए उसका व्यक्तित्व और कृतित्व आधारभूमि के रूप में काम आते हैं। साहित्यकार के व्यक्तित्व के विषय में जानने के लिए उसके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उसका व्यवहार, उसका स्वभाव, परिस्थितियों से लड़ने की क्षमता आदि के विषय में जानना आवश्यक होता है। अतः कथाकार के साहित्य के मूल में पहुँचने से पहले उनके जीवन में प्रवेश करना अनिवार्य होता है, तभी कथाकार के लेखन को गंभीरता से मूल्यांकित किया जा सकता है। राजेन्द्र यादव हिंदी साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के स्तंभ के रूप में जाने जाते हैं। राजेन्द्र यादव की बेबाकी तथा बेलाग बातों के कारण वे अक्सर सुर्खियों में रहते थे। वे जो भी बोलते थे, वो विवाद का मुद्दा बन जाता था। नियमों में बंधकर रहना न उन्हें पसंद था, न वो कभी बंधकर रहे। उन्होंने बाहरी दबावों से मुक्त होकर, स्वतंत्र रूप में अपने लेखन को प्रमाणिक बनाएं रखने की हमेशा ही कोशिश की है। बात फिक्शन की हो या वैचारिक लेखन की, आलोचना की हो या संपादन कला की राजेन्द्र यादव अपनी अलग पहचान रखते हैं। “उन्होंने साहित्य-सृजन को स्वधर्म के रूप में अपनाया। इसलिए उन्होंने अर्थ, राजनीति आदि को दृष्टि में रखकर समझौते नहीं किए। वे एकमात्र साहित्य के प्रति प्रतिबद्ध बने रहे।”¹

¹ चन्द्रभानु सोनवणे, कथाकार राजेन्द्र यादव, पृ० 9.

1.1 व्यक्तित्व

राजेन्द्र यादव बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। राजेन्द्र यादव की रचनाओं को आत्मसात करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने जीवन की कमजोरी को अपनी ताकत बनाया तथा परिस्थितियों के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को बखूबी निखारा है। साहित्यकार अपना व्यक्तित्व दूसरों के समक्ष अपनी कृतियों के माध्यम से रखता है। राजेन्द्र यादव के जीवनानुभव उनकी रचनाओं के माध्यम से भी देखने को मिलते हैं। उनके ही शब्दों में “कलाकार का व्यक्तित्व, उसका परिचय, उसका विश्वास और उसकी प्रतिबद्धता सभी कुछ उनकी कला होती है।”¹ अपने जीवन में राजेन्द्र यादव ने जो कुछ देखा, सुना, भोगा और अनुभव किया उन सबको अपने लेखन का विषय बनाया। राजेन्द्र यादव ने एक साक्षात्कार के दौरान इस बात को बखूबी स्पष्ट भी किया है। “हमारे जो मनोरंजन के केंद्र थे, वो आसपास ही थे। हमारे यहाँ एक आदमी काम करता था चौकीदार, उनका नाम था परसा, उसकी एक टांग थी, और अंधा था, तो उसका सब मजाक उड़ाते थे, कहते थे कि इसकी बीवी भाग गयी, सच्चाई यह थी कि शायद छोड़ दिया था और वह कहीं से एक लड़की खरीद लाया, बड़ी मॉडर्न सी, तब तो उसके मजाक बनाने का कोई हिसाब ही नहीं रह गया था। तब हमने पहली कविता उस परसा का मजाक उड़ाते हुए लिखी थी।”²

इसी प्रकार अपने बचपन के एक मित्र की कहानी को उपन्यास का कथ्य बनाकर राजेन्द्र यादव ने ‘प्रेत बोलते हैं’ उपन्यास लिखा, जो बाद में ‘सारा आकाश’ नाम से प्रकाशित हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जिन साहित्यकारों ने हिंदी साहित्य भंडार में अभिवृद्धि की है, उनमें राजेन्द्र यादव का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। राजेन्द्र यादव का साहित्य भारतीय समाज की सही तस्वीर तो स्पष्ट करता ही है, साथ-साथ समाज की ऐसी विषम स्थिति के लिए उनमें आक्रोश भी है। वे कोरे प्रगतिवाद नहीं, परिवेश के प्रति संवेदनशील और जागरूक प्रगतिवादी रचनाकार थे। राजेन्द्र यादव

¹ राजेन्द्र यादव, औरों के बहाने, पृ० 134.

² इरफ़ान गुफ़्तगू, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).

के व्यक्तित्व का प्रमुख गुण उनका लेखनीय व्यक्तित्व था। कई चर्चित उपन्यासों और कहानियों के रचयिता राजेन्द्र यादव ने 1986-2013 तक मासिक साहित्यिक पत्रिका 'हंस' का संपादन किया। हिंदी साहित्य संसार में राजेन्द्र यादव प्रसिद्ध कथाकार, चिंतक, आलोचक, संपादक तथा विलक्षण प्रतिभा वाले साहित्यकार रहें। ऐसे में राजेन्द्र यादव जी के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालना मेरी दृष्टि में महत्वपूर्ण है।

सुप्रसिद्ध हिंदी लेखक राजेन्द्र यादव का जन्म 28 अगस्त 1929 को उत्तरप्रदेश में आगरा स्थित राजा मंडी के पुश्तैनी घर में हुआ था। राजेन्द्र यादव का परिवार मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार था। वे अपने पैतृक घर में अपने माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-ताऊ के साथ रहा करते थे। राजेन्द्र यादव जी जिस परिवार में जन्मे-पले थे, उस परिवार का माहौल शैक्षिक था। परिवार का प्रत्येक सदस्य सुशिक्षित था, जिस कारण राजेन्द्र यादव जी को शैक्षिक संस्कार मिले। प्राथमिक शिक्षा सूरीर में ही उर्दू में हुई थी। सूरीर में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे मेरठ भेज दिए गये। वहां राजेन्द्र यादव जी के साथ एक दुर्घटना घट गयी। वे तब लगभग 14 वर्ष के रहे होंगे जब उनकी एक लड़के से हॉकी खेलते समय लड़ाई हो गयी तथा इसी लड़ाई के बीच राजेन्द्र जी की टांग टूट गयी, और वे विकलांग हो गये। इस विकलांगता की क्षतिपूर्ति राजेन्द्र यादव ने बौद्धिकता से की। अपने लेखन की शुरुआत तथा लेखन की प्रेरणा के विषय में उनका कहना था- “मेरे लिखने की शुरुआत कहां से शुरू हुई, ये सोचने पर ये जो मेरे पैर के साथ दुर्घटना हुई, इसने मुझे लिखने की तरफ प्रेरित किया।”¹

उन्होंने बड़ी छोटी सी उम्र में ही विश्व का सबसे बड़ा उपन्यास 'दास्तान-ए-अमीर हमजा' और उर्दू साहित्य की अनेक कहानियां पढ़ीं। उर्दू साहित्य के अनेक किस्सों कहानियों को राजेन्द्र जी ने 'अभिमन्यु की आत्महत्या' कहानी में प्रस्तुत किया। राजेन्द्र जी का बचपन और कैशोर्य अपने ताऊजी के साथ कबूतरबाजी और पतंगबाजी में बीता था। बचपन से ही यादव जी को कथा-

¹ इरफ़ान, गुफ़्तगू, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).

कहानियों सुनने में बेहद रुचि थी, चाहे वो पिताजी द्वारा हो या भिक्खी चाटवाले से। बाल्यावस्था से ही कथा-कहानियों के संस्कार राजेन्द्र जी को मिले। साहित्य के प्रति लगाव उन्हें पैतृक संपत्ति रूप में मिला था।

राजेन्द्र यादव का परिवार मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार था। उनके दादा श्री गोकुलसिंह यादव आगरा कमिश्नरी में बड़े बाबू या हेडक्लर्क की नौकरी करते थे। उस समय में उन्होंने बी.ए तक की पढ़ाई की थी। उनके छः बेटों में मिश्रीलाल चौथे बेटे थे। जो सरकारी डॉक्टर थे। मिश्रीलाल राजेन्द्र यादव के पिता थे, तथा उनकी माता का नाम ताराबाई था। राजेन्द्र यादव अपने भाई-बहनों में सबसे बड़े थे। राजेन्द्र यादव के तीन भाई तथा छः बहने थीं, जिसमें से एक बहन की मृत्यु हो गयी थी, शेष पांच में से दो दिल्ली, दो जयपुर, एक अमेरिका में रहती हैं। दो भाई आगरा में तथा एक फिरोजपुर में स्थायी हैं। राजेन्द्र यादव के पिताजी का साहित्य के प्रति गहरा लगाव था, इसीलिए उन्होंने ‘चंद्रकांता संतति’ पढ़ने के लिए हिंदी सीखी थी। ताराबाई मूलतः मराठी भाषी थी। इन्हें भी पढ़ने का बहुत शौक था। ये कम पढ़ी लिखी थीं, पर पढ़ने की लगन के कारण घर में हिंदी-मराठी की पत्रिका मंगवाती थी। जब राजेन्द्र जी विकलांग हो गये तथा उनका अधिकतर समय बिस्तर पर ही गुजरता था तब ऐसी विषम स्थिति में उनका आत्मविश्वास बनाएं रखने में तथा शक्ति प्रदान करने वाले उनके माँ-बाप ही थे। राजेन्द्र यादव के बिस्तर के पास बैठकर उनके पिताजी घंटों ‘अलिफ़ लैला’, ‘दास्ताने अमीर-हम्जा’ आदि सुनाया करते और ‘चन्द्रकान्ता-संतति’ के किस्से भी उन्होंने पढ़कर राजेन्द्र जी को सुनाएं।

राजेन्द्र यादव सुशिक्षित संयुक्त परिवार में पले। उनके घर में शिक्षा के प्रति अगाध विश्वास था। राजेन्द्र यादव जी के दादाजी बी.ए. तक पढ़े थे, इतना पढ़ना उस समय के लिए बहुत गौरव का विषय था। उनकी पढ़ाई के प्रति अटूट श्रद्धा रही। राजेन्द्र यादव के पिता डॉ. मिश्रीलाल डॉक्टरी के साथ साहित्य में भी रुचि रखते थे। राजेन्द्र यादव की प्रारंभिक शिक्षा सुरीर नामक कस्बे में उर्दू में हुई, प्रेमचंद के समान ही यादव जी पहले उर्दू में पढ़े और बाद में हिंदी में आए। पैर के साथ दुर्घटना

के बाद भी उनकी शिक्षा रुकी नहीं। घर पर ही पिताजी तथा भिखारीलाल से कहानियां सुनते हुए कहानी के प्रति रुचि का प्रथम बीजारोपण हुआ। उनकी मैट्रिक तक की शिक्षा झाँसी में पिता के साथ हुई। छोटी उम्र से ही राजेन्द्र जी को पढ़ने का बहुत शौक था। झाँसी से मैट्रिक होने के बाद यादव जी की आगे की पढ़ाई आगरा में हुई। नागरी प्रचारिणी सेवा हिंदी विशारद, साहित्यरत्न पास करने के बाद आगरा विश्वविद्यालय से बी.ए और एम.ए की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। उन्होंने 16-17 साल की उम्र से ही लिखना शुरू कर दिया था। उनकी पहली उल्लेखित रचना 'खेल-खिलौने' है। 1951 में एम.ए हुई तथा इसी वर्ष ही उनका पहला उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' लिखा गया था। कवि दिनकर की इन काव्य पंक्तियों ने यादव के किशोर मन पर अमिट छाप छोड़ दी "सेनानी, करो प्रयाण अभय, भावी इतिहास तुम्हारा है/ ये नखत अमा के बुझते हैं, सारा आकाश तुम्हारा है।"¹ इन्हीं पंक्तियों से प्रभावित होकर राजेन्द्र यादव ने 'प्रेत बोलते हैं' को बाद में 'सारा आकाश' शीर्षक में परिवर्तित किया। उनका लेखन-कार्य और कॉलेज की पढ़ाई दोनों साथ-साथ चलती रही। एम.ए की उपाधि प्राप्त करने के बाद राजेन्द्र यादव जी कलकत्ते चले गए। उनका मानना था कि लेखक बनने के लिए वहां का वातावरण और समाज महत्वपूर्ण था। वहां उन्होंने चेखव की कहानियां, ओल्गा के खत पढ़ें और सुबह शाम लेखन कार्य किया। वहीं उन्होंने चेखव के 3 नाटकों के अनुवाद भी किए। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' भी कलकत्ते में लिखी। उपाधि से संबंधित पढ़ाई पर तो एम. ए के बाद विराम लग गया, किन्तु उपाधि निरपेक्ष पढ़ाई कभी खंडित नहीं हुई।

राजेन्द्र यादव के सामने आजीविका के दो मार्ग थे। एक मार्ग लेखन से संबंधित था, दूसरा नौकरी की ओर जाता था। राजेन्द्र यादव जी एम.ए प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण थे, वे चाहते तो आसानी से प्राध्यापक की नौकरी कर सकते थे। उन्हें पंडित तिवारी जी ने अपने आगरा कॉलेज के हिंदी विभाग में प्राध्यापक के रूप में रखना चाहते थे, इस अवसर को उन्होंने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था। स्वभाव से स्वाभिमानी होने के कारण यादव जी नौकरी नहीं करने चाहते थे, उन्हें लगता

¹ राजेन्द्र यादव, सारा आकाश, पृ० 3.

था कि नौकरी के कारण उनका लेखन बाध्य होगा। लेखन के विषय में चेखव ने कहा है कि “साहित्य एक ऐसी वैध पत्नी है जो आपसे ईमानदारी की मांग करती है।”¹ राजेन्द्र यादव भी साहित्य लेखन की प्रति पूर्ण समर्पित तथा पूर्ण ईमानदार थे, लेकिन उन्होंने परिस्थितियों से विवश होकर कहीं-कहीं नौकरी की भी, लेकिन ज्यादा दिन कहीं भी नहीं टिक सके। ऐसा नहीं है कि उन्होंने शिक्षण कार्य में रुचि न होने पर शिक्षण कार्य बिलकुल नहीं किया। राजेन्द्र जी ने जिओलॉजिकल सर्वे में हिंदी अध्यापक के रूप में अध्यापन किया था। लेखकों का लगाव अध्यापन से अधिक संपादन में देखने को मिलता है। राजेन्द्र यादव ने ‘प्रगति प्रकाशन’ में कुछ समय तक कार्य किया था। ‘ज्ञानोदय’ में भी उन्होंने तीन बार सहायक संपादक की नौकरी की, लेकिन कुछ ही दिनों बाद त्यागपत्र देकर उससे मुक्त हो गये। यह नौकरी उन्हें अपने मूल्यों और रचनात्मकता के अनुकूल नहीं लगी। उनका कहना था कि जहाँ इच्छा तथा मेरे जीवन मूल्यों के विरुद्ध काम करना पड़ा वहाँ मैं अधिक समय तक नहीं टिक पाया। अपने लेखन के साथ उन्होंने समझौता नहीं होने दिया। राजेन्द्र यादव जी हिंदी में जो लिखा जा रहा था, उससे कुछ अलग लिखना चाहते थे। अपने को वे विशेष मानते थे। कुछ ऐसी घटनाएँ तथा साहित्यकार से संबंधित कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो उनके लेखन को प्रेरित तथा प्रोत्साहित करते हैं। यादवजी के लेखन की प्रेरणा के पीछे, उनका कहना है कि एक प्रेम कथा तथा साहित्य को लेकर उनका अगाध प्रेम था। उनके ही शब्दों में – “निश्चित रूप से एक प्रेम कथा थी जो हमारे साथ चल रही थी, वहाँ हम खुद को साबित करना चाहते थे, इसीलिए लिखते थे। लिखने के लिए हमने ढाई सौ पौने तीन सौ रुपये की लेक्चररशिप छोड़ी थी।”² राजेन्द्र यादव के लिए लेखन सर्वोपरि था, वो इसमें किसी भी प्रकार की बाधा को आने देना नहीं चाहते थे। वे कहते हैं “हम लेखक हैं और हमें स्वतंत्र होकर रहना है

¹ चन्द्रभानु सोनवणे, कथाकार राजेन्द्र यादव, पृ० 18.

² इरफ़ान गुप्तगू, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).

और हमें कोई दवाब नहीं मानना है। इस ‘काम्प्लेक्स’ का मैं मारा हुआ था, इसीलिए नौकरी नहीं की।”¹ लिखना इनके जीवन का मार्ग भी है और मंजिल भी।

इस प्रकार राजेन्द्र यादव की प्राथमिकता में लेखन कार्य रहा, नौकरी के प्रति उनका कभी रुझान नहीं रहा। उन्हें नौकरी साहित्यासाधना के मार्ग में बाधा ही प्रतीत हुई।

राजेन्द्र यादव का विवाह प्रसिद्ध लेखिका मन्नू भंडारी के साथ 1959 को हुआ। राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी लेखन के माध्यम से ही एक दूसरे के निकट आए थे। कलकत्ता के बालीगंज शिक्षा सदन में लाइब्रेरी की सूची तैयार करते समय किताबों के चयन के सिलसिले में मन्नू भंडारी की मुलाकात राजेन्द्र यादव से हुई थी। लेखन दोनों के बीच एक सेतु की तरह था। उन्होंने लिखा है कि- “लिखना, और अधिक अच्छा लिखना का वातावरण बनाने का विश्वास ही हमें निकट लाया था लेकिन....।”² राजेन्द्र यादव ने मन्नू भंडारी को सिर्फ एक प्राध्यापिका ही नहीं एक बहुत अच्छी लेखिका मानकर विवाह किया था। यह एक अंतर्जातीय प्रेमविवाह था। मन्नू के घर वाले इस शादी के खिलाफ थे। इनके विवाह में मन्नू के पिता का ही विरोध था। दोनों की शादी हो गयी, घर दिल्ली में बसाया और दोनों मिल कर लिखने लगे। इसी बीच मन्नू ने पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम ‘रचना’ रखा गया। राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी का उद्देश्य तो एक ही था ‘लेखन’, दोनों का लेखन भी सामान्तर रूप से चलता रहा, लेकिन दोनों के स्वभाव में बहुत असामान्यताएं थी। दोनों की आदतें, रुचि एक दूसरे से बिल्कुल अलग थी। “हमारी रुचियां, आदतें, स्वभाव, रहन-सहन, मनोरंजन सभी कुछ प्रायः एक-दूसरे के विरोधी हैं, लेकिन उन्हें लेकर आज तक शायद ही कभी मतभेद हुआ हो।”³ राजेन्द्र यादव तथा मन्नू भंडारी के मध्य संबंध पति-पत्नी के बाद में, मित्रता के पहले बने। घर गृहस्थी में तो दोनों की कोई खास दिलचस्पी थी ही नहीं- डॉ. चंद्रभानु सोनवणे ठीक ही लिखते हैं- “राजेन्द्र और मन्नू का नाता समस्तरीय मित्रता का नाता पहले है।

¹ इरफ़ान, गुफ्तगू, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).

² राजेन्द्र यादव औरों के बहाने, पृ० 74.

³ राजेन्द्र यादव औरों के बहाने, पृ० 71.

दोनों पति-पत्नी के रूप में साथ रहते हुए, एक दूसरे के व्यक्तित्वों का आदर करते हुए अपनी-अपनी जिंदगी जीते हैं। इसी कारण मन्नू विवाह के बाद भी ‘भंडारी’ बनी रही हैं।”¹

लेखन राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी की मित्रता तथा विवाह का कारण बना था, लेखन विवाह के बाद भी पहले की तरह चलता रहा, परन्तु राजेन्द्र यादव का लेखन मन्नू भंडारी की अपेक्षा ज्यादा रहा, कारण मन्नू भंडारी की नौकरी तथा घर की जिम्मेदारी का बोझ रहा। दोनों ने एक साथ मिलकर एक उपन्यास लिखा- ‘एक इंच मुस्कान’। मन्नू भंडारी ने गृहस्थी को लेखन की अपेक्षा अधिक महत्व दिया, वहीं राजेन्द्र यादव के लिए लेखन पहले है बाद में गृहस्थी।

मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव ने एकमात्र पुत्री को जन्म दिया था। अपने ऊपर एक बाप एवं उसके अधिकारों को कभी हावी नहीं होने दिया। उन्होंने रचना को वैसी ही स्वतंत्रता दी जैसी स्वतंत्रता वो स्वयं बहुत पसंद करते थे। उन्होंने कभी नहीं सोचा कि बच्चा भविष्य की सुरक्षा का साधन है। इस विषय में उनका मत है कि बच्चे सिर्फ सार्थकता दे सकते हैं, सुरक्षा नहीं। अपनी बेटी पर अपने पिता होने के कारण कभी बेवजह दबाव नहीं बनाया। रचना ने भी मन्नू भंडारी तथा राजेन्द्र यादव की तरह ही अन्तर्जातीय विवाह किया था। पैंतीस वर्ष तक दाम्पत्य जीवन निर्वहण करने के बाद राजेन्द्र और मन्नू ने अलग होने का फैसला लिया। अलग होने पर आमतौर पर पति-पत्नी के बीच गहरी खाई आ जाती है, लेकिन राजेन्द्र यादव तथा मन्नू भंडारी अंतिम समय तक अभिन्न मित्र बनकर रहे। राजेन्द्र यादव के विचार थे कि यदि साथ निर्वहण नहीं हो पा रहा है तो अलग रहना ही बेहतर है। इस प्रकार दोनों अलग-अलग रहते हुए भी एक-दूसरे के शुभचिंतक बने रहें।

राजेन्द्र यादव एक बहुप्रतिभा संपन्न साहित्यकार थे। उनके साहित्यिक योगदान के लिए उन्हें अनेकानेक सम्मान प्राप्त हुए, पर पुरस्कारों के पीछे जिस तरह के राजनैतिक प्रपंच काम करते हैं उस

¹ चन्द्रभानु सोनवणे, कथाकार राजेन्द्र यादव, पृ० 19.

पर प्रहार करते हुए यादव जी लिखते हैं “मुझे पुरस्कारों से परहेज नहीं है, वरना खुद पुरस्कार कमेटियों में क्यों रहता? मुझे घृणा है उस राजनीति और तिकड़म से जो इनके पीछे अचानक सक्रिय हो जाती है।”¹ इसी तिकड़म के कारण उन्होंने अनेक पुरस्कार लेने से इंकार कर दिया था। उन्होंने 1994 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा घोषित ‘साहित्य भूषण सम्मान’ लेने से इंकार कर दिया था। इससे साफ़ झलकता है कि राजेन्द्र जी को उन पुरस्कारों और प्रशस्तियों में कतई दिलचस्पी नहीं थी, जो स्वाभिमान और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल हो। राजेन्द्र यादव ने जब बिहार सरकार द्वारा घोषित पुरस्कार स्वीकारा तब उनकी बहुत आलोचना भी हुई, परन्तु पुरस्कार स्वीकारना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि उस समय ‘हंस’ पत्रिका आर्थिक संकट में थी। उन्होंने यह आग्रह भी किया था कि यह पुरस्कार मुझे नहीं, ‘हंस’ के नाम से मिले। पुरस्कार स्वीकारने के पीछे ‘हंस’ पत्रिका चलाने का आर्थिक दबाव था। वे अवसरवादी लेखक नहीं थे। राजेन्द्र जी ने ‘राजेन्द्र शिखर सम्मान’ भी लिया था, परन्तु इसके पीछे भी मित्रों का आग्रह तथा ‘हंस’ को लगातार चलाते रहने की प्रबल इच्छा थी, क्योंकि हंस आर्थिक संकट में तथा बंद होने की कगार पर था। राजेन्द्र यादव ने हिंदी साहित्य को अनेक महत्वपूर्ण व कालजयी कृतियाँ दी हैं। उनके समग्र लेखन के लिए हिंदी साहित्य अकादमी द्वारा उन्हें शलाका सम्मान दिया गया था।

बहुआयामी प्रतिभासंपन्न राजेन्द्र यादव ने हिंदी साहित्य में अपने लेखन के माध्यम से एक अलग पहचान बनाई है। राजेन्द्र यादव ने ‘अक्षर प्रकाशन’ के साथ-साथ ‘हंस’ (1986-2013 तक) के संपादक के रूप में भी ख्याति प्राप्त की। ऐसे सफल लेखक जो हिंदी साहित्य में नियमित रूप से सक्रिय रहें। लेकिन कुछ समय से साँस लेने में तकलीफ होने के कारण उन्होंने 28 अक्टूबर 2013 को दिल्ली के मयूर विहार में अंतिम साँसे ली। राजेन्द्र यादव अपनी बेबाक, बेलाग बातों के लिए जाने जाते हैं। हिंदी साहित्य के क्षेत्र राजेन्द्र यादव ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

¹ राजेन्द्र यादव, कांटे की बात-1 (न लिखने का कारण) पृ० 138.

1.2 कृतित्व

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा-साहित्य की दिशा और दशा को गहराई से समझने के लिए और समाज की विसंगतियों से तालमेल साधने के लिए राजेन्द्र यादव के रचनाक्रम से जुड़ना महत्वपूर्ण होने के साथ अनिवार्य भी हो जाता है। स्वाभिमान और आत्मविश्वास की भावना से ओतप्रोत राजेन्द्र यादव की अपनी एक रचनात्मक दृष्टि है। राजेन्द्र यादव ने लिखना तब से शुरू किया जब वे छात्र थे, तभी से उन्होंने लेखन को गंभीरता से लिया था। बचपन में जो उनके पैर के साथ जो हादसा हुआ था जिसके कारण वे चल-फिर नहीं पाते थे। उनका पैर तख्ते से बंधा हुआ रहता था। उनका कहना है- “जब आप बहुत बंधे रहते हैं, और सीमाओं में दबे रहते हैं, तो आपकी कल्पना शक्ति बहुत तेज होती है। आप उस यथार्थ की स्थिति को कल्पना शक्ति से पार करना चाहते हैं। मेरी शुरू से मानसिकता रही है, जो सीमाएं और जो बाधाएं मुझे दे दी गयी हैं, मैं उनके पार जाऊं, लेखन के माध्यम से कल्पना में उनके पास जाता था।”¹ राजेन्द्र जी ने अपने आपको लेखन के प्रति समर्पित करके अपनी इस कमी को भर लिया था। राजेन्द्र जी चारपाई पर बैठे रहते और उनके पिताजी पास कुर्सी पर बैठकर ‘अलिफ़ लैला’, ‘दस्ताने अमीर हम्जा’, चंद्रकांता संतति इत्यादि सुनाया करते थे। राजेन्द्र यादव को चाट वाले (जिनका नाम भिक्खी चाटवाले था) उनसे रोज कहानी सुनना बहुत पसंद था। इस प्रकार कथा-कहानियों के संस्कार उनके मन पर बचपन से ही थे। साहित्य रुचि के संस्कार उन्हें विरासत में ही मिले थे। उन्होंने कथा-साहित्य के इन्हीं संस्कारों को आधार बनाकर ‘देवगिरि’ को केंद्र बनाकर एक उपन्यास लिखा, यह उपन्यास एक अनगढ़ प्रयास मात्र था। उनका अपने लेखन के बारे में कहना था- “मेरा रचना संसार चोरी के माल की नुमाइश है। मेरा मतलब है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, वह सब दूसरों का है। दूसरों की भावनाएं हैं, जिन्हें मैंने उन्हें बिना बताए उन सबके भीतर घुसकर ले लीं और अपना बना लिया। एक किताब के रूप में, एक उपन्यास की शक्ल में, कहानी की शक्ल में और फिर लोगों को आमंत्रित किया कि वे आये

¹इरफ़ान, गुफ्तगू, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).

और इस नुमाइश को देखें”¹ कॉलेज शिक्षा के साथ-साथ उनके लेखकीय व्यक्तित्व की नींव मजबूत हो गयी थी। लिखने के क्रम में कुछ अप्रकाशित साहित्य भी उनके पास रखा हुआ है। राजेन्द्र जी के शुरूआती लेखन पर काल्पनिक, तिलिस्मी, जादुई कथा-कहानियों का प्रभाव रहा है। इनके शुरू के तीन उपन्यास जो रोमांटिक नॉवेल थे। जिसके विषय में राजेन्द्र जी लिखते हैं- “मुझे याद है कि अपनी पहली रचना लिखने से पहले मैं लगभग साढ़े तीन हजार पृष्ठ लिख चुका था। तीन उपन्यास मेरे पास आज भी हैं, पूरे हैं, पर निहायत रोमांटिक, घटिया नॉवेल हैं। हो सकता है एक-आध पर मेहनत करने पर कोई अच्छी चीज़ तैयार हो जाए। रोमांटिक ही सही पर मैं उसे अभ्यास का हिस्सा ही माने हुए हूँ।”²

उनकी पहली कहानी ‘प्रतिहिंसा’ प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका ‘कर्मयोगी’ में मई 1947 में प्रकाशित हुई थी। उनकी पहले उल्लेखनीय रचना ‘खेल-खिलौने’ है। उनका पहला कहानी संग्रह ‘रेखाएं, लहरें और परछाईयां’ तथा दूसरा ‘देवताओं की मूर्तियाँ’ प्रकाशित हुआ। राजेन्द्र यादव का उपन्यास साहित्य भी हिंदी साहित्य जगत में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ‘प्रेत बोलते हैं’ उनका पहला उपन्यास है। बाद में उसका नाम बदल कर ‘सारा आकाश’ रखा गया। फिर इसी नाम से बासु चटर्जी ने 1969 में फिल्म तैयार की थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रगतिवादी चिंतनधारा अपनाते हुए उन्होंने भारतीय जीवन के मध्यवर्गीय समाज का चित्रण किया है। अपने जीवन में यादव जी जिन अनुभवों को आत्मसात किया उन्हें अपने उपन्यासों में समाहित करने की कोशिश की। ‘उखड़े हुए लोग’, ‘एक इंच मुस्कान’ तथा ‘एक था शैलेन्द्र’ इसके उदाहरण हैं। राजेन्द्र यादव ने उपन्यास, कहानी, नाटक, इन्टरव्यू, अनुवाद, संपादकीय आदि रूप में प्रचुर मात्रा में लेखन किया है। फिर भी वे अपने लेखन से हमेशा असंतुष्ट ही रहते थे। उनके ही कथन में- “मैं बेसिकल्ली अपने आप से बहुत असंतुष्ट व्यक्ति हूँ। असंतुष्ट इस अर्थ में कि मैंने कहानियां लिखीं।

¹ राजेन्द्र यादव मेरे साक्षात्कार, पृ० 38.

² राजेन्द्र यादव मेरे साक्षात्कार, पृ० 125.

लेकिन उनसे मुझे लगा कि हम ऐसे डेड-एंड पर पहुँच गए हैं कि कहानी में इसके आगे कोई रास्ता नहीं है। ये तब लगा जब व्यक्ति की कहानियां लिखते-लिखते हमें लगा अब हम नहीं लिख पाएंगे। ये मेरे भीतर के रचनाकार का धीरे धीरे मरना कहिए, रचनात्मकता का सूखना कहिए, उसकी प्रक्रिया थी।”¹ राजेन्द्र यादव ने अपने लेखन का बड़े ही तटस्थ भाव से मूल्यांकन किया है। उनका लेखन युगीन परिवेश और अंतश्चेतना की टकराहट का जीवंत रूप है। राजेन्द्र यादव ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं पर लिखा है। आत्मकथा के विषय में उनका कहना है:- “एक तो मेरी याददाश्त अच्छी नहीं है। दूसरे मैं अज्ञेय के इस कथन से सहमत हूँ कि जब मुझे झूठ लिखना होगा तो आत्मकथा लिखूंगा और सच लिखना होगा तो उपन्यास और कहानियां।”² राजेन्द्र यादव ने विपुल कथा-साहित्य, अनुवाद संपादन कार्य किया था जो निम्नवत है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यास हिंदी साहित्य जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रगतिवादी विचारधारा को अपनाते हुए उन्होंने भारतीय समाज के मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियों और समस्याओं का चित्रण किया है। राजेन्द्र यादव ने अधिकतर उपन्यासों के माध्यम से मध्यवर्ग को उसकी शक्ति एवं सीमाओं के साथ उपस्थित किया है। मध्यम वर्ग में पारिवारिक तथा व्यक्ति स्तर पर होने वाले बिखराव को उन्होंने बखूबी चित्रित किया है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक जैसी समकालीन समस्याओं का चित्रण इनके कथा साहित्य की मुख्य विशेषताएं हैं। राजेन्द्र जी के उपन्यास जीवन की ऐसी यथार्थ स्थितियों से हमारा आमना सामना करवाते हैं जिनसे हम अक्सर विमुख रहते हैं। इनके प्रकाशित उपन्यास निम्नवत हैं :-

1. प्रेत बोलते हैं (सारा आकाश का मूलरूप), प्रथम संस्करण सन् 1951
2. उखड़े हुए लोग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1956
3. कुलटा, मसिजीवी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1958

¹ इरफ़ान, गुप्तगू, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).

² राजेन्द्र यादव, मेरे साक्षात्कार, पृ० 246.

4. शह और मात, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1959
5. सारा आकाश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1960
6. एक इंच मुस्कान, राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1963
7. अनदेखे अनजान पुल, राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1963
8. मन्त्रविद्ध, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1967
9. एक था शैलेन्द्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2006

हिंदी कहानी जगत में राजेन्द्र यादव का योगदान अतुल्य है। राजेन्द्र यादव 1950 की पीढ़ी के उन कथाकारों में शुमार हैं, जिन्होंने नयी कहानी को एक अलग पहचान दिलाने में सराहनीय भूमिका अदा की थी। नयी कहानी के क्षेत्र में राजेन्द्र जी का विशिष्ट स्थान है। उनकी कहानियां आधुनिक भावबोध की चेतना से समन्वित तथा समकालीन यथार्थ को उजागर करने वाली हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ एवं जीवन मूल्यों को व्यापक मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया है। राजेन्द्र यादव की कहानियां संवेदनशील व्यक्ति के मन को भीतर तक कचौटती रही हैं। वहीं वे कहानियां परिवेश की यथार्थ चेतना के विभिन्न पक्षों को पाठक के सम्मुख रखती हैं। नई कहानी के प्रमुख सूत्रधारों में से राजेन्द्र यादव ने अपनी कहानियों में व्यक्ति और परिवेश की उपेक्षा नहीं होने दी। राजेन्द्र यादव की परिवेश बोध के प्रति विकसित चेतना और जीवनानुभव से लिखी कहानियां पाठक को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। उनकी कहानियां निम्नलिखित संग्रहों में संकलित हैं :-

1. रेखाएं, लहरें और परछाईयां, प्रथम संस्करण सन् 1949
2. देवताओं की मूर्तियां, आलोक प्रकाशन, बीकानेर प्रथम संस्करण सन् 1951
3. खेल-खिलौने, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1953
4. जहाँ लक्ष्मी कैद है, राजकमल नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1957
5. अभिमन्यु की आत्महत्या, प्रथम संस्करण सन् 1959

6. छोटे-छोटे ताजमहल, राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1961
7. किनारे से किनारे तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1962
8. टूटना तथा अन्य कहानियां, प्रथम संस्करण सन् 1966
9. ढोल और अपने पार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1986
10. चौखटे तोड़ते त्रिकोण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1987
11. वहां तक पहुँचने की दौड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1991
12. हासिल और अन्य कहानियां, श्रेष्ठ कहानियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2006

चयनित प्रमुख कहानियां

1. प्रतिनिधि कहानियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985
2. समग्र कहानियां- यहां तक : पड़ाव 1, पड़ाव 2, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989
3. श्रेष्ठ कहानियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.
4. मेरी प्रेम कहानियां, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980
5. मेरी प्रिय कहानियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
6. कथायात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
7. दस प्रतिनिधि कहानियां, किताबघर, नई दिल्ली
8. संकलित कहानियां, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2008
9. है ये वो आतिश गालिब, (प्रेम कहानियां), आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 2009

राजेन्द्र यादव ने केवल कथा साहित्य ही नहीं, कविता के क्षेत्र में भी अपना हाथ आजमाया है, परन्तु कविता के क्षेत्र में उनकी अधिक रुचि नहीं थी। यही कारण है कि राजेन्द्र जी अपने विचारों को जितने सशक्त रूप में हिंदी साहित्य की गद्य विधाओं या अन्य गद्य विधाओं में अभिव्यक्त करते

रहें , उतना कविता के माध्यम से न कर सकें। इसी कारण उनका केवल एक ही संग्रह प्रकाशित हुआ।

- आवाज़ तेरी है, प्रथम संस्करण सन् 1960

राजेन्द्र यादव ने संक्षिप्त तथा पुस्तकाकार समीक्षाएं भी की हैं। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक रचनाओं के माध्यम से पाठकों से सीधे संपर्क स्थापित किया है। उन्होंने उपन्यास, कहानी, संस्मरण, स्त्री-विमर्श आदि विषयों को अपनी समीक्षा का विषय बनाया। उनकी समीक्षात्मक पुस्तकें काफी लोकप्रिय भी हुई हैं। उन्होंने निम्न आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे हैं:-

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1960
2. प्रेमचंद की विरासत, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1978
3. औरों के बहाने, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1981
4. अठारह उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण सन् 2008
5. कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1996
6. उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1998
7. आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2001
8. वे देवता नहीं हैं, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2001
9. मुड़-मुड़ के देखता हूँ (आत्मकथ्य), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2001
10. काश मैं राष्ट्रवादी होता, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2008
11. वह सुबह कभी तो आएगी, अरु पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 2009

राजेन्द्र यादव ने अनुवाद कार्य में भी अपनी दक्षता को साबित किया है। नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करके उन्होंने हिंदी साहित्य को विस्तृत किया है। स्वतंत्र लेखन के साथ-

साथ अनुवाद कार्य में भी उनकी रुचि थी। चेखव के नाटकों का अनुवाद उन्होंने कलकत्ते में किया था उनकी अनुदित रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

उपन्यास

1. टक्कर – मूल लेखक चेखव
2. प्रथम प्रेम – मूल लेखक तुर्गनिव
3. हमारे युग का एक नायक- मूल लेखक लर्नन्तोव
4. वसंत- मूल लेखक तुर्गनिव
5. अजनबी- मूल लेखक कामू
6. एक मछुवा- एक मोती- मूल लेखक स्टाइन बैक
7. संत सर्गीयस- मूल लेखक टालस्टॉय

नाटक

1. सीगल- मूल लेखक चेखव
2. तीन बहनें- मूल लेखक चेखव
3. चेरी का बगीचा- मूल लेखक चेखव, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.

प्रकाशन के साथ-साथ राजेन्द्र यादव ने संपादन कार्य भी किया था। जिन्दगी में कितने भी उतार-चढ़ाव आये हों, उन्होंने लेखन कार्य कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने 1986 से 'हंस' पत्रिका का संपादन किया तथा 'हंस' के माध्यम से अपने समकालीन तथा नवलेखकों को प्रकाश में लाने का काम भी किया। उनके द्वारा किया गया संपादन कार्य इस प्रकार है:-

1. कथा यात्रा, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1965
2. एक दुनिया समानांतर, अक्षर प्रकाशन, नयी दिल्ली, सन् 1967
3. कथा-दशक : हिंदी कहानियाँ, हिंदी अकादमी, दिल्ली, सन् 1990

4. मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1994
5. आत्मतर्पण, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1994
6. अभी दिल्ली दूर है, प्रवीण प्रकाशन, नयी दिल्ली, सन् 1995
7. काली सुखियाँ (अश्वेत कहानी संग्रह), प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1995
8. अतीत होती सदी और औरत का भविष्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2000
9. औरत : उत्तर कथा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, सन् 2001
10. देहरी भई विदेश, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2005
11. कथा-जगत की बागी मुस्लिम औरतें, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, सन् 2006
12. अब वे वहां नहीं रहते, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2006
13. जवाब दो विक्रमादित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2007
14. वक्त है एक ब्रेक का, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2007
15. पितृसत्ता के नए रूप, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2008
16. यातना संघर्ष और स्वप्न, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2010

1.3 अक्षर प्रकाशन

राजेन्द्र यादव विस्तृत साहित्य सृजन करने के बावजूद भी खुद से कभी संतुष्ट नहीं रहे। साहित्यकार जब खुद से संतुष्ट हो जाएँ या उसे लगे कि वो आगे और नहीं लिख सकता तब उसके भीतर के रचनाकार के विकास में बाधा आनी शुरू हो जाती है। राजेन्द्र यादव हमेशा खुद से असंतुष्ट व्यक्ति रहे। प्रत्येक लेखक की इच्छा होती है कि खुद उसका अपना एक ‘प्रकाशन’ हो जिससे उसे अपनी तथा अन्य नव लेखकों की रचनाओं को प्रकाश में लाने का अवसर प्राप्त हो। राजेन्द्र यादव जी ने पढ़ाई पूरी करने के बाद भी नौकरी नहीं की थी, क्योंकि वो अपने लेखन के साथ किसी भी तरह का समझौता करने को तैयार नहीं थे। ऐसे में साहित्यकार के लिए लिखना उतना मुश्किल काम नहीं होता जितना टेढ़ी खीर लिखे हुए को प्रकाशित करना है। प्रत्येक व्यक्ति प्रकाशक नहीं बन सकता। वर्तमान प्रकाशक कैसे लेखकों का शोषण करते हैं, उनके आत्मसम्मान को कुचल देते हैं, यह उन्होंने अपने और अपने निकटवर्ती साहित्यकारों के अनुभव से जाना था। जब वे कलकत्ते से दिल्ली में आकर बस गये तब उन्होंने पहला महत्वपूर्ण कार्य किया- 1968 में ‘अक्षर प्रकाशन’ की स्थापना। राजेन्द्र यादव अपना सारा पैसा, पुस्तकें सब कुछ ‘अक्षर प्रकाशन’ में लगा चुके थे। प्रारंभिक प्रकाशन के दौर में राजेन्द्र जी को अक्षर प्रकाशन से कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ था। उन्होंने कहा था- “अगर मन्नू की नौकरी यहाँ नहीं होती तो मैं इसे तीसरे साल बंद करके चला गया होता। मुझे आश्वासन था कि जब मैं घर लौटूंगा तो मुझे खाना जरूर मिल जाएगा, इसलिए मैं इसे चला सका।”¹ आर्थिक लाभ न होने पर भी अक्षर का प्रकाशन होता रहा। राजेन्द्र यादव बगैर किसी ट्रस्ट या संस्था की सहायता के प्रकाशन चलते रहे। राजेन्द्र यादव न तो पूंजीपति थे, और न ही उनके पास अर्थोपार्जन के अन्य कोई और विकल्प, जिसके परिणामस्वरूप ‘अक्षर प्रकाशन’ आर्थिक कठिनाइयों से जूझता रहा। इसके बावजूद उन्होंने लेखन एवं प्रकाशन के आदर्शों और मूल्यों के साथ कभी समझौता नहीं किया, बल्कि उन्होंने ‘अक्षर प्रकाशन’ के माध्यम

¹ राजेन्द्र यादव, मेरे साक्षात्कार, पृ० 63.

से उन मूल्यों को मूर्त रखने की पूरी कोशिश की थी। इसका प्रकाशन राजेन्द्र जी ने लेखकों के शोषण की समस्या को केंद्र में रखकर किया।

1.4 'हंस'

प्रत्येक पत्रिका अपने समकालीन आन्दोलनों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक और धार्मिक परिवर्तनों से निरपेक्ष नहीं रह सकती। साहित्यिक पत्रिका पर तो यह नियम और भी गंभीरता से लागू होता है। 'हंस' पत्रिका का प्रकाशन सन् 1930 को प्रेमचन्द द्वारा किया गया था। 'हंस' का श्रीगणेश स्वाधीनता के उद्देश्य से हुआ था। विचारशून्य और भावशून्य समाज बंजर ज़मीन के समान समझा जाता है, ऐसी ज़मीन से कुछ सार्थक उपजने की सिर्फ कल्पना की जा सकती है। ऐसी बंजर ज़मीन को सरस और उपजाऊ बनाने का काम स्वतन्त्रतापूर्व काल में 'हंस' ने किया था। प्रेमचन्द ने सदैव साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली मशाल माना। 'हंस' पत्रिका का पुनर्प्रकाशन कथाकार राजेन्द्र यादव के संपादन में 31 जुलाई 1986 को हुआ था। प्रेमचन्द के 34 वर्षों के बाद 'हंस' का पुनर्प्रकाशन हिंदी साहित्य जगत और साहित्यिक पत्रकारिता के लिए महत्वपूर्ण परिघटना और गौरव की बात थी। हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में 'हंस' का सराहनीय योगदान रहा है। 'हंस' के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने सभी के लिए एक रचनात्मक तथा लोकतान्त्रिक मंच प्रदान किया। 'हंस' के जरिए राजेन्द्र जी ने ज्वलंत मुद्दों को अपने संपादकीय 'मेरी तेरी उसकी बात', 'कांटे की बात', 'बीच बहस' में बार बार उठाया। कई नए लेखकों की ख्याति 'हंस' के साथ जुड़ी है। राजेन्द्र यादव के नेतृत्व में 'हंस' ने सदैव समसामयिक विषयों को विमर्श का मुद्दा बनाया। राजेन्द्र यादव के नेतृत्व में 'हंस' अपने आप में एक आन्दोलन था। 'हंस' ने साहित्यिक मुद्दों, बहसों, कहानियों, आलोचनाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य से लेकर पूरे देश के राजनीतिक विमर्शों को नई दिशा, नया मार्ग प्रेषित किया। स्त्री की स्वतंत्रता के लिए राजेन्द्र जी ने सराहनीय पहल की। हंस ने स्त्री-अस्मिता की आवाज़ को बुलंद किया तथा उसे हिंदी चेतना में अनिवार्य रूप से शामिल किया, यह राजेन्द्र जी तथा हंस की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। संपादक के रूप में राजेन्द्र यादव ने बहुत सफलता हासिल की है। अपने जीवन के आखिरी समय तक (1986-2013) यादव जी हंस के साथ जुड़े रहें। राजेन्द्र जी की सारी ऊर्जा, सारी शक्ति या कहें सारी क्षमता

‘हंस’ में जाकर सिमट गयी थी। राजेन्द्र यादव जी एक साथ सफल कथाकार, सफल उपन्यासकार, सफल आलोचक एवं सफल संपादक रहें। इस दृष्टि से राजेन्द्र यादव जी एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। अतः ‘हंस’ के संपादक राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा उनके संपादनत्व पर प्रकाश डालना इस शोध विषय को सूक्ष्मता से समझने के लिए अत्यंत आवश्यक रहा तभी ‘हंस’ के प्रति उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को समझना संभव हो सका।

द्वितीय अध्याय
‘हंस’ परिचय और महत्व

द्वितीय अध्याय

‘हंस’ परिचय और महत्व

2.1 ‘हंस’ परिचय

पृष्ठभूमि :-

‘उदंत मार्तंड’ के प्रकाशन काल से लेकर ‘हंस’ के प्रकाशन काल तक हिंदी पत्रकारिता में बहुत परिवर्तन आए। इस लंबी अवधि के दौरान हिंदी पत्रकारिता ने लगातार अपने स्वरूप को बदला है। स्वतन्त्रतापूर्व हिंदी पत्रकारिता का मुख्य स्वर अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन से देश की मुक्ति के लिए किये गये संघर्ष का है। राष्ट्रवादी चेतना और समाज में शोषण के विरुद्ध लोगों को जागरूक करने के लिए भारतेन्दु ने साहित्य को पत्रकारिता का प्रमुख विषय बनाया। यहाँ से हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता का शुभारंभ माना जा सकता है। इसके बाद इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की ‘सरस्वती’ पत्रिका ने किया। सरस्वती ने परवर्ती साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए उर्वर जमीन तैयार की। इसी क्रम में प्रेमचंद ने समय की आवश्यकता को पहचानते, समझते हुए प्रगतिशील विचारों वाले साहित्य को मंच प्रदान करने के लिए ‘हंस’ का आरंभ किया।

2.1.1 प्रथम उत्थान : प्रेमचंद द्वारा सम्पादित ‘हंस’ (मार्च 1930-सितंबर 1936)

प्रेमचंद ने मार्च 1930 से सितंबर 1936 तक ‘हंस’ का प्रकाशन किया। जिस समय प्रेमचंद ने ‘हंस’ की शुरुआत की, वह समय विविध परिपेक्ष्यों से हिंदी साहित्य और भारतीय समाज को क्रांति के लिए प्रेरित करने का समय था। विचारशून्य और भावशून्य समाज उस बंजर भूमि की तरह ही अर्थहीन होता है, जिससे हमें कुछ भी सार्थक प्राप्त नहीं होता। उस बंजर भूमि को उपजाऊ और सरस बनाने में स्वतन्त्रतापूर्व काल में ‘हंस’ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। समस्त भारतीय समाज स्वतंत्रता के लिए बेचैन था, तथा मुक्ति को पाने के लिए, आत्मगौरव की चेतना से भरा हुआ था।

प्रेमचंद ने एक जागरूक नागरिक होने के नाते भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले अहिंसामूलक आन्दोलनों में 'हंस' के माध्यम से सक्रिय भूमिका निभाई। प्रेमचंद उस समय एक ऐसी पत्रिका की जरूरत महसूस के रहे थे, जो राष्ट्रवादी आन्दोलन के विचारों का प्रतिनिधित्व करे तथा जनमत निर्माण कर सके। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में प्रेमचंद संपादित 'हंस' का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेमचंद के संपादकत्व में यह पत्रिका हिंदी की प्रगति में अत्यंत सहायक सिद्ध हुई है। यह पत्रिका अंग्रेजों के खिलाफ बुद्धिजीवियों का हथियार थी। 'हंस' का जन्म भी स्वतंत्रता के उद्देश्य से प्रेरित था। 'हंस' के जन्म के विषय में डॉ. रत्नाकर पाण्डेय कहते हैं- "जिस समय 'हंस' का जन्म हुआ वह युग अनेक दृष्टियों से हिंदी साहित्य और भारतीय जनजीवन में क्रांति-निर्माण का युग था। देश की पराधीनता विच्छिन्न करने के लिए सारा भारतीय समाज करवट पर करवट ले रहा था। पहले से जन-क्रांति का आवाहन तिलक, गोखले, मालवीय जी आदि की वाणी द्वारा उद्धोषित हो चुका था।....उस क्रांतिकारी के आवाहन से जागृत भारतीय जनता की आत्मा में जिस मुक्ति आन्दोलन का शुभारंभ हुआ, शायद विश्व इतिहास में उसका सानी न मिल पाये। मिट्टी का दीप प्रगतिशील हाथों में लेकर जन-क्रांति का साहित्य देने के निमित्त 'हंस' का जन्म हुआ।"¹ प्रेमचंद के संपादन काल में 'हंस' का मुख्य स्वर साम्राज्यवादी शासन और सामंती व्यवस्था से मुक्ति पर केन्द्रित रहा। 'हंस' के माध्यम से प्रेमचंद प्रत्येक माह में क्रांतिकारी रचनाएं पाठक तक प्रेषित करते रहें। 'हंस' के प्रथम अंक के संपादकीय में प्रेमचंद की स्वतंत्रता प्राप्ति, और सामंती व्यवस्था के विरोध की धारणा और पक्षधरता को स्पष्ट देखा जा सकता है:- “ 'हंस' के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि इसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नए युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी। बहुत छोटी-छोटी तुच्छ विजयों पर बड़ी-बड़ी शानदार यादगारें बन चुकी हैं। इस महान विजय की यादगार हम

¹ डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, पत्रकार प्रेमचंद और हंस, पृष्ठ सं.- 101.

क्या और कैसे बनाएँगे, यह तो भविष्य की बात है; पर यह विजय ऐसी विजय है, जिसकी नजीर संसार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी।”¹ इस पत्रिका को प्रकाशित करके प्रेमचंद जी ने देशवासियों को देश की दयनीय स्थिति से अवगत तो कराया ही साथ ही साथ उन्हें क्रांति के लिए प्रेरित भी किया। ‘हंस’ के प्रथम अंक में उसे विविध विषयों संपन्न कहानियों का मासिक पत्र घोषित किया गया है। प्रेमचंद के ‘हंस’ संपादन काल में सदैव स्वयं प्रेमचंद द्वारा तथा प्रमुख लेखकों द्वारा भारतीय स्वतंत्रता के लिए प्रेरक सन्देश लिखे गये। अपनी दूरदर्शी और मानवतावादी दृष्टि के तहत प्रेमचंद ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए सामंती-पूँजीवादी सत्ता के गठजोड़ और उसमें व्याप्त पाखंड, भ्रष्टाचार, शोषण, अमानवीय मूल्यों के विरुद्ध जमकर अपनी कलम चलाई। इसका मूल उद्देश्य देश की विभिन्न सामाजिक और राजनैतिक विसंगतियों पर सूक्ष्म अध्ययन करना तथा देश की जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध जागृत करना था। ‘हंस’ में अंग्रेजी सरकार के प्रत्येक कुकृत्यों की जमकर आलोचना होती थी।

प्रेमचंद का “क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं”? बेहद महत्वपूर्ण लेख है, जो जनवरी 1934 के ‘हंस’ में प्रकाशित हुआ था। प्रेमचंद ने इस लेख में उन राष्ट्रवादियों पर तंज कसा है जो खुद को राष्ट्रवादी कहते हैं। राष्ट्रीयता पर लंबे-लंबे लेख लिखते हैं, पर खुद जात-पात की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं। राष्ट्रवाद देशप्रेम जैसी स्वाभाविक भावना का राजनैतिक रूप माना जाता है। राष्ट्रप्रेमी के भीतर जाति-भेद का अंधकार छाया नहीं हो सकता। वे लिखते हैं – “हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को, पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू-जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टंकेपंथी दल हैं, जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा है और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्य-भाव का दृढ़ होना। इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती जब तक यहाँ

¹ सं. प्रेमचंद, ‘हंस’- (प्रथमांक) मार्च 1930, पृष्ठ सं.- 63-64.

एक दल, समाज की भक्ति, श्रद्धा, अज्ञान और अंधविश्वास से अपना उल्लू सीधा करने के लिए बना रहेगा, तब तक हिन्दू समाज कभी सचेत न होगा, और यह दल दस-पांच लाख व्यक्तियों का नहीं है, असंख्य है।”¹ भारतीय साहित्यकारों के हृदय में निरंतर राष्ट्रीय भावना को सजग गति से स्थापित करने में ‘हंस’ का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

प्रेमचंद ने ‘हंस’ के माध्यम से भारतीय मध्यवर्गीय, ग्रामीण जीवन से जुड़ी विषम परिस्थितियों को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया। समकालीन यथार्थ को विश्लेषित कर भारतीय जनता को स्वतंत्रता के लिए प्रेरित किया। पत्रकार के रूप में प्रेमचंद का प्रभाव समाज के सभी स्तरों पर देखने को मिलता है। प्रेमचंद ने ‘हंस’ के जरिए समाज की आकांक्षा और अतृप्त इच्छाओं को पूरा करने के लिए अथक प्रयत्न किये।

‘हंस’ के विशेषांकों का हिंदी पत्रकारिता और साहित्य में अतुल्य योगदान रहा है। प्रेमचंद के संपादन में आत्मकथांक विशेषांक, काशी अंक, द्विवेदी अभिनन्दन अंक, स्वदेशांक, भारतेंदु अंक, शान्ति अंक, प्रगति अंक, शीर्षकों से प्रकाशित हुए इन अंकों में बहुत महत्वपूर्ण सामग्री शामिल है। ‘हंस’ में भारतीय भाषाओं और विदेशी भाषाओं की अनुदित महत्वपूर्ण रचनाओं को भी स्थान मिला है। कहानी, समालोचना, एकांकी, नाटक, अनुदित नाटक, कविताएं, अनुदित कहानियां आदि सुस्पष्ट और सरल शैली में ‘हंस’ में प्रकाशित हुई जिसने हिंदी साहित्य को नई दिशा प्रदान की। हिंदी कथा साहित्य की यह प्रमुख साहित्यिक मासिक पत्रिका बनी। इसमें प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार, उपेन्द्र नागर अशक, भगवतीचरण वर्मा, प्रसाद, सुभद्राकुमारी चौहान, अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भुवनेश्वर अंचल आदि प्रमुख साहित्यकारों की रचनाएँ नियमित रूप में ‘हंस’ में प्रकाशित होती रही। रामचंद्र शुक्ल ने भी ‘हंस’ पत्रिका के अंकों में अपनी रचनाएँ लिखी हैं। प्रेमचंद ने नए लेखकों और उनकी प्रतिभाओं को भी प्रोत्साहित किया और उनकी रचनाओं को ‘हंस’ में स्थान दिया। प्रेमचंद ने आत्म-चेतना और जन-जागृति के यथार्थ एवं आदर्श को एक सा

¹ <http://tehelkahindi.com/are-we-really-nationalist-a-relevant-essay-by-munshi-premchand/>

लेख- क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं? पब्लिश दिनांक- 11 मार्च 2016

महत्व दिया और फिर परिवेशगत आवश्यकताओं के अनुकूल उसे समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। प्रेमचंद ने मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलयालम, बंगला, गुजराती और उर्दू भारतीय भाषाओं की सामग्री 'हंस' में प्रकाशित कर जनचेतना का व्यापक स्वरूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

प्रेमचंद ने एक समर्पित साहित्यकार और पत्रकार दोनों का दायित्व निभाते हुए, साहित्य के अतिरिक्त राजनीति, धर्म, राष्ट्र और सामाजिक मुद्दों पर 'हंस' के माध्यम से वैचारिक लड़ाई लड़ी। 'हंस' को प्रेमचंद ने विशुद्ध साहित्यिक राष्ट्रीयता का मुख पत्र बना दिया था। प्रेमचंद ने गाँधी जी की 'डांडी-यात्रा' के दौरान अपनी प्रखर लेखनी से राष्ट्रीयता और प्रगतिशील विचारों को अबाध गति से प्रवाहित किया। नौकरशाही पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है कि:- “जैसे बच्चे हार जाते हैं तो दांत काटने लगते हैं वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर गोलियों और डंडों की बौछार होती है, कहीं फूट डालने की कोशिश हो रही है..... न कोई कानून है, न कोई नीति और न धर्म। बस जिधर देखिए लबड़-धों-धों घबराए हुए आदमी की बौखलाहट।”¹

प्रेमचंद ने जब तक संपादन किया तब तक हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या हो, किसानों-मजदूर की उपेक्षा का प्रश्न हो, समाज के पिछड़ा वर्ग के अस्तित्व की पहचान की लड़ाई हो, सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह हो, देश में व्याप्त सभी समस्याओं को अपनी पारखी नजरों से देखा-परखा और बिना किसी संकोच के ताबड़तोड़ लेखन किया। यह 'हंस' की व्यापक दृष्टि ही है जो प्रत्येक स्तर के प्रश्नों को समेटती है। उनके लेखन में हमें स्वतंत्र दृष्टिकोण और सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत विचार मिलते हैं, जिनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन, सामाजिक समता, धर्म, संस्कृति, भाषा इत्यादि प्रश्नों को बखूबी उठाया गया है।

प्रेमचंद मानते थे कि एक मामूली मजदूर के जीवन में भी साहित्य से संबंधित अनेक विषय निहित होते हैं। समाज में ऐसे विषयों को पहचानने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, तथा इस

¹'हंस'- सं. प्रेमचंद, अप्रैल 1930, पृष्ठ सं- 69.

दृष्टि से जो तथ्य सामने आते हैं, उनकी अभिव्यक्ति के लिए मंजी और ईमानदार कलम की भी जरूरत पड़ती है। ऐसी ही ईमानदार कलम से प्रेमचंद ने सामाजिक हित के लिए बिना हिचक के लेखन किया। प्रेमचंद ने इसी क्रांतिकारी धारा से जनचेतना के विविध आयाम पाठकों के सम्मुख 'हंस' द्वारा प्रस्तुत किये हैं।

प्रेमचंद अपनी बेबाक, बेलाग बातों के कारण कई बार सरकारी कोप का शिकार भी हुए। लगातार आर्थिक संकटों का सामना करते हुए भी प्रेमचंद 'हंस' की डूबती नैया को पार लगाते रहे। 'हंस' में जून-जुलाई 1936 के अंक में सेठ गोविंददास के प्रकाशित नाटक 'सिद्धांत-स्वातंत्र्य' को प्रांतीय सरकार ने आपत्तिजनक घोषित किया तथा एक हजार रुपये की नगद जमानत मांगी। जैनेन्द्र को लिखे पत्र में उन्होंने बताया:- “ 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेस के साथ जमानत भी समाप्त हो जाएगी, पर नया आर्डिनेस आया और जमानत भी बहाल कर दी गयी। जून और जुलाई का अंक हमने शुरू कर दिया, पर जब मैनेजर साहब अपने नया डिक्लेरेशन देने गये तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत मांगी। अब मैंने गवर्नमेंट को स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गयी तो पत्रिका तुरंत ही निकल जाएगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न भी दी तो समस्या टेढ़ी हो जाएगी। मेरे पास न रुपया है, न प्रामेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है चार-पांच सौ बी. पी जाते, कुछ रुपये हाथ आते, लेकिन वह नहीं होना है।”¹ इन सबके बावजूद प्रेमचंद 'हंस' को प्रगति के मार्ग पर लगातार अग्रसर करते रहे। जुर्माने के भय ने उन्हें कभी भयभीत नहीं किया तथा अपने दृढ़ संकल्प, दृढ़ निश्चय पर अड़िग रहे। परिस्थिति की कड़ी मार के बावजूद उन्होंने जस का तस, बिना किसी डर के बोलने की नीति का अनुसरण किया तथा उनकी कलम की धार और भी पैनी होती गई। प्रेमचंद की वैचारिक दृष्टि का खुला दस्तावेज उनके द्वारा संपादित 'हंस' में दृष्टिगोचर होता है।

¹ 'डॉ रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, (हंस)- सं. प्रेमचंद- स्मृति अंक, मई 1937.), पृ. 22

प्रेमचंद मानते थे कि अपनी पत्रकारिता की आत्मा का सही आदर्श समस्याओं का अध्ययन है। प्रेमचंद ने साहित्यिक पत्रकारिता के माध्यम से अपने युग एवं परिस्थिति के यथार्थ चित्रण, उज्ज्वल भविष्य के लिए जनता की इच्छाओं, आवश्यकताओं को व्यापक परिदृश्य में प्रस्तुत किया। उनकी इच्छा थी कि 'हंस' एक अखिल भारतीय पत्र बने, इसीलिए उनकी ईमानदारी, श्रम और निष्ठा से प्रगतिशील विचारधारा को पोषित करता 'हंस' एक अखिल भारतीय साहित्यिक मासिक बन सका। 'हंस' ने विदेशी शासन के खिलाफ लोगों में चेतना जगाई, और भारतीय समाज में व्याप्त सामंती संस्कारों को समाप्त करने का प्रयास किया तथा मानवतावादी समाज और स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण के संकल्प को निरंतर आगे बढ़ाने में प्रेमचंद युगीन 'हंस' का महत्वपूर्ण योगदान है, जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता।

2.1.2 द्वितीय उत्थान :- प्रेमचन्दोत्तर 'हंस' (अक्टूबर 1936-अगस्त 1952)

प्रेमचंद के संपादन काल में (1930-1936) में 'हंस' का प्रकाशन अनेक समस्याओं का सामना करते हुए बहुत ही कुशलता से हुआ। प्रेमचंद के बाद 'हंस' का प्रकाशन जारी रखना अपने आप में एक बहुत बड़ी चुनौती थी, फिर भी 'हंस' का प्रकाशन जारी रहा। प्रेमचंद साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली मशाल कहा करते थे। प्रेमचंद के निधन के पश्चात् इस साहित्यिक मशाल को जैनेन्द्र जी ने जलाये रखा। 1936 में अतिथि संपादक के रूप में पराड़कर जी ने 'प्रेमचंद स्मारकांक' संपादित किया। 'हंस' का यह द्वितीय अध्याय पांचवे दशक तक चला। जैनेन्द्र, शिवरानी देवी, के. एम. मुंशी बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्रीपतराय, शिवदानसिंह चौहान, प्रवासीलाल वर्मा, नरोत्तम नागर, रामविलास शर्मा (कविता संपा.) और अमृतराय आदि संपादकों ने 'हंस' को साहित्यिक पत्रकारिता का मुखपत्र बनाये रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्हीं प्रगतिशील विचारों वाले प्रतिभासंपन्न संपादकों की सेवा और सहयोग से 'हंस' निकलता रहा। प्रेमचंद के बाद भी 'हंस' की मूल प्रतिज्ञा वही थी जो प्रेमचंद की मूल प्रतिज्ञा थी। प्रेमचंदोत्तर हिंदी साहित्य को 'हंस' ने एक नई दृष्टि, नई दिशा प्रदान की। प्रेमचंद पीड़ितों और शोषित वर्ग की दयनीय स्थिति को लेकर अत्यंत चिंतित रहते थे, उनकी इस शोचनीय स्थिति के साथ प्रेमचंद किसी भी प्रकार का समझौता नहीं कर सकते थे, इसी परम्परा को प्रेमचंद के बाद के संपादकों ने 'हंस' में आगे बढ़ाया। प्रेमचंदोत्तर 'हंस' के संपादकों ने अनेक सामाजिक समस्याओं को उठाया जिनमें प्रमुख हैं- साम्प्रदायिकता, मजदूरों-किसानों के आन्दोलन पर सरकारी दमन और निर्ममता के खिलाफ आक्रोश, वैवाहिक जीवन की विषमता, विधवा-विवाह। मजदूरों, कामगारों, किसानों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उनके खिलाफ अनेक संपादकीय, लेखों के माध्यम से इन शोषित वर्गों के मन में आक्रोश तथा चेतना पैदा करने में 'हंस' की भूमिका है। शोषण का विरोध करने की ताकत और चेतनादायी विचारों की आवश्यकता को 'हंस' ने पूरा किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सहकारिता पर आधारित गांवों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उन्नति को

‘हंस’ के अंकों में नियमित रूप से दिखाया गया है। ‘हंस’ पत्रिका का दृष्टिकोण हमेशा व्यापक रहा है। अन्य भाषाओं से अनुवाद कार्य में भी ‘हंस’ की अपनी उपलब्धि रही है। इस तरह ‘हंस’ पत्रिका राष्ट्रीयता के भाव को लेकर हमेशा मुखर रही है। स्वातंत्र्योत्तर पत्रिकाओं में ‘हंस’ की अपनी खासी पहचान है। यह जन-चेतना प्रतिशील चेतना के रूप में सर्वोपरि पत्रिका रही है। हर समस्या, हर प्रश्न से लड़ने की अदम्य शक्ति ‘हंस’ में थी। आर्थिक अभाव के कारण पत्रिका का प्रकाशन कठिन हो गया। जैनेन्द्र के पश्चात शिवदानसिंह चौहान ने संपादक पद संभाला था, परन्तु वे 1942 में आन्दोलन के दौरान गिरफ्तार हो गये तथा उनके बाद संपादक का पद अमृतराय ने संभाला। अमृतराय की आर्थिक स्थिति खराब हो गयी तथा ‘हंस’ घाटे में चला गया। अमृतराय ने सरस्वती प्रेस से आर्थिक सहयोग लेकर घाटे को पूरा करने की असफल कोशिश भी की। इस विषय में अमृतराय ने लिखा है कि :- “ ‘हंस’ पत्रिका बंद करने की पीछे मूलतः आर्थिक कारण था और दूसरे ये भी कारण हो सकते हैं कि उस समय जो वामपंथी आन्दोलन, जिसके साथ मैं जुड़ा हुआ था वह भी थोड़ा- सा बिखराव की स्थिति में आ गया था, फिर भी वो ऐसी कोई बात नहीं, साहित्य के माध्यम से जनता की चेतना को आगे बढ़ाना, वो काम तो फिर भी करता रह सकता था। लेकिन मेरी स्थिति ऐसे नहीं थी। मेरे सामने आजीविका का प्रश्न था.....लेकिन एक समय आया कि बंद करने के सिवा गति नहीं रही।”¹ अमृतराय ने सन् 1952 में ‘हंस’ में एक ‘शांति-संस्कृति’ नामक अंक प्रकाशित किया था। इस अंक से अमृतराय को बहुत बड़ी हानि हुई तथा इससे उबरना नामुमकिन सा था, जिससे ‘हंस’ का बंद होना निश्चित समझा गया। इससे स्पष्ट होता है कि ‘हंस’ के प्रकाशन में आर्थिक अभाव के चलते बाधा उत्पन्न हुई। अगस्त 1952 में अमृतराय के संपादन में ‘हंस’ का अंतिम अंक निकला। उसके बाद ‘हंस’ बंद हो गया।

¹ राजेन्द्र यादव, ‘हंस’- सं., अगस्त 1986, पृष्ठ सं.- 12-13.

2.1.3 तृतीय उत्थान :- राजेन्द्र यादव संपादित ‘हंस’ (अगस्त 1986-नवम्बर 2013)

प्रेमचंद के ‘हंस’ का 34 वर्षों बाद अगस्त 1986 में पुनर्प्रकाशन हिंदी नई कहानी के त्रयी में से एक बहुचर्चित कथाकार राजेन्द्र यादव के संपादकत्व में हुआ। ‘हंस’ का पुनर्प्रकाशन हिंदी साहित्य जगत, और हिंदी पत्रकारिता के लिए अपूर्व गौरव का विषय था ‘हंस’ के पुनर्प्रकाशन के समय हिंदी में यह स्थिति प्रचारित की जा रही थी कि अब हिंदी में गंभीर साहित्यिक पत्रिकाओं का चलना मुश्किल है। सारिका, धर्मयुग आदि जैसी गंभीर पत्रिकाएँ बंद होने वाली थीं या बंद हो चुकी थीं। इसके बाद इन अटकलों को और जोर मिला लेकिन इन तमाम अटकलों को ध्वस्त करते हुए ‘हंस’ आज तक निर्बाध रूप से प्रकाशित हो रही है। उस समय स्वयं राजेन्द्र यादव ने भी यह कल्पना नहीं की होगी कि ‘हंस’ पत्रिका इतने निर्बाध रूप से लगातार प्रकाशित होती रहेगी तथा वे ‘हंस’ के संपादक की भूमिका को अपने जीवन की अंतिम सांस तक निभाते रहेंगे। राजेन्द्र जी ने लेखकों को एक महत्वपूर्ण मंच दिया तथा हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता जगत के अभाव की पूर्ति भी की। प्रेमचंद ने ‘हंस’ के प्रथम अंक में ‘विविध विषय संपन्न कहानियों का मासिक पत्र’ बोला था। राजेन्द्र जी ने ‘हंस’ को ‘जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक’ घोषित किया। जो जागरूक और संघर्षशील जनता द्वारा अपनी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमचंद और ‘हंस’ की परम्परा को लेकर राजेन्द्र जी कहते हैं कि “प्रेमचंद की विरासत की परंपरा का मतलब उनके विषयों को उठाना नहीं, बल्कि उनकी उस यथार्थवादी दृष्टि को पकड़ना है....विषय अलग होते हुए भी, दृष्टि जो विषय को जांचने- परखने और ट्रीटमेंट का काम करती है, एक हो सकती है”¹। ‘हंस’ के प्रथम अंक में भी उन्होंने हंस की परम्परा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि:- “सामाजिक समानता, अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष, रूढ़ियों और आडम्बरों के खिलाफ जिहाद, शक्ति और सत्ता की अनीतियों, अत्याचार का प्रतिरोध- यही चिंताएं और प्रतिबद्धताएं प्रेमचंद की भी थी- अपने समय के संदर्भ में। ‘हंस’ प्रेमचंद की रूढ़ि से नहीं परंपरा से प्रतिबद्ध है, यानी प्रेमचंद की

¹ राजेन्द्र यादव, मेरे साक्षात्कार, पृ०45.

दृष्टि से। रचना और विचार के प्रति विनम्र सम्मान और सरोकार ही ‘हंस’ की आधार नीति है। प्रेमचंद हमारे लिए मूर्ति या आदर्श से अधिक एक प्रेरणा और अंकुश है.. ताकि प्रलोभनों और भटकाव के जंगलों में दिशा मिल सके।”¹ प्रथम संपादकीय के माध्यम से ही संपादक के रूप में राजेन्द्र यादव जी ने अपने ‘हंस’ के उद्देश्य तथा भूमिका को स्पष्ट कर दिया था। ‘हंस’ के पुनर्प्रकाशन के साथ यादव जी का भावनात्मक लगाव था तथा उसे उल्लास के साथ साथ, समाज की नई चुनौतियों और जिम्मेदारियों की मांग को पूरा करने के विश्वास के साथ पुनर्प्रकाशन करना अपने आप में जोखिम का काम भी था। जिसे राजेन्द्र जी ने सहर्ष स्वीकार किया। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए ‘हंस’ ने अतुल्य भूमिका निभाई है। ‘हंस’ ने समाज की परिस्थितियों को जांचा-परखा, नए जीवन मूल्यों के निर्माण में योगदान दिया तथा समाज की परिस्थितियों, समस्याओं और मांगों को चिंतन में रखा तथा ‘हंस’ की आंदोलनकारी पहल के माध्यम से उच्चस्तरीय रचनात्मक हस्तक्षेप किया। ‘हंस’ के प्रेमचंदीय गरिमा तथा गौरव को बनाए रखते हुए उसे पत्रिका से आगे एक ‘मंच’ का स्वरूप प्रदान करने का श्रेय राजेन्द्र यादव जी को जाता है उनकी एकमात्र चिंता का कारण ‘हंस’ ही होता है। “‘हंस’ को राजेन्द्र यादव ने निस्संदेह वह पुख्ता जमीन उपलब्ध कराई है जिस जमीन के जन और जीवन की बात इसके संस्थापक प्रेमचंद किया करते थे।”² प्रेमचंद को उन्होंने विरासत स्वरूप अपनाया तथा ‘हंस’ का सफल पुनर्प्रकाशन किया।

राजेन्द्र यादव के संपादन में निकले ‘हंस’ ने प्रेमचंद की प्रगतिशील परम्परा का निर्वाह करते हुए स्त्री-प्रश्नों, धर्मनिरपेक्षता के प्रश्नों, दलित-प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया। भाषा में प्रेमचंदीय कोमलकांत पदावली और तत्सम बहुलता का स्थान व्यंग्य, व्यंजना ने लिया। धारा के विपरीत बहने का साहस बहुत कम ही लोगों में होता है। राजेन्द्र जी में वो साहस था। धारा में विपरीत तैरने के प्रयास में ही राजेन्द्र जी के डूबते छटपटाते हाथों ने ऐसा इतिहास लिखा जो आज उनके दैहिक

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’, संपादकीय, अंक- अगस्त 1986 पृ० 05.

² राजेन्द्र यादव, जवाब दो विक्रमादित्य-, पृष्ठ. 245.

रूप से मौजूद ना होने पर भी उनकी मौजूदगी का एहसास, उनकी अहमियत को बताता है। ‘हंस’ के बारे में राजेन्द्र जी एक साक्षात्कार में कहते हैं कि ‘हंस’ ने कुछ ऐसे डॉमिनेट किया कि लगता है पहले हमने कुछ किया ही नहीं। राजेन्द्र जी की एक शिकायत है कि ‘हंस’ के संपादन की वजह से उनका कथा लेखन एकदम छूट गया। राजेन्द्र जी ने इस पीड़ा को जुलाई 2011 के संपादकीय में व्यक्त किया है उन्होंने लिखा है :- “रचनात्मक लेखन एकदम छूट गया है और रह गया है सिर्फ महीने- भर झक मारकर लिखा जाने वाला संपादकीय। ‘हंस’ का ताम-झाम कुछ इस तरह हावी है कि लोग यह भी भूल गये हैं कि मैंने भी कुछ रचनात्मक लिखा था- शायद बहुत बुरा नहीं लिखा था”¹ राजेन्द्र यादव को इस पर अधिक शिकायत नहीं होनी चाहिए क्योंकि ‘हंस’ के माध्यम से उन्होंने समाज के प्रत्येक समूह को चेतना प्रदान की है। ‘हंस’ के पाठक वर्ग में से 80 प्रतिशत से अधिक पाठक केवल राजेन्द्र जी का संपादकीय पढ़ने के लिए ही ‘हंस’ को खरीदते थे। साहित्य का एक लक्ष्य अगर पाठकों को स्वतंत्र, संवेदनशील, सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों के प्रति सजग करना है, तो राजेन्द्र यादव के संपादकीय इस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। इसलिए राजेन्द्र यादव को रचनात्मक लेखन छूट जाने का पीड़ा नहीं होनी चाहिए।

राजेन्द्र यादव के संपादकीय को लेकर प्रतिभा श्रीवास्तव ने लिखा है कि यादव जी की ‘कांटे की बात’ निर्भीक एवं पैनी लगी। उनका कहना है कि पढ़ना एक खतरनाक चीज है। इससे आदमी को कुछ सोचने समझने की बीमारी लगती है। हम चाहेंगे कि इस खतरनाक बीमारी को जारी रखने के लिए वे हमें सामग्री देते रहें। आज के अधिकांश सुविधाभोगी लेखकों की जमात में साहित्य महज बौद्धिकता विलास होकर रह गया है।² राजेन्द्र यादव ने विभिन्न विधाओं को ‘हंस’ के द्वारा पुष्ट बनाया तथा साथ ही उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग भी किये। ‘हंस’ के विशेषांक इसका अच्छा उदाहरण है। जिसने ‘हंस’ के महत्व को बढ़ाया है। राजेन्द्र यादव ने 1986 से 2013 तक ‘हंस’ का संपादन किया। शुरू के कुछ सालों में आर्थिक संकट के कारण इसके बंद होने के

¹ सं. प्रेम भारद्वाज, पाखी, अंक 12, वर्ष-3 सितम्बर 2011, पृष्ठ 44.

² सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’, जनवरी 1997, पृष्ठ 9.

आसार बने रहे परन्तु ये राजेन्द्र यादव की 'हंस' के प्रति निष्ठा ही थी जिसने उसे 'हंस' को बंद नहीं होने दिया तथा राजेन्द्र यादव ने अपनी अंतिम सांस तक इसका संपादकत्व संभाला।

2.2 राजेन्द्र यादव के संपादन काल में 'हंस' का महत्व

राजेन्द्र यादव के संपादकत्व में 'हंस' हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में एक प्रतिष्ठित पत्रिका रही है। शुरू के वर्षों के संघर्षों को पार करती हुई, बड़ी सफलता से राजेन्द्र यादव जी ने इसको निरंतर प्रकाशित किया। बिना संसाधनों के हिंदी की दुनिया में किसी पत्रिका का संपादन सिर्फ पाठकों के बूते चलाना आसान नहीं था। आज हंस का पाठक वर्ग न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी है। जन साहित्य का मुख्य ध्येय पूंजीवादी व्यवस्था का पुरजोर विरोध तथा मजदूर तथा श्रमिक वर्ग को प्रोत्साहन देना है। इसे प्रगतिशील जनवादी साहित्य कहा जाता है। इन्हीं विशेषताओं को आधार बनाकर चलने वाली पत्रिका को प्रगतिशील पत्रकारिता कहते हैं। हंस ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी तथा स्त्री विमर्श, दलित विमर्श के साथ साथ समकालीन प्रासंगिक मुद्दों को उठाकर हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में एक नया अध्याय भी जोड़ा। जिससे हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में नए मानक भी स्थापित हुए। 'हंस' ने अपने सरोकारों, साहित्यिक वैचारिक बहसों, कहानियों, आलोचनाओं, संपादकीयों के माध्यम से न केवल हिंदी जगत बल्कि पूरे देश की राजनैतिक गतिविधियों को भी नयी दिशा प्रदान की। अपने संपादन काल में राजेन्द्र जी ने राजनीति में हो रही प्रत्येक हलचल, प्रत्येक ज्वलंत मुद्दों को पूरी जिम्मेदारी के साथ अपने संपादकीय 'मेरी तेरी उसकी बात', कांटे की बात, या बीच बहस में बार बार उठाया है। 'हंस' में जिन भी मुद्दों पर बहस होती उसकी चिंगारी समस्त देश में फैलती थी।

राजेन्द्र यादव का 'हंस' विवेक 'हंस' के प्रत्येक अंक में प्रकाशित होने वाले लेखों, समीक्षाओं, कहानियों, बहसों, कविताओं के राजेन्द्र यादव द्वारा किए चुनाव से स्पष्ट हो जाता है। राजेन्द्र यादव के प्रत्येक संपादकीय सामाजिक-राजनीतिक चिंताओं और सोच विचार की दिशाओं को व्यक्त करते हैं। उनके संपादकीय के कारण अक्सर वैचारिक बहसें पैदा हुआ करती थी। वे जो भी बोलते थे विवाद का मुद्दा बन जाता था। विचारों की डोर कहीं न कहीं 'हंस' की वैचारिकी से जुड़ी रहती है, इसलिए पाठक वर्ग को कभी निराशा नहीं मिलती। 'हंस' के

संपादकियों से पाठकों को एक अनूठी संतुष्टि मिलती थी। जिसकी प्राप्ति के लिए पाठक वर्ग 'हंस' से जुड़ाव महसूस करते थे। एक साहित्यिक पत्रिका की खूबी पाठक की बौद्धिक क्षुधा को शांत भर नहीं होता बल्कि उसे नई परिस्थितियों और चुनौतियों को समझने और उसका समाधान तक पहुँचने की समझ को विकसित करना भी है। 'हंस' ने यही किया, इसलिए समाज का बड़ा बौद्धिक वर्ग 'हंस' का कायल था। 'कांटे की बात' और 'मेरी तेरी उसकी बात' में राजेन्द्र यादव ने हिंदी प्रदेश का वैचारिक संकट, न लिखने के कारण, राष्ट्र और राष्ट्रवाद, सती-रूप कुंवर का मामला, साम्प्रदायिकता के माया जाल, साहित्य की स्वतंत्रता, बुद्धिजीवी के संकट, रचनाशीलता के द्वन्द, हिन्दू धर्म का मोह और आतंक, सच बोलने के खतरे, सत्ता और साहित्य के संबंध, अस्मिता-विमर्श के अतिरेक, पुरस्कारों की राजनीति, अतीत के प्रेत और वर्तमान की वास्तविकताएं, भारतीय जातीय व्यवस्था, दलित चेतना, समाज में स्त्री की स्थिति आदि से जुड़ी अनगिनत समस्याओं पर अपने बेबाक लेखनी चलायी।

स्त्री लेखन और भारतीय समाज में स्त्री की मौजूदा स्थिति को तथा दलित लेखन को केवल हिंदी ही नहीं पूरे राजनीतिक, सामाजिक विमर्श को केंद्र में लाने का श्रेय राजेन्द्र यादव को है। दलित तथा स्त्री मुक्ति के सवाल को लेकर राजेन्द्र यादव को व्यक्तिगत हमलों का भी शिकार होना पड़ा लेकिन वो अपने इस मोर्चे पर अडिग रहे। जिन मुद्दों पर कई पत्रिकाएँ अपनी कन्नी काट लेती थी, उन ज्वलंत मुद्दों को राजेन्द्र यादव ने बड़ी बेबाकी से, बिना किसी भय के सार्थक बहस का मुद्दा बनाया। अपने संपादन के शुरुआती दौर से ही 'हंस' ने साहित्यिक माहौल को उत्तेजित बनाये रखा। राजेन्द्र जी का कहना है कि स्त्री तथा दलितों का अपना कोई इतिहास नहीं होता कथाकार एवं 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव के शब्दों में- "मैं हमेशा से कहता हूँ कि दलितों और स्त्रियों का कोई इतिहास नहीं है। जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह तो सवर्ण एवं पुरुषों का इतिहास है। उसमें दलित कितना मालिक के लिए वफादार रहा या कितना मालिक के कहने पर बस्तियों जलाई, कैसे उसने मालिक की जगह अपने सीने पर गोलियों खाई ये दलित का इतिहास है, स्त्री

कितनी पतिव्रता थी, निष्ठावान थी, हमारे लिए सती हो जाती थी, कैसे उसने राजवंश को बचाने के लिए अपने बच्चे की बलि दे दी यह स्त्री का इतिहास है। यानी इनका नहीं बल्कि इनकी वफादारी का इतिहास है, दरअसल इतिहास उसका होता है जो अपने फैसले खुद लेते हैं, दलित और स्त्री अपने फैसले नहीं ले सकते थे।¹ स्त्री और दलित को मुख्यधारा में लाने के इस ऐतिहासिक कदम का श्रेय तो 'हंस' को ही जाता है। इससे पहले इन्हें मुख्यधारा में घुसने ही नहीं दिया जाता था।

राजेन्द्र यादव के 'हंस' का महत्व यह भी था कि उसमें जो कुछ भी प्रकाशित होता था वह विमर्श की दृष्टि से नवीन, बेबाक और बेलाग होता था। उन विमर्शों की धुन दिलोदिमाग पर छाई रहती थी। 'हंस' के ज्वलंत विषय हो या 'हंस' की भाषा सभी में राजेन्द्र यादव जी मौलिक दिखाई देते हैं। राजेन्द्र यादव के संपादकियों को जानदार तथा धारदार बनाती है उनकी भाषा, जो जनतांत्रिक है। स्त्री और दलित के अस्तित्व की लड़ाई को राजेन्द्र यादव ने खुलकर प्रोत्साहित किया तथा इसके लिए लम्बे विरोध का सामना भी उन्होंने झेला। ऐसे तमाम तरह के दवाबों के बीच राजेन्द्र यादव ने अपने मूल्यों के साथ समझौता नहीं किया तथा इन विमर्शों को साहित्यिक पटल पर स्थापित किया फिर भी केवल स्त्री दलित तक 'हंस' के महत्व को सीमित करके नहीं देखना चाहिए। राजेन्द्र यादव इन अस्मिता विमर्श के साथ-साथ शोषित और कुंठित समाज व्यवस्था की मुक्ति के लिए भी चिंतित है। जब सोवियत संघ का विघटन हुआ था और हर तरफ समाजवाद की असफलता के स्वर गूंज रहे थे। इस स्थिति में राजेन्द्र यादव जी ने लिखा था "आज मेरे लिए इस बात के भी बारीक ब्योरे महत्वपूर्ण नहीं हैं कि समाजवाद कहां, किस तरह फेल हो गया था या हो रहा है। महत्वपूर्ण यह है कि समता और समानता की मानवीय आकांक्षा कहां किस तरह जीवित है। या दमन और शोषण के खिलाफ संघर्ष कहां और किस तरह चलाए रखे जा रहे हैं- और इस विचार को दृष्टि देने में बुद्ध सहायक है या मार्क्स- हमारा तत्कालीन 'शाश्वत सत्य यही है कि मानव कल्याण का कोई विचार कभी भी नहीं मरता, वह केवल कुछ समय के लिए भूमिगत

¹ सं. राजेन्द्र यादव 'हंस'- जनवरी 2001, पृ. 4.

होता है।”¹ ‘हंस’ ने विभिन्न मुद्दों को उठाया जिसमें धार्मिक आडंबर, राजनैतिक मुद्दे, साम्प्रदायिकता, आत्मस्वीकृतियों के विषयों की परम्परा पहले नहीं थी, जो एक नई पहल थी। इन मुद्दों पर ‘हंस’ ने जितनी मुखरता से कलम चलाई, शायद ही किसी अन्य पत्रिका में इतना साहस था।

राजेन्द्र यादव के संपादकीय में भारतीय समाज विशेष रूप से हिन्दू समाज की मानसिकता, विचार, संरचना से संबंधित समकालीन प्रश्नों को राजेन्द्र यादव ने बड़े ही चुटीले अंदाज तथा व्यंग्यात्मक भाषा में उठाया है। ‘हंस’ में भारतीय स्त्री की पराधीनता तथा दलितों की पराधीनता को वैचारिक बहस का मुद्दा बनाया। राजेन्द्र यादव के संपादकीय की लोकप्रियता तथा ‘हंस’ के महत्व को ‘पाखी’ पत्रिका के संपादक प्रेम भारद्वाज ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :- “उनके संपादकीय पढ़कर आप आज तो क्या 50-100 साल तक भी यह अंदाज़ा नहीं लगा सकते हैं कि वो किस कालखंड या दौर में अपने समय से मुठभेड़ करते हुए लिखे गये हैं। कोई कुछ भी कहे दलित और स्त्री-विमर्श को साहित्य में पूरी मजबूती के साथ स्थापित करने का श्रेय उन्हें जाता है। युवाओं या नए लेखकों की जमात पैदा की। ‘हंस’ के जरिये दर्जन भर से ज्यादा कालजयी कहानियां और लेखक दिए। जो काम राजनीति में वीपी सिंह ने किया, कमोबेश वही काम साहित्य में राजेन्द्र यादव ने किया।”²

राजेन्द्र यादव चर्चा में उनके संपादकीय के कारण रहते थे। इन लेखों में कई बार उनका गुस्सा, टीस, खीझ छिपी होती थी। नए विमर्शों की तलाश में लगे रहना उनका स्वभाव था। नए विषयों को वो बेहद संजीदगी से लेते थे तथा उसे अपने संपादकीय में वैचारिक प्रखरता तथा स्पष्टवादिता के साथ अभिव्यक्ति देते थे। उनके संपादकीय बेहद लोकप्रिय थे तथा हजारों पाठक प्रत्येक माह में उनके संपादकीय का बेसब्री से इंतजार भी करते थे। ‘हंस’ के द्वारा कई युवा रचनाकारों को प्रसिद्धी प्राप्त हुई। मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, गीतांजली श्री. सुरभि पांडे, लवलीन, अनामिका अलका

¹ राजेन्द्र यादव, कांटे की बात-3, पृष्ठ 61.

² सं. प्रेम भारद्वाज, पाखी, , अंक 12, वर्ष-3 सितम्बर 2011, पृष्ठ 7.

सरावगी जैसी कई लेखिकाओं को ख्याति ‘हंस’ से जुड़ने के बाद प्राप्त हुई। राजेन्द्र यादव ने ‘हंस’ के माध्यम से नयी पीढ़ी को अपने साथ जोड़ा। यादव जी चाहते थे कि लेखक समाज की दकियानूसी तथा रूढ़िवादी मूल्यों से खुद को मुक्त रखे तथा संसार में व्याप्त विसंगतियों से प्राप्त अनुभवों को ईमानदार कलम के प्रकाश में लाएं। “नई पीढ़ी के कई लेखकों को ‘हंस’ ने उभारा। लेखकों रचनाकारों को अपनी गति तय करने और अपने स्वर को समाज तक पहुंचने के लिए उन्होंने ‘हंस’ के रूप में एक साहित्यिक मंच दिया।”¹

राजेन्द्र यादव ने स्त्री और दलित के स्वाभिमान की संघर्ष की लड़ाई को ‘हंस’ के जरिये हिंदी साहित्यिक पट्टी पर सबसे बड़ा लोकतांत्रिक मंच प्रदान किया। इससे यथास्थितिवादी शक्तियां ‘हंस’ के विरुद्ध मोर्चाबंद होती चली गयी। फिर भी इस विरोध की परवाह न करते हुए, राजेन्द्र यादव ही थे जो नयी पहल से घबराते नहीं थे, उनमें आलोचकों का भय कभी नहीं था। उनमें विचित्र लोकतांत्रिक साहस था। अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति के लिए वे हमेशा बड़े से बड़ा खतरा उठाने को हमेशा तत्पर रहते थे पर समझौता उन्हें मंजूर नहीं था। तभी ‘हंस’ में लगातार स्त्री, दलित, अल्पसंख्यकों की अस्मिता के मामलों पर ज्वलंत सामग्री आती रही, जिससे हिंदी पट्टी में वैचारिक मुठभेड़ को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। ‘हंस’ के महत्व में अभिवृद्धि राजेन्द्र यादव जी के संपादकत्व में समकालीन मुद्दों पर जो विशेषांक प्रकाशित हुए, उनसे होती है। उनमें स्त्री-विमर्श विशेषांक, दलित विमर्श विशेषांक, अल्पसंख्यक विमर्श विशेषांक तथा, अर्द्धशती विशेषांक, संघर्षशील आम जन की कहानियां विशेषांक, उपन्यास : एक सदी विशेषांक, जनवरी, 2007 में ‘टेलीविजन इतिहास में पहली बार’ (खबरिया चैनलों की कहानियां) विशेषांक ये सभी विशेषांक साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में एक नया सुनहरा अध्याय जोड़ते हैं। ‘हंस’ ने टीवी पर प्रकाशित इस विशेषांक में विभिन्न न्यूज़ चैनलों में कार्यरत व्यक्तियों के द्वारा ही चैनलों, वहां की कार्यप्रणाली, वहां काम करने वालों, खबरों की चयन प्रणाली, मालिकों का कर्मचारियों के साथ

¹ सं. राजेन्द्र यादव, जवाब दो विक्रमादित्य, पृष्ठ. सं. 108.

व्यवहार, वहां चलनेवाली राजनीति और वहां दिखने वाले अधकचरेपन के बारे में कहानियां लिखी हैं। जनसत्ता ने इस विशेषांक के बारे में लिखा है- “समाचार चैनलों से जुड़े लोग छोटे परदे पर चाहे जितनी भी सनसनी बेच रहे हो ‘हंस’ के इस विशेषांक को उन्होंने अपनी अपनी तकलीफ संवेदना और घुटन की अभिव्यक्ति का जरिया बनाया है, और यही बात है जो ‘हंस’ के इस अंक को महत्वपूर्ण बनाती है.....संग्रह की लगभग सभी कहानियां चैनलों की सतहीपन, उनकी सरोकार विहीनता और ‘ब्रेकिंग न्यूज़’ की आपाधापी को रेखांकित करती हैं।”¹

‘हंस’ पत्रिका ने सनसनी साहित्य को महत्व नहीं दिया। ‘हंस’ में केवल जन-चेतना से ओतप्रोत, मानवी मूल्यों का उद्धाटन करने वाला साहित्य ही प्रकाशित होने की कसौटी पर खरा उतरता है। कहानी स्तम्भ के अंतर्गत लगभग सात-आठ कहानियां हर संग्रह में प्रकाशित होती हैं। कथालेखक नया हो या जाना-माना लेखक, ‘हंस’ केवल उनकी ही रचनाओं चयन करता है जो वास्तव में सामाजिक मूल्यों, तथा समाज का पथप्रदर्शन करे। इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि, “अगर आप कहानी दे रहे हैं तो उसे सबसे पहले कहानी ही होना होगा। विचार आन्दोलन या क्रांति बाद में यानी अगर आप घड़ा दे रहे हैं तो उसकी शकल सूरत आदि टेडी, चपटी कुछ भी हो सकती है मगर उसमें पानी टिक सके, यह सबसे पहली शर्त होगी।”² ‘हंस’ का ये बहुत महत्वपूर्ण कार्य है कि ‘हंस’ से हिंदी साहित्य को विस्तार मिला तथा हिंदी साहित्य प्रफुल्लित हुआ।

स्त्री-विमर्श को ‘हंस’ ने प्रकाशित रचनाओं का केन्द्रीय पहलू माना। जन चेतना की विकास-परम्परा में ‘हंस’ की यह अलग विशेषता है। स्वयं राजेन्द्र यादव कहते हैं- “स्त्री अपनी बौद्धिकता या अन्य उपलब्धियों के लिए चाहे जितनी हायतौबा मचाती रहे, पुरुष की जिद है कि साम, दंड, दाम, भेद से वह उसे कमर, कुल्हे, नितंब, छातियों से ऊपर नहीं उठने देगा। देह को वह इस धमाके, ग्लैमर और चकाचौंध के साथ पेश करेगा कि हर औरत देह बने रहने को ही अपने होने ही एकमात्र

¹ जनसत्ता, 14 जनवरी 2007.

² सं. राजेन्द्र यादव, मेरी-तेरी उसकी बात, ‘हंस’, अगस्त 1991.

सार्थकता मानने को मजबूर हो जाए”¹ ‘हंस’ में आधुनिकता और वैश्वीकरण के दौर में स्त्री को आर्थिक एवं राजनीतिक रूप में समर्थ बनाने का संकल्प स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। अतिथि संपादक अर्चना वर्मा द्वारा संपादित ‘अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य’ : खंड एक एवं दो’ और अतिथि संपादक प्रभा खेतान द्वारा संपादित ‘स्त्री-भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नये रूप’ इन विशेषांक में स्त्रीविमर्श का बेबाकी से उद्घाटन हुआ है। स्वयं प्रभा खेतान कहती है “लंबे अरसे से मैं चाहती रही हूँ कि अपनी निजी विचारधारा और जीवन को अपनी कहानी, कविता और उपन्यास के दायरे से निकल कर विमर्शी धरातल पर परखूँ।.....आत्मगत और वस्तुगत के समीकरण में यहां जोर वस्तुगत पर रहता है और प्रायः साहित्यकार इस दायरे में आकर स्तब्ध रह जाते हैं। सिर्फ संवेदना और अनुभूति से यहां काम में कोई संकोच नहीं कि ‘हंस’ द्वारा स्त्री-प्रसंग को अपनाते हुए देखना मेरे लिए एक राह खुलने के समान था। ‘हंस’ के साल-भर में निकलने वाले तीन महिला विशेषांक इसी विकास-क्रम का फलितार्थ है।”² स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को अन्य पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में ‘हंस’ ने अधिक सशक्तता से प्रस्तुत किया है। स्त्री-मुक्ति के प्रश्न पर राजेन्द्र यादव के विचारों पर काफी वैचारिक मतभेद हुए क्योंकि स्त्री मुक्ति को लेकर राजेन्द्र यादव के बयान हमेशा उत्तेजक तथा भड़काऊ होते थे। उनके विचार में स्त्री यदि मुक्ति चाहती है तो वेश्या बनने के अलावा उनके पास कोई और मार्ग नहीं है, क्योंकि वरना उसे ताउम्र पुरुष के संरक्षण की आवश्यकता होती है कभी पिता के रूप में, कभी पति के तो कभी पुत्र। स्त्री की लगाम हमेशा इन्हीं के हाथों में रहती है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। ऐसे भड़काऊ विचारों पर वैचारिक रक्तपात होना लाजमी है। ‘हंस’ पत्रिका अगर स्त्री-विमर्श को केंद्र में न रखते तो हिंदी साहित्य में स्त्री-आत्मकथाओं की वर्तमान में जो स्थिति है वह ऐसी नहीं होती, इस मजबूत स्थिति में ‘हंस’ के महत्वपूर्ण योगदान को नकारा नहीं जा सकता। जनचेतना की परम्परा में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को महत्व देने वाली पत्रिका में ‘हंस’ का योगदान उल्लेखनीय है, इसे मानना पड़ेगा। स्त्री-विमर्श में

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’, जुलाई, 1993, पृ. 7.

² ‘हंस’- सं. राजेन्द्र यादव – मार्च, 2001, पृ. 12.

सबसे बड़ा सवाल है देह-मुक्ति का, जिसको लेकर राजेन्द्र जी ने अनेक लेख लिखे तथा यह यादव जी के अभूतपूर्व क्रांतिकारी और ऐतिहासिक योगदान का ही नमूना है कि हिंदी की लेखिकाएं 'कितनी बिस्तरों में कितनी बार' के अनुभवों को बिना किसी हिचक के, बिना किसी लागलपेट के अपनी-अपनी आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति दे पाई हैं। 'हंस' ने स्त्री मुक्ति के लिए प्रभुत्ववादी और परंपरावादी विचारधारा को चुनौती दी। इन रूढ़ियों को तोड़ने की ताकत केवल यादव जी ही रखते थे। स्त्रियों को गृहिणी के तयशुदा किरदार से बाहर निकालने में 'हंस' ने अनेक प्रयास किए जिससे स्त्री मुद्दों की एक ठोस व्यावहारिक वैचारिकी तैयार हुई।

'हंस' पत्रिका ने हिंदी साहित्य में 'दलित-विमर्श' की व्यापक पहल आरम्भ की है। राजेन्द्र यादव जी ने 'हंस' में जाति व्यवस्था तथा उसके भयावह नतीजों को भी अपने वैचारिक मुहीम का हिस्सा बनाया। इतना ही नहीं कि दलित साहित्यकारों का लेखन क्षेत्र में मार्गदर्शन भी किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' को शीर्षक देने का श्रेय भी राजेन्द्र यादव जी को जाता है। जाति व्यवस्था की निर्भीक आलोचना जो पहले प्रेमचन्द के संपादन काल में मिलती थी उसे अधिक उग्र तथा आंदोलित स्वरूप राजेन्द्र यादव ने दिया। अपने पहले अंक में ही दलित विमर्श को 'हंस' में आत्मकथात्मक तथा उपन्यासों के माध्यम से स्थान प्राप्त हुआ। अर्चना वर्मा कहती है – “इन उपन्यासों में अनुसूचित जिंदगी के यातनागृह से होकर गुजरते हुए अंतरंग संसार और बहिरंग सामाजिक संदर्भ के रचनात्मक रिश्तों के अनेक स्तरों को साकार देखा जा सकता है।”¹ राजेन्द्र यादव ने दलित तथा स्त्री मुक्ति के लिए पूरे हिंदी साहित्य की पड़ताल की तथा निष्कर्ष यही था कि हिंदी साहित्य से इन दोनों अस्मिताओं को कभी भी तवज्जो नहीं मिली। इस टीस को उन्होंने एक संपादकीय में व्यक्त किया है। “यह एक विचारोत्तेजक संपादकीय टिप्पणी है, जिसमें सामाजिक सरोकारों और दलित, स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर हिंदी लेखकों के विरोध को दर्ज किया गया है। इसे हम 'हंस' का आत्मसंघर्ष भी कह सकते हैं। उन्होंने 1850 से 1950 तक सौ वर्षों के हिंदी

¹ सं. राजेन्द्र यादव, 'हंस', अगस्त, 1986, पृ. 72.

साहित्य की पड़ताल की है। उन्होंने सवाल उठाया कि इस कालखंड में एक भी दलित नहीं है और एकाध अपवाद को छोड़ दें तो एक भी स्त्री मुक्ति का सवाल उठाती स्त्री नहीं है।¹ इसी अभाव की पूर्ति 'हंस' के द्वारा हुई। जब हिंदी की तमाम गंभीर स्थापित बड़ी पत्रिकाएं दलित लेखकों को छापने में कतराती थी, तब 'हंस' पत्रिका ने उन्हें लोकतांत्रिक मंच प्रदान किया था तथा आदरपूर्वक उन्हें प्रकाशित किया, उन्हें सार्वजनिक बहस के बीच स्थान दिया। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में, खासकर मराठी में छप रहा दलित-साहित्य 'हंस' में प्रमुखता से छप रहा है। दलित-विमर्श के अध्ययन के बिना 'हंस' की भूमिका को आंकना उसके महत्व को कम करके देखना माना जाएगा। अतः दलित विमर्श को हिंदी साहित्य में लाकर दलित-आन्दोलन को प्रेरणा, चेतना, एवं बल देने वाली पत्रिकाओं में 'हंस' पत्रिका का नाम अग्रणी है इस बात में कोई दुराहे नहीं हो सकती।

अल्पसंख्यकों को लेकर भी राजेन्द्र यादव ने अपनी निर्भीक, बेबाक स्पष्टवादी कलम चलायी है। 'हंस' ने अल्पसंख्यक वर्ग के उत्थान के लिए भी क्रांतिकारी कदम उठाए हैं। देश में अल्पसंख्यक वर्ग पर होने वाले अत्याचार को 'हंस' के संपादकीयों में वाणी मिली है। बाबरी मस्जिद से गोधरा त्रासदी तक यादव जी ने वही लिखा जो उन्होंने यथार्थ की खुली आँखों से देखा। सच को लिखने में उन्होंने कभी किसी की भी परवाह नहीं की, वही लिखा जो एक सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य होता है। सन् 2000 के आसपास इस्लामी आतंकवाद के नारों को जोर मिल रहा था। 2001 में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर ध्वस्त हो गया, जिसके बाद ओसामा बिन लादेन को इस्लामी आतंकवाद का पर्याय समझा जाने लगा। इस संदर्भ पर राजेन्द्र यादव जी ने एक संपादकीय लिखा। उन्होंने लिखा कि यदि ओसामा बिन लादेन आतंकवादी है तो हनुमान जी पहले आतंकवादी है। इस संपादकीय में इसका तर्क भी यादव जी ने दिया था उनका कहना था कि हनुमान जी लंका में गए। यह धर्म का काम था परन्तु उन्होंने वहां आग लगाकर सब नष्ट किया, यह

¹ प्रेम भारद्वाज, पाखी, सं., अंक 12, वर्ष-3 सितम्बर 2011 पृष्ठ 112.

आतंकवादी कार्रवाही थी। कमोबेश ओसामा ने भी ऐसा ही किया था। यह संपादकीय बेहद साहसी व्यक्ति ही लिख सकता है। इस संपादकीय के बाद ‘हंस’ का कार्यालय छावनी में तब्दील हो गया था। इसको लेकर उन पर मुकद्दमे भी हुए। यही यादव जी की बेबाकी की निशानी थी कि उनको जो भी कहना है वो बिना परिणाम की चिंता किये कहते रहें। इसके बाद भी यादव जी की कलम की धार कम नहीं हुई। मुसलमान और अल्पसंख्यकों की समस्या के प्रति राजेन्द्र यादव बेहद संजीदा हैं। शीबा फ़हमी का स्तम्भ ‘पर्दा इधर पर्दा उधर’ शुरू करने के पीछे राजेन्द्र यादव की यही सोच थी कि वे युवा मुस्लिम वर्ग के विचार, उनकी समस्याओं को समझ सकें तथा ‘हंस’ के माध्यम से उस समस्या के दंश को मुखरित कर उसके समाधान तक पहुंचा जा सके। इस स्तंभ में शीबा फ़हमी ने लगातार मुस्लिम स्त्रियों की समस्याओं पर प्रकाश डाला। मुस्लिम समाज में तलाक और चार शादियों वाले मुद्दों पर शीबा द्वारा लिखे गये लेख मन को झकझोरते हैं। अल्पसंख्यकों की समस्याओं को भी ‘हंस’ में प्रमुखता से आवाज़ मिली है। इसमें ‘हंस’ का महत्व अविस्मरणीय है।

राजेन्द्र यादव जी ने हाशिये के संसार को ‘हंस’ के द्वारा मुख्यधारा से जोड़ा और लोकतांत्रिक तरीके को अपनाते हुए उन्होंने अपने विरोधियों के लेखों को भी प्रकाशित किया। इसी मार्ग पर ‘हंस’ ने अपने कदम बढ़ाये। अनगिनत असहमतियों के बावजूद कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि राजेन्द्र यादव ने अपने संपादकत्व में ‘हंस’ के माध्यम से हिंदी साहित्य जगत को अनेक विमर्शों से आंदोलित रखा। समाज को क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया। आज स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, अल्पसंख्यक, धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिकता आदि सभी इन हाशिये के मुद्दों को केंद्र में लाने में हंस का बहुत महत्व है। ‘हंस’ जो एक गंभीर साहित्यिक पत्रिका है, का अनवरत निकलते रहना निश्चित रूप से एक कीर्तिमान है।

तृतीय अध्याय

स्त्री-विमर्श :- विविध आयाम

तृतीय अध्याय

स्त्री-विमर्श :- विविध आयाम

3.1 स्त्री-विमर्श :- एक अवलोकन

विमर्श के रूप में स्त्री-विमर्श का अस्तित्व साहित्य लेखन के शुरूआती दौर में नहीं था, परन्तु निश्चित रूप से स्त्री मुद्दों पर आधारित प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लेखन हो रहा था। स्त्री की विलुप्त होती अस्मिता का प्रश्न स्त्री-विमर्श की केन्द्रीय चिन्ताओं में से प्रमुख चिन्ता थी। विमर्श के माध्यम से स्त्रियाँ अपने जीवन के उन तमाम पक्षों पर सजगता से विचार करने लगीं, जिन्हें महिमामंडित कर दिया जाता था और स्त्रियों को सहज जीवन जीने नहीं दिया जाता था। ‘हंस’ पत्रिका के माध्यम से ‘स्त्री विमर्श’ को नया मुकाम हासिल हुआ। इस दिशा में ‘हंस’ ही ऐसी एक मात्र पत्रिका थी जिसने स्त्री-अस्मिता की आवाज़ को बुलंद किया तथा उसे हिंदी चेतना में अनिवार्य रूप से शामिल किया। स्त्री-विमर्श पर विस्तृत चर्चा करने से पूर्व यह जानना अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि ‘विमर्श’ शब्द के क्या मायने हैं।

3.1.1 विमर्श का अर्थ

‘विमर्श’ शब्द अंग्रेजी ‘डिस्कोर्स’ (Discourse) का हिंदी अनुवाद है। जिसका अर्थ होता है विवेच्य विषय से संबंधित बातचीत, विवेचन, भाषण, परामर्श, जांच-परख, तर्क, ज्ञान, गुण-दोष की पड़ताल। विमर्श वास्तव में किसी अवधारणा को बहस, चर्चा, जाँच पड़ताल के माध्यम से किसी तर्कसंगत नतीजे तक लेकर जाने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है, जो किसी वैचारिकी का कई आयामों के द्वारा गंभीर अध्ययन, विवेचन करती है। विमर्श के अर्थ को इस प्रकार और स्पष्टता से ग्रहण किया जा सकता है कि विमर्श एक स्वस्थ बातचीत का ऐसा जरिया है जिसमें किसी भी मुद्दे या समस्या को केवल परंपरागत दृष्टिकोणों से नहीं आंका जाता बल्कि उस पर विचार करने के लिए विभिन्न मानसिकताओं, दृष्टिकोणों, वैचारिक प्रतिबद्धताओं

को भी महत्वपूर्ण माना जाता है तथा फिर उसका समग्रता से मंथन और मूल्यांकन किया जाता है। मूल्यांकन के बाद तर्कसंगत निष्कर्ष प्राप्त किये जाते हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि विवेचन, विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को अंतिम निर्णय के रूप में किसी पर भी जबरन थोपा नहीं जा सकता। समय परिवर्तनशील है तो निष्कर्ष में भी समयानुरूप बदलाव आना स्वाभाविक है। यदि समय की मांग है कि पूर्व प्राप्त निष्कर्ष अब कारगर साबित नहीं हो रहे हैं और उनमें बदलाव आना चाहिए तो नए रूप में उन्हें परिवर्तित करने का भी अवकाश रहता है।

विमर्श शब्द को स्पष्ट करते हुए रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं कि विमर्श का अर्थ है “वर्ण्य विषय पर सुदीर्घ एवं गंभीर चिंतन-मनन। (A long and serious treatment or discussion of subject in speech or writing)¹ अतः जब किसी विषय को ध्यान में रखकर सभी दृष्टियों से चिंतन, चर्चा, पक्ष-विपक्ष, परामर्श, गुण-दोषों का मूल्यांकन, आलोचना, जांच-परख, सलाह-मशवरा आदि किया जाता है, वही विमर्श कहलाता है।

¹ रोहिणी अग्रवाल, साहित्य का स्त्री स्वर- पृष्ठ सं. 7

3.1.2 स्त्री-विमर्श का अर्थ और स्वरूप

विमर्श के इसी अर्थ के संदर्भ में स्त्री-विमर्श का अर्थ है स्त्री की परंपरागत छवि और पहचान से अलग एक नयी मजबूत छवि तथा पहचान को बनाना। स्त्री-विमर्श ने स्त्री के अधिकार, अस्तित्व, उसकी अस्मिता को प्रमुखता दी तथा समाज में उसके मानवीय रूप को प्रतिष्ठापित करने में सराहनीय योगदान दिया है। स्त्री-विमर्श शब्द 'स्त्री' और 'विमर्श' से मिलकर बना है। जिसका अर्थ हुआ स्त्री के अस्तित्व, उसके जीवन से संबंधी विभिन्न पहलुओं पर किया गया सम्यक् अध्ययन। विचार विनिमय के द्वारा स्त्री के जीवन संघर्ष तथा उसकी अस्मिता की गरिमा की रक्षा के विषयों को समाज में उपस्थिति प्रदान करना। स्त्री-विमर्श पूरे विश्व से जुड़ी वैश्विक विचारधारा है जो स्त्री को नए ढंग तथा नए दृष्टिकोणों से देखे जाने की अपेक्षा तथा प्रेरणा देता है। स्त्री-विमर्श ये शब्द अपने में एक अत्यंत गूढ़ अर्थ संजोय हुए हैं। इसमें स्त्री की मुक्ति के साथ-साथ स्त्री के अस्तित्व, अस्मिता, गरिमा, स्वाभिमान की चेतना के भावों को पल्लवित करने के भाव निहित होते हैं। स्त्री का अपने शरीर पर हक, अपने अस्तित्व, अपने जीवन के प्रत्येक छोटे बड़े निर्णय अपने विवेक से लेने के लिए, उसे आर्थिक आत्मनिर्भर बनाने में स्त्री-विमर्श कार्य कर रहा है।

स्त्री-विमर्श के आधार पर पुरुष समाज की व्यापक निंदा की जाने लगी, जबकि स्त्री-विमर्श पुरुषों के खिलाफ कतई नहीं है। यह पुरुषों द्वारा बनाई गयी उस व्यवस्था का विरोधी है, जिसने स्त्रियों को अन्या की श्रेणी में रख दिया। उसे उसके सारे अधिकारों से वंचित रखा। स्त्री-विमर्श अपने अधिकारों, अपने हक के लिए पैरवी करता है। स्त्री-विमर्श पुरुषों का विरोध नहीं करता बल्कि उसके भीतर जो पाशविक प्रवृत्ति निहित है, जो काफी हद तक अपनी सीमा पार करती जा रही है, उसका पुरजोर विरोध स्त्री-विमर्श मुख्य उद्देश्य है। दरअसल स्त्री-विमर्श केवल पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था के विरोध तक ही सीमित नहीं है। स्त्री-विमर्श द्वारा स्त्री-पुरुष संबंधों में एक ऐसी स्वस्थ समझ उत्पन्न करना है, जो मानवीयता पर टिकी हो जिसमें कोई पक्ष स्वयं को दूसरे से श्रेष्ठ न

समझे, उसे अपनी पैतृक संपत्ति न माने, न ही ये विचार अपने मन में रखें कि उसके बिना दूसरा पक्ष अपनी रक्षा कर ही नहीं सकता।



आज का दौर सोशल मीडिया का दौर है, जहाँ विचारों का आदान प्रदान विभिन्न माध्यमों से होता है। कभी-कभी व्यक्ति कुछ विचारों को बिना एक बार भी सोच विचार करें ही प्रसारित कर देते हैं, जो बिना विचार करे प्रसारित नहीं करना चाहिए। इससे समाज में गलत संदेश प्रसारित होता चला जाता है। इस चित्र को व्हाट्सएप के द्वारा लोग लगातार प्रसारित कर रहे हैं और स्त्रियों को इसके द्वारा चेताया जा रहा था। यह विचार स्त्री की स्वतंत्रता को आहत कर रहा है। जो स्त्री की स्वतंत्रता को एक मकड़जाल की सीमितता में बांध तो रहा ही है, साथ ही इस चित्र के द्वारा स्त्री को बार-बार ये स्मरण करवाया जा रहा है कि उसे संरक्षण की आवश्यकता हमेशा रहेगी। कछुए के शरीर पर जो कवच होता है वो प्रकृति द्वारा उसे प्राप्त है। जो उसके शरीर का अभिन्न हिस्सा है। क्या स्त्री को भी प्रकृति द्वारा ऐसा कोई कवच मिला है? नहीं, स्त्री मानवीय रूप में पैदा हुई है। स्त्री को जबरन कृत्रिम रूप का कवच समाज द्वारा पहनाया जाता है। जबरन उसे संरक्षण में रखने की जो व्यवस्था पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने बना दी है उसी को यह चित्र व्याख्यित कर रहा है। यह निर्धारित करने का अधिकार किसी को नहीं है कि स्त्री को स्वतंत्रता उसकी असुरक्षा की शर्तों पर मिलेगी। उसे प्रतिपल यह समझाया जाता है कि यदि वह स्वतंत्र होना भी चाहती हैं तो सीमित दायरे में ही रहें वरना अपनी असुरक्षा का खामयाजा उन्हीं को भुगतना पड़ेगा। यहाँ मुक्ति और

स्वतंत्रता के सही अर्थों को समझना जरूरी हो जाता है। स्वतंत्रता का अर्थ इस रूप में समझा जा सकता है कि अपने जकड़े हुए अस्तित्व को मुक्त, समर्थ, सशक्त करना तथा संघर्ष करना। अपने अस्तित्व को पहचानना तथा उसे निरंतर विकसित करते चलना। जरूरत है चीजों को आत्मसात करके परंपरागत, कुंठित ढांचों को बदलने की। मुक्ति बाहरी चीज़ नहीं है। उसे कोई दे या दिला नहीं सकता। स्त्रियों की मुक्ति के लिए खुद स्त्रियों को अपने भीतर से वो शक्ति प्राप्त करनी होगी जिससे वो बाहरी कवच (खोल) जिसमें वो जकड़ दी गयी हैं, खुद ब खुद टूट जाएं और स्त्री मुक्त हो पाएं।

समाज के दैनिक जीवन में न जाने कितने अपराध स्त्रियों के साथ हो रहे हैं तथा स्त्रियां उनसे लड़कर संघर्ष भी कर रही हैं। समाज में जागरूकता भी प्रसारित कर रही हैं। अभी हाल ही में समाज को असमानता का आईना दिखाता एक अटपटा मगर दिलचस्प मामला देखने में आया। यह मामला एक मुस्लिम नवविवाहित जुड़े से संबंधित है, जिसमें नवविवाहित जोड़े ने सोशल मीडिया पर एक सेल्फी पोस्ट की तथा साथ में जो भी लिखा उससे पितृसत्तात्मक मानसिकता पर कड़ी चोट पड़ी है। दरअसल इस सेल्फी में आदमी ने बुर्खा पहना हुआ था। उसमें महिला ने अपने पति को संबोधित करते हुए लिखा है “ये मेरे पति हैं और बहुत खूबसूरत है, पर आप इनकी खूबसूरती नहीं देख सकते क्योंकि मैंने इनको बुर्खा पहनाया हुआ है। इनकी खूबसूरती ढकी हुई है क्योंकि उस खूबसूरती पर सिर्फ मेरा हक है। इनके सारे सपने, इनकी सारी उपलब्धियां, इनकी ज़िन्दगी सब कुछ मेरी मुट्ठी में है। मैं इनको घर पर रखती हूँ ताकि ये सुरक्षित रहें। मैं इनको सिर्फ इसी रेस्टोरेंट में खाना खिलाने लाती हूँ क्योंकि यहाँ के खाने में “ग्रोथ हॉर्मोन” नहीं मिलाया जाता। इस दवाई से फर्टिलिटी (पैदा करने की क्षमता) पर असर होता है। इसीलिए यहाँ लाती हूँ ताकि बच्चा पैदा करने की क्षमता में किसी प्रकार की आंच न आए क्योंकि इनका जन्म ही बच्चा पैदा करने के लिए हुआ है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो मैं माँ कैसे बनूँगी। मुझे बहुत अच्छा लगता है जब मेरे पति खुद को पूरा ढक कर घर से निकलते हैं ताकि किसी परायी औरत की नज़र न पड़े अगर वे शोषित हो गये तो मेरी ही इज्जत जाएगी और मरने के बाद ही उस औरत को सजा मिलेगी क्योंकि हम कुछ

नहीं कर सकते, पर मैं कुछ भी पहन सकती हूँ क्योंकि मैं औरत हूँ, सड़क पर मुझे कोई छेड़ने वाला नहीं है। मैं ताकतवर हूँ, बराबरी में यकीन रखती हूँ इसीलिए अपने पति को नौकरी करने देती हूँ, गाड़ी चलाने देती हूँ। सोचिये मैं कितनी मॉडर्न हूँ”¹ उदाहरण थोड़ा विस्तृत है परंतु घटना को समग्रता में समझने के लिए आवश्यक है। इस पूरी बात को लिखने में महिला ने तीखी व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। इसमें स्त्री और पुरुष के सामाजिक किरदार आपस में बदल दिए गए हैं। जो मानदंड, रूढ़ियाँ स्त्रियों के लिए प्रचलित हैं और समाज में सहज रूप से स्वीकार्य भी हैं। वही बातें यहाँ इस पुरुष के लिए लिखी गयी हैं। जो समाज को सुनने भर के लिए भी अटपटी लग रही हैं परन्तु यह वाक्या हमें सोचने पर विवश कर देने वाला है। विडंबना की बात यह है कि जो नियम कानून स्त्रियों पर तो बड़ी आसानी से थोप दिए जाते हैं, पर बात जब पुरुष के विषय में आती है तो वही नियम हास्यस्पद क्यों लगने लगते हैं?

स्त्री-विमर्श का उद्देश्य पुरुष हो जाना या उनकी तरह बन जाना नहीं होता। पुरुष समाज की बराबरी उनका केंद्र बिंदु नहीं रहा है बल्कि अपनी पहचान की तलाश तथा उसे स्थापित करना मुख्य माना जाता है परन्तु कभी-कभी स्त्रीवाद का अतिरूप भी सामने आ जाता है जिसमें स्त्रियाँ खुद जो पीड़ा वर्षों से सहती आ रही हैं, स्त्रियाँ उसी पीड़ा को पुरुष समाज को भी महसूस करवाना चाहती हैं। पुरुषवादी विचारधारा जिसके आधार पर स्त्रियाँ पुरुषों को हमेशा कटघरे में खड़ा करती रही हैं, उसी विचार को आत्मसात करके तसलीमा नसरीन एक कविता लिखती हैं जिसमें वो खुद पुरुष हो जाना चाहती हैं। वो स्वयं पुरुष जैसे ही व्यवहार करना चाहती हैं वे लिखती हैं- “ये पुरुष जो है न स्त्रियों को खरीद के लाते हैं, घर में उसका मनमाना इस्तेमाल करते हैं और उसके बाद लात मारकर भगा देते हैं उसको। उसने कहा, मेरी भी इच्छा होती किसी लड़के को ऐसे ही लाऊँ और ऐसे ही उसका उपभोग करूँ, मेरी बड़ी इच्छा होती है, लड़के खरीदने की, जवान लड़के, छाती पर उगे घने बाल, उन्हें खरीदकर, पूरी तरह रौंदकर, उनके सिकुड़े हुए अंडकोष पर जोर से लात मारके

¹ <https://youtu.be/hrWSAa5nPQC> प्रकाशित- 9 अप्रैल 2019 (Oddnaari.)

कहूँ-भाग सालो।”¹ यह स्त्री आवेश है जो स्त्री के कटु सत्य को, उसके भीतर की तड़प को उजागर करती है। समाज में स्त्री की स्थिति एक खरीदे हुए खिलौने की तरह बना दी जाती है। जब जी चाहा खरीद लो तथा जब मन भर जाये उसे फेंक दो, उसकी अवहेलना करो। इसी दयनीय स्थिति का तसलीमा नसरीनजी पुरुष को एहसास करवाना चाहती हैं। स्त्री-विमर्श की यह उग्र प्रतिक्रिया है। स्त्री-विमर्श का लक्ष्य पुरुष वर्ग की अवहेलना नहीं है। यदि स्त्रियों द्वारा समस्त पुरुषों वर्ग की अवहेलना शुरू कर दी जाएगी तो स्वयं स्त्रियाँ भी अधूरेपन की शिकार हो जाएंगी। स्त्री-विमर्श का मकसद मातृसत्ता को महिमामंडित करना भी नहीं रहा है क्योंकि उसमें स्त्रियों को पवित्रता के जाल में बांध दिया जाता है। स्त्रियों ने उस पवित्रता के भाव को भलीभांति आत्मसात किया है। इस भाव द्वारा उसे अबला समझा जाता है तथा अब स्त्रियों को यह स्वीकार्य नहीं है। स्त्री-विमर्श के माध्यम से स्त्री इस समाज में अपने मानवीय अधिकारों की प्राप्ति एवं उत्तरदायित्वों को पहचान कर उन्हें पूर्ण करने का प्रयास करती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियाँ अपने लिए उन समान अधिकारों की मांग करती हैं जो अधिकार पुरुष को प्राप्त हैं। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियाँ लम्बे अरसे तक बिल्कुल नदारद रही हैं। उसे केवल और केवल देह तथा योनि समझा गया। पुरुषों ने उसे अपनी निजी संपत्ति समझकर उसका हर तरह से शोषण किया चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक। स्त्रियों पर जिम्मेदारियों का भार तो थोप दिया जाता है परन्तु अधिकारों से वंचित रखा जाता है।

शिक्षा के माध्यम से आज स्त्रियाँ कुछ हद तक अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई हैं परन्तु अपने जीवन में व्यवहारिक रूप से उनको कितना अपना पाती है, इसकी स्थिति अत्यंत नगण्य है। परिवार के आगे स्त्री कमजोर पड़ जाती हैं तथा कुछ पीड़ा वो मूक होकर केवल अपने बच्चों की खातिर सहती जाती हैं। ऐसी आंतरिक पीड़ा हर दूसरी औरत की कहानी है, इसलिए आज स्त्रियाँ पुरुषवादी वर्चस्व को खुद पर थोपे जाने का विरोध करती हैं। पुरुष की विलासिता का साधन बनना आज उसे कतई मंजूर नहीं है।

¹ वीर भारत तलवार , स्त्री-विमर्श : इससे दयनीय कोई दूसरा विमर्श नहीं है हिंदी में: (<https://tirchhispeelling.wordpress.com/> tag/स्त्री -विमर्श/)

स्त्री-विमर्श की वैचारिकी को समझने के लिए स्वस्थ स्त्रीवादी दृष्टिकोण होना अपरिहार्य है। स्त्रियों के अपने स्वतंत्र विचार, नियम, जीवनमूल्य, इच्छाएं होती हैं। स्त्री मुक्ति को इसी रूप में स्वीकारने तथा व्याख्यायित करने की जरूरत है। प्राचीन काल से लेकर आज तक समाज, साहित्य, संस्कृति में स्त्रियों के लिए जो धारणाएं स्थापित कर दी गयी हैं वो पुरुषवादी मानसिकता से निर्मित है। “स्त्री-विमर्श में उठने वाले सवाल महज स्त्रियों से जुड़े हुए ही नहीं, अपितु उनसे हमें पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मापदंडों, पैतृक मूल्यों, लिंगभेद की राजनीति और स्त्री उत्पीड़न के अंतर्निहित कारणों को समझने की भी गहरी दृष्टि प्राप्त होती है।”¹ कभी स्त्री को देवी बनाकर पूजा गया तो कभी भोग की वस्तु बनाकर उसकी आत्मा को छलनी किया गया। स्त्री को पाप और भोग की वस्तु बना दिया गया। वास्तव में देखा जाए तो स्त्रियों को न देवी रूप स्वीकार्य है न ही वो दानवी रूप चाहती हैं। वह केवल अपने मानवीय रूप में रहना चाहती हैं परन्तु उसके इसी रूप की हमेशा पुरुषसत्ता द्वारा उपेक्षा की जाती रही है। स्त्री-विमर्श का लक्ष्य पितृसत्तात्मक पुरुषवादी और सामंती व्यवस्था को पुरजोर विरोध तथा एक समतामूलक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है और स्त्री के अस्तित्व की वास्तविक पहचान करना है। स्त्री की स्थिति को स्पष्ट करते हुए रोहिणी अग्रवाल स्त्री-विमर्श की धारणा को इस प्रकार देखती हैं- “स्त्री को केंद्र में रखकर समाज, संस्कृति, परम्परा एवं इतिहास का पुनरीक्षण करते हुए स्त्री की स्थिति पर मानवीय दृष्टि से विचार करने की अनवरत प्रक्रिया। स्पष्ट है कि स्त्री-विमर्श के अंतर्गत अतीत या समकालीनता प्रमुख नहीं रहती वरन् भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों कालखंडों पर एक-दूसरे की अन्वती एवं संगति में विश्लेषण करने का भाव प्रधान रहता है। स्त्री-विमर्श स्त्री चेतना के प्रसार का आख्यान है।”²

सदियों से सामंती व्यवस्था के वर्चस्व तथा पितृसत्तात्मक मानसिकता के चलते स्त्री को हमेशा मानवीय जीवन की मुख्य धारा से वंचित रखा गया तथा उसे दोयम दर्जे का स्थान देकर असम्मान की निगाह से देखा गया। स्त्रियों से ये अपेक्षा की जाती है कि वो पति की आराधना करें। यह स्त्रियों

¹ राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श – पृष्ठ सं. 9.

² रोहिणी अग्रवाल, साहित्य का स्त्री स्वर- पृष्ठ सं. 7.

का कर्तव्य माना जाता है। अगर वह ऐसा नहीं करती तो दंड की हकदार हो जाती हैं। समाज में स्त्री का जो परम्परागत स्वरूप व्याप्त है, उसे नए रंगों से रंगकर, नयी उम्मीदों के साथ, रूढ़ियों को तोड़कर बदलाव लाने की जरूरत है क्योंकि वो परम्परागत छवि स्त्रियों को सहज रूप से जीवन जीने नहीं देती।

स्त्री को सदैव उसके मौलिक अधिकारों से वंचित रखा गया। उसे छोटे से छोटे निजी निर्णय लेने का भी अधिकार नहीं दिया गया तथा अपनी प्रत्येक इच्छा के लिए उसे पुरुषों की आज्ञा का मोहताज होना पड़ता है। स्त्रियों को अपने ही शरीर पर अधिकार नहीं होता है। उसे उस कठपुतली के समान संवेदनहीन समझा जाता है जो दूसरों के इशारे तथा निर्देशों का पालन करती हैं। उसे यह निर्णय लेने का अधिकार भी नहीं होता कि वह गर्भधारण करना भी चाहती हैं या नहीं और कभी-कभी गर्भ की जाँच के बाद लड़की पाए जाने पर जबरन गर्भपात का दंश भी स्त्रियों को ही झेलना पड़ता है। स्त्री-विमर्श पुरुष तथा स्त्रियों के बीच इसी असमानता को दूर कर के सकारात्मक सोच उत्पन्न करना चाहता है। “स्त्री-विमर्श अथवा नारीवाद पुरुष व स्त्री के बीच नकारात्मक भेदभाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री-विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है”¹

वर्तमान समाज में स्त्रियों के सामने कई चुनौतियां हैं। स्त्रियों को अपनी रोजाना जिंदगी में मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के शोषण का शिकार होना पड़ता है। स्त्रियों ने इन सब शोषण के प्रश्नों को स्त्री-विमर्श द्वारा कठघरे में खड़ा किया तथा इन्हीं को चिंतन का आधार बनाया गया। आधी दुनिया का अस्तित्व, उसकी अस्मिता, उसका वर्तमान, उसका भविष्य उसके सरोकार सब इनमें निहित हैं।

¹ सं राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ –अक्टूबर 1996 पृष्ठ. 75.

स्त्री-विमर्श स्त्रियों द्वारा झेली जा रही बाह्य तथा आंतरिक दोनों प्रकार की छटपटाहट को अभिव्यक्ति देता है। एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें स्त्री तथा पुरुष के बीच समानता की इतनी गहरी फांक हो उस पर प्रश्नचिन्ह लगाना लाजमी है। जहाँ स्त्रियों के प्रति दमनात्मक व्यवहार हो ऐसी सामाजिक व्यवस्था को एक नए परिपेक्ष्य में देखा जाना तथा उसमें परिवर्तन लाना अत्यंत आवश्यक है। पुरुषों ने स्त्रियों को घरेलू कामों के उत्तरदायित्वों तथा मर्यादा में इस कदर बाँधा कि उसकी स्थिति दिन-प्रतिदिन बदतर होती गयी तथा पुरुष के सत्तात्मक रवैये को तूल मिलता गया। भले ही स्त्रियाँ आज घरेलू जीवन से बाहर निकली हैं, कामकाजी हो गयीं पर इससे उनका कार्यभार दुगुना हो गया है, परन्तु स्थिति में कुछ खास सुधार नहीं आया। स्त्री-विमर्श में पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के प्रत्येक अंतर्विरोध के बारे में पूरी सजगता के साथ विचार विमर्श और चिंतन किया जाता है क्योंकि इसी चिंतन से स्त्री मुक्ति के सभी प्रश्नों के समाधान को खोजा जा सकता है। मूल्यों, आदर्शों के नाम पर स्त्रियों को हमेशा ठगा गया है। इसी ठगी तथा शोषण के खिलाफ स्त्री-विमर्श लामबंद है।

स्त्री-विमर्श ने सदैव स्त्री के जीवन के उन पक्षों के यथार्थ को समाज के सामने लाने का खतरा मोल लिया जिनके कारण उसके अस्तित्व को कमतर आँका जाता है तथा उनकी निंदा भी की जाती है। खुद के वजूद की गरिमा को प्रतिष्ठापित करने के लिए, अपने हक, अपने अधिकारों की मांग के लिए स्त्रियों ने संघर्ष का मार्ग अपनाया। यह संघर्ष स्त्रियों के लिए आत्मबोध तथा अपनी अभिव्यक्ति की आवाज़ को बुलंद करने का संघर्ष था। मैत्रेयी पुष्पा स्त्री-विमर्श पर चिन्तन करके उसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट करती हुई लिखती हैं- “नारीवाद ही स्त्री-विमर्श है। नारी की यथार्थ स्थिति के बारे में चर्चा करना ही स्त्री-विमर्श है।”¹ आज स्त्रियाँ अपने अस्तित्व, अपने वजूद की रक्षा का स्वयं बीड़ा उठा रही हैं। स्त्रियों ने समाज के समक्ष परम्परा से वर्चस्व में रही पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था का असली चेहरा आईने में दिखाया है जिसमें वो स्त्रियों का शोषण करते

¹ सं राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ –अक्टूबर 1996 पृष्ठ. 75.

प्रतिबिम्बित होते हैं। स्त्री-विमर्श स्त्रियों को पशु के समान जबरन जीने, गुलामी तथा अपने हक की लड़ाई हेतु विद्रोह के लिए तैयार करता है। इसी शोषण की प्रवृत्ति को ही समाप्त करने तथा समता की व्यवस्था के विचार ने ही स्त्री-विमर्श के विचारों को प्रफुल्लित किया है। स्पष्ट: आत्मगौरव, समानाधिकारों के लिए की गई पहल का ही अन्य नाम स्त्री-विमर्श है।

स्त्री-विमर्श स्त्री-पुरुष के शारीरिक तथा प्राकृतिक विभेदों का सम्मान करता है तथा इन विभेदों को आवश्यक भी मानता है। स्त्री-विमर्श सर्वोच्चता नहीं चाहता बल्कि, वह समता चाहता है, इसीलिए विमर्श के माध्यम से स्त्रियों को अन्याय तथा अत्याचार के प्रति लड़ने की शक्ति प्रदान करता है। इन्हीं विचारों को केन्द्रित करके अर्चना वर्मा लिखती हैं- “स्त्री-विमर्श एक ऐसे समाज के स्वप्नों को साकार करना चाहती है, जो अन्याय की नयी समझ पर आधारित हो, समता पारस्परिकता के सौहार्द और ऊष्मा से पगा हो।”¹

स्त्री-विमर्श की सबसे त्रासद स्थिति यह है कि स्त्री-विमर्श के कई रचनाकार स्त्री-विमर्श को देह- विमर्श तक सीमित कर देते हैं। सदियों से हो रहे शोषण का मुद्दा तब गौण बन जाता है तथा स्त्रियाँ केवल वस्तु तथा अपनी देह में सिमटने लगती हैं। उसकी देह पर विचार प्राथमिक मुद्दा बन जाता है तथा स्त्री धार्मिक बंधनों की बंधी ही बनी रह जाती हैं। इससे मुक्त अभी स्त्री नहीं हो पाई हैं। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि स्त्री अपनी देह के कारण ही हमेशा से शोषित होती आई हैं परन्तु आज का पूंजीवादी दौर ऐसा है जिसमें स्त्री के प्रत्येक अंग को वस्तु की तरह बेचा तथा इसे व्यापार का माध्यम बनाया जा रहा है और इसे स्त्री मुक्ति का नाम दिया जा रहा है। सुधीर पचौरी लिखते हैं - “दैहिक विमर्श में जाए बिना और देह को जगाए बिना स्त्री को न पढ़ा जा सकता है और न ही स्त्रीवाद को समझा जा सकता है”² अब यहाँ ये प्रश्न सामने आते हैं कि क्या स्त्री के शरीर को केवल वस्तु मानकर उस वस्तु को उपभोग के योग्य बनाने को स्त्री मुक्ति से जोड़कर देखा जा सकता है? क्या स्त्री को केवल शरीर मानना उचित है? उस शरीर में एक आत्मा भी विद्यमान होती

¹ सं राजेन्द्र यादव, 'हंस' -सितम्बर 2009, पृष्ठ. 11.

² राजेन्द्र यादव, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, , पृष्ठ सं. 207.

है क्या उसका कोई मूल्य नहीं होता? क्या समाज का आधा हिस्सा होते हुए उसे मानवीय सम्मान नहीं मिलना चाहिए? इन प्रश्नों की तह में जाना तथा समाधान खोजना स्त्री मुक्ति के वास्तविक उद्देश्य होते हैं। अपनी पहचान, शक्ति और सत्ता को जानने की स्त्रियों में आकुलता होना ही स्त्री-विमर्श है।

जिस पुरुषसत्तात्मक समाज में हम रह रहे हैं। उसमें अभी भी वर्चस्ववादी सोच पुरुषों पर इतनी हावी रहती है कि जो पुरुष खुद को घोषित नारीवादी साबित करते हैं। उनके भीतर भी कोने में एक ऐसा पुरुष छिपा बैठा रहता है। समय आने पर वो छिपा पुरुष उनके नारीवादी होने के नकाब को इस कदर उठाता है कि वे पुरुष अपने इस नए रूप जिसमें उसका असली चेहरा दिखता है, को स्वयं पचा नहीं पाते क्योंकि अततः वो भी स्त्री को अपनी वर्चस्ववादी सोच से भोग्या ही मानकर अपमानित करते हैं, तथा अपने इस दोहरे चरित्र से वो खुद कुंठित महसूस करने लगते हैं। जरूरत है समस्या की असली जड़ को समझने की और वो है उनकी मानसिकता जबतक पुरुष अपनी मानसिकता को नहीं बदलते तब तक वो इस ओड़ी हुई विचारधारा को बोझ की तरह ढोते रहेंगे

समय के साथ-साथ स्त्रियों के शोषण के स्वरूप तथा स्त्रियों की समस्याओं में लगातार परिवर्तन हो रहा है। यौन शोषण, हिंसा, बलात्कार, एसिड अटैक आदि से संबंधी कानूनों को सख्त तो किया जा रहा है, परन्तु फिर भी घटनाओं के आंकड़े कम होने के स्थान पर लगातार आसमान छूते जा रहे हैं। पुरुष द्वारा दिए गये इन शोषणों के दंश को समाज स्त्रियों को ताउम्र भूलने नहीं देता तथा स्त्रियाँ हर पल घुटन, तनाव का शिकार रहती हैं। इन घटनाओं पर अंकुश लगाना मुश्किल होता जा रहा है। एक तरफ तो समाज में भौतिक सुविधाओं का विकास हो रहा है। शिक्षा के स्तर में सुधार हो रहा है, वहीं समाज के दूसरे पक्ष पर गौर किया जाए तो हर दिन स्त्रियों के साथ लगातार नृशंस कृत्य के मुद्दे देखने को मिलते हैं। आमतौर पर विमर्श अपने देशकाल, समाज में फैली कुरीतियों से प्रभावित होता है साथ ही विमर्श इस सामाजिक असंतुलन को चुनौती देता है। कोई युग जिन-जिन सवालों से जूझ रहा होता है, उससे संबंधित जो बौद्धिक व्यवहार समाज अपनाता है। वह उस

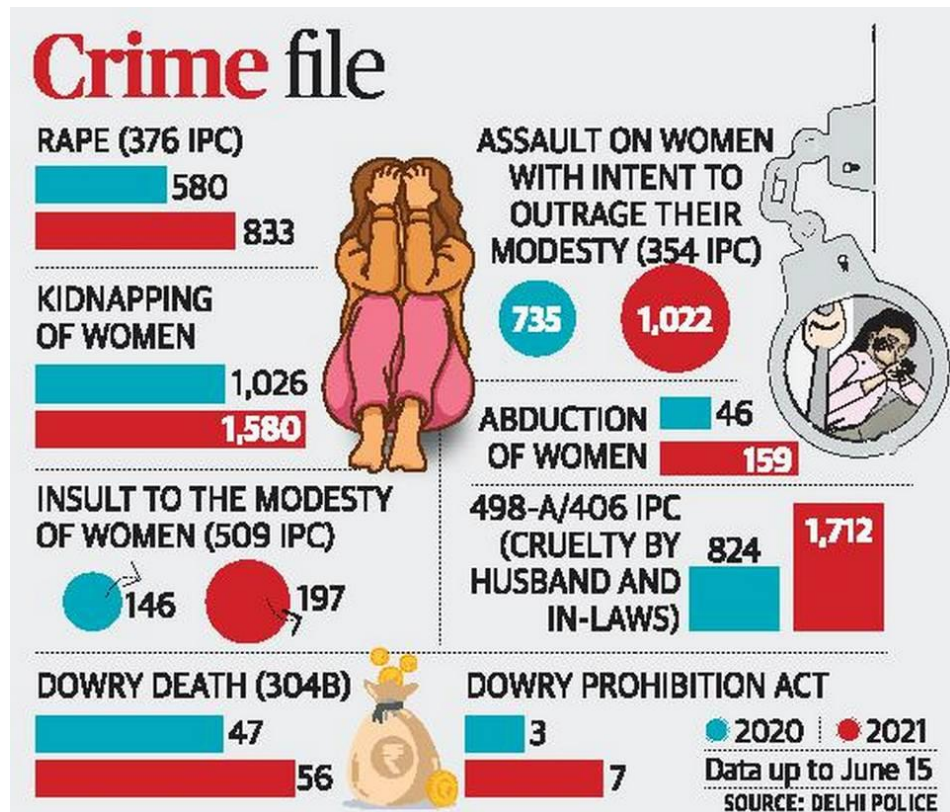
विशेष अवधि में उस समाज का मुखर अवचेतन कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए दिसम्बर 2012 के दामिनी बलात्कार का देशव्यापी आक्रोश देखें। सड़कों पर जो जनसैलाब दामिनी के पक्ष में उतरा था, उससे संचार माध्यमों पर पक्ष-विपक्ष में लगातार बहसों ने जन्म लिया। कोई दामिनी के बलात्कार के लिए अपराधियों को मृत्युदंड का हकदार मानकर न्याय की मांग कर रहा था तो कोई अपने पुरातनपंथी मंतव्यों से ये कहने में भी नहीं हिचकिचा रहे थे कि लक्ष्मण रेखा टूटेगी तो रावण तो लेकर जाएगा ही। रात के समय लड़कियां बाहर निकलती ही क्यों है? इस तरह अनेक उग्र से लेकर संतुलित अभिव्यक्तियों को स्त्री-विमर्श की विशाल वास्तविक परिघटना कहा जा सकता है। इस मामले के बाद तो ऐसे अनेक मामलें हमारे सामने रोज आते हैं। भारत में रोजाना सैकड़ों स्त्रियों की इज्जत को यूँही तार-तार किया जाता है। “बलात्कार का मामला अब सिर्फ औरत, मर्द या क्षणिक वासना-उन्माद तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि शहजोरी पर आ गया है, जिसका सबसे बड़ा कारण सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें न संतुलन रह गया है न अनुशासन और न ही उचित न्याय।”¹

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो 2019 की रिपोर्ट के मुताबिक देश में 2019 वर्ष में प्रतिदिन बलात्कार के औसतन 87 मामलें दर्ज हुए और साल भर के दौरान महिलाओं के खिलाफ अपराध के कुल 405861 मामले दर्ज हुए जो 2018 की तुलना में 7 प्रतिशत अधिक है।

द हिन्दू ने 7 जुलाई 2021 को एक रिपोर्ट² जारी की जिसके आंकड़े बेहद चिंताजनक और शोचनीय हैं। रिपोर्ट के अनुसार महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों में 63% का इजाफा देखने को मिला है। दिल्ली पुलिस द्वारा दिये गए आंकड़ों से स्पष्ट हुआ कि 2021 के पहले छः महीनों में 2020 वर्ष की अपेक्षा महिला अपराध 63.3% बढ़े हैं। जो एक गंभीर विषय है।

¹ नासिरा शर्मा, लेख- कहीं तो थमना होगा हमें (स्त्री सुरक्षा का सवाल)-, जनसत्ता 2 सितंबर, 2018 पृष्ठ सं. 7.

² <https://www.thehindu.com/news/cities/Delhi/crimes-against-women-saw-over-63-rise-in-2021-so-far/article35181148.ece>



ये तो वह संख्या है जो पुलिस थाने में दर्ज की जाती है, न जाने इससे कितने गुना ऐसे और मुद्दे होंगे, जो गुमनाम गालियों में ही दबा दिए जाते हैं। जो अखबारों तथा टीवी चैनलों की सुर्खियाँ ही नहीं बन पाते। जो घर की इज्जत बचाने के कारण दर्ज ही नहीं कराए जाते। इतने महत्वपूर्ण मुद्दे पर उचित अनुशासनात्मक कार्रवाई क्यों नहीं की जाती? कुछ घटनाएं तो ऐसी होती हैं जिन पर तत्काल कार्रवाई होनी चाहिए, न कि केवल सोच विचार। जहाँ गवाह भी मिल जाते हैं वहाँ भी न्याय मिलने में इतना विलंब क्यों होता है? स्त्री के साथ हुए दुर्व्यवहार को समाज बहुत हल्के में लेता है तभी बलात्कारियों के हौसले बुलंद होते हैं। उल्टा समाज शोषित महिला को ही दोषी (victim blaming) घोषित करने में लग जाता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि स्त्रियों का जीवन कितना जोखिम भरा बना दिया गया है। समाज की इन्हीं समस्याओं से प्रत्येक स्त्री को जागरूक करना ही स्त्री-विमर्श का प्रयास रहा है।

आपराधिक, कुंठित तथा पाशविक वृत्ति से ग्रसित पुरुष को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि स्त्री किस आयु वर्ग से संबंधित है। वर्तमान स्थितियाँ तो इतनी अविश्वसनीय हो गयी हैं कि ऐसी

कुंठित मानसिकता वाला पुरुष ये भी नहीं देखता कि स्त्री किस स्थिति में है, जीवित स्त्री के साथ जबरन यौन संबंध तो वो बनाता ही आया पर अब उसको इस बात का भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि स्त्री जीवित है या नहीं। “शव के साथ अप्राकृतिक यौन संबंध बनाते पुरुष पाए गये हैं। इसे NECROPHILIA कहा जाता है। इसे रेप का स्थान नहीं दिया गया परन्तु यह अपराध के दायरे में आना ही चाहिए।”¹ यह समय जागरूकता फैलाने का समय है तथा पुरुषों को यह बात समझाने का है कि आप जानवर नहीं हैं कि हर प्रकार की भूख की तृप्ति के लिए किसी का भी शिकार कर लें। उनको यह अधिकार किसने दिया कि बिना स्त्रियों की सहमति के वो उन्हें छुए, उनके साथ जबरन दुराचार करें। मासूम बच्चियों को अपना शिकार बनाना तथा सबूत मिटाने की तर्ज में उन्हें जान से भी मार देना आज बहुत आम हो गया है। बलात्कार के मामलों की रोकथाम के लिए समाज में स्त्री-विमर्श के आन्दोलनों को चलाने तथा सफल बनाने के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि पुरुष की ऐसी पाशविक वृत्ति में बदलाव आए। पुरुष स्त्री को भोग्या न समझे तथा अपनी मानसिकता से उन पूर्वाग्रह तथा दुराग्रह को मिटा दें। अपने आंतरिक अवरोधों को छोड़कर पुरुषों द्वारा स्त्री की जो दयनीय स्थिति बना दी गयी है। उसमें सुधार के लिए संगठित होकर तथा समर्पित भाव से पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को मिलकर कार्य करना होगा, तभी स्त्री की मुक्ति संभव है।

¹ <https://youtu.be/cL2V4NIR> प्रकाशित- 19 दिसम्बर, 2018 (Oddnaari.)

3.1.3 स्त्री-विमर्श की धाराएं

(1) **उदारवादी नारीवाद :-** उदारवादी नारीवादियों ने स्त्रियों की समाज में यथार्थ स्थिति तथा उदारवादी नारीवाद ने समानता तथा मानवीय गरिमा के मूल्यों में व्याप्त अन्तर्विरोध को परखा तथा उसे समाज के सम्मुख स्पष्ट किया। उदारवादी नारीवाद ने स्वतंत्रता, जनतांत्रिक मूल्यों तथा महिलाओं की पुरुष समाज तथा पितृसत्ता के प्रति अधीनता पर भी विचार किया। लिंग के आधार पर घर, परिवार तथा समाज में स्त्रियों को जो अन्या की भूमिका की मिली है, इस पर विचार करते हुए उदारवादी नारीवाद ने उन रूढ़ियों, धारणाओं तथा मूल्यों को भी समझने की कोशिश की। जिसने स्त्रियों को दोयम दर्जा दिया। समाज में स्त्रियों की समानता तथा न्याय के विचारों को ध्यान में रखा तथा विवाह संस्था का भी इसमें मूल्यांकन किया गया। “यह उदारवाद का दर्शन था जो व्यक्तिगत आजादी के सिद्धांत पर आधारित था जिसका मतलब था चयन की स्वतंत्रता, समान अवसर, नागरिक अधिकार। ये तमाम विचार प्रबोधन और विवेक विधान के युग की विरासत थे। हालाँकि हकीकत और व्यवहार में देखें तो आजादी समानता और न्याय की धारणाएं महज पुरुषों पर लागू होती थीं।”¹

उदारवाद की विचारधारा व्यक्तिवाद पर बल देती है। इसमें व्यक्ति की अस्मिता तथा स्वतंत्रता को मुख्य माना गया है। इस स्वतंत्रता में व्यक्ति के अधिकार, समान अवसर, आर्थिक न्याय आदि को सम्मिलित किया गया है, लेकिन यह उदारवाद पुरुष तथा स्त्री में लिंग के आधार पर भेदभाव करता रहा है। स्त्रियों को पूर्ण नागरिक नहीं माना गया। हाब्स और लॉक ने स्त्रियों को कुछ अधिकार तो दिए परन्तु उन्होंने स्त्रियों को पुरुष के अधीन ही रखा। रूसो का विश्वास था कि स्त्रियां राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने में कुशल ही नहीं होतीं। Suzanne M, Marilley ने स्पष्ट किया है कि अमेरिका में स्त्री को मताधिकार न दिए जाने तथा इस बात का विरोध किए जाने के पीछे उनका पुरुषों से अलग होना माना जाता है। स्त्रियों की इन भिन्नताओं को इस रूप में देखा गया है। सबसे

¹ सं साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, नारीवादी रजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, , पृष्ठ. 22.

पहले यह माना गया कि स्त्रियों के जन्म का उद्देश्य पुरुषों की सेवा करने के लिए हुआ है। स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार कैसे दिए जा सकते हैं क्योंकि स्त्रियों ने पुरुषों से अपनी सुरक्षा मांगी तथा बदले में उनके अधीन रहना स्वीकार किया। इससे पुरुष का स्त्री पर स्वामित्व हुआ इसीलिए दोनों को समान अधिकार नहीं मिलने चाहिए। यदि उन्हें समान अधिकार दे भी दिए जाए तो उनका आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से इतनी सक्रिय होना सामाजिक संस्था तथा गृहस्थ जीवन के लिए खतरा बन जाएगा। सबसे हास्यस्पद कारण ये बताया जाता है कि स्त्रियों को नागरिकता का अधिकार इसीलिए नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि स्त्रियाँ अच्छी इन्सान होती हैं तथा अच्छे नागरिक बनने के लिए कभी-कभी बुरा व्यवहार भी करना पड़ता है। उदारवादी नारीवादियों में जॉन स्टुअर्ट मिल, क्रिस्टिन डी पिजान, मेरी वौलस्टोनक्राफ्ट, हैरियट टेलर, बैट्री फ्राइडन, ग्लोरिया स्टेनम, रेबिका वाकर, सिमोन द बोउवार आदि का स्थान महत्वपूर्ण है। मिल के विचार थे कि स्त्री-पुरुष में भले ही जैविक भिन्नताएँ होती हैं परन्तु इन भिन्नताओं का अर्थ यह नहीं कि स्त्री पुरुषों से किसी भी रूप में कमतर हैं। बौद्धिक तथा नैतिक रूपों में स्त्री-पुरुष दोनों समान ही होते हैं। मिल ने स्त्रियों को वोट का अधिकार, शिक्षा, तथा रोजगार के समान अधिकार मिलने के विचारों का समर्थन किया तथा उनका मानना था कि आज समाज में स्त्री पुरुष के मध्य जो भी भेदभाव तथा भिन्नताएँ हैं वो शुरुआत से ही समान परवरिश, संस्कार, प्रत्येक कार्यों में समान अवसर न मिलने के कारण है। मिल पुरुषों को स्त्रियों से श्रेष्ठ समझे जाने से इंकार करते हैं तथा उन्होंने समाज में स्त्री के मताधिकार का समर्थन किया तथा कहा कि इससे समाज को बहुत लाभ होगा। “उदारवादी नारीवाद स्त्री पुरुष की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में यह समानता महिलाओं को हासिल नहीं है। इसीलिए राजनीतिक तथा कानूनी सुधारों के माध्यम से समानता हासिल करने की कोशिश उदारवादी नारीवादी करते रहे हैं। उदारवाद नारीवाद के मुख्य मुद्दे महिलाओं का प्रजनन का अधिकार, गर्भपात की सुविधा, यौन शोषण से मुक्ति, मताधिकार, शिक्षा का अधिकार, काम के समान अवसर व समान काम के लिए समान वेतन, बच्चों के लालन

पालन की सुविधा व स्वास्थ्य की सुविधा का हर महिला के सुलभ होना, यौन और घरेलू हिंसा का अंत आदि आदि रहे हैं। आमतौर पर उदारवादी नारीवाद संस्थागत पूर्वाग्रह समाप्त करने तथा अच्छे कानूनों के पालन पर जोर देता है।¹ जेन्स स्टर्बा 'पब्लिक मैन-प्राइवेट वुमैन' की धारणा को सिरे से नकारते हैं। दफ्तरों तथा कारखानों में समय विभाजन को इतना लचीला बनाने पर बल देते हैं कि शिशु के लालन पोषण में माँ तथा बाप दोनों को पर्याप्त समय मिल सके।

सिमोन द बोउवार लिखती हैं कि “स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।” (One is not born, but rather becomes a woman) इस कथन द्वारा समाज की उस व्यवस्था पर कटाक्ष किया जा रहा है, जो जन्म से ही स्त्रियों में भेदभाव करने लगती है। इस कथन के माध्यम से सिमोन समाज के सभी बुद्धिजीवियों, चिंतकों, विचारशील मनुष्यों को समाज के इस षड्यंत्र पर स्वयं विचार तथा समझने के लिए प्रेरित करती हैं। उदारवादी नारीवाद स्त्रियों की मूलभूत आवश्यकताओं तथा अधिकारों के लिए आवाज़ उठाता है।

(2) उग्रवादी नारीवाद:- उग्रवादी नारीवाद 1968 में अस्तित्व में आया। उग्रवादियों का मानना था कि स्त्रियों को छोटे-मोटे अधिकार देने से, स्त्रियों की समस्याओं को गंभीरता से विचार न करके कामचलाऊ सुधार करने से स्त्रियों की स्थितियों में जैसा परिवर्तन आना चाहिए वैसा परिवर्तन नहीं आ पाता। वांछित बदलाव के लिए योजनाबद्ध रूप से कार्य करने की आवश्यकता है जिससे समाज के बुनियादी ढांचे में बदलाव आये। “रेडिकल नारीवाद का उद्देश्य है लिंगों के बीच व्याप्त तमाम विभेदों को उद्धाटित करना जो कानूनों, रोजगार जैसे क्षेत्रों तक ही नहीं बल्कि हमारे व्यक्तिगत संबंधों में भी व्याप्त है।”² उग्रवादी नारीवादियों ने स्त्री के शोषण तथा दमन के विभिन्न पक्षों को जाना तथा समाज में उसकी जागरूकता फैलाने के लिए छोटे छोटे संगठन बनाए जिसमें स्त्रियाँ अपने अपने अनुभवों, परेशानियों को साझा करती थीं। उग्रवादियों का मानना था कि स्त्री के

¹ गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता, , पृष्ठ. 38.

² सं साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, नारीवादी रजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, , पृष्ठ. 41.

शोषण का प्रमुख कारण व्यक्तिगत रूप में कोई पुरुष नहीं बल्कि, ये पितृसत्तात्मक समाज है तथा इसमें पुरुषों को ही केन्द्रित करके सारी सुख सुविधाएँ उन्हें ही दी जाती हैं। उग्रवादी नारीवाद पितृसत्ता का विरोध तो करता है जिसमें स्त्रियों की स्थिति गौण है तथा उस पर शोषण तथा दमनात्मक व्यवहार होता है। परन्तु उग्रवादी नारीवाद पूंजीवाद का विरोध नहीं करता। समाज में परिवार, धर्म एवं शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में बदलाव की सख्त आवश्यकता है। उग्रवादियों ने स्त्री की पराधीनता का मुख्य कारण उनकी प्रजनन शक्ति को माना है क्योंकि उसका अपनी प्रजनन शक्ति पर स्वयं कोई अधिकार नहीं होता इसीलिए ये स्त्रियों के विकास में बाधक के रूप में सामने आती है। स्त्री को समाज में देह के रूप में ही समझा जाता है इसलिए स्त्रियों के साथ बलात्कार, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा, यौन शोषण जैसी घटनाएँ हमें देखने को मिलती हैं। विवाह जैसी पितृसत्तात्मक संस्था को खारिज कर उग्रवादी नारीवाद ने स्त्रियों को विवाह न कर समलैंगिकता को बढ़ावा दिया। यह उग्रवादी नारीवाद की कमजोरी कही जाती है कि इसने समस्या का उचित समाधान न खोजकर एक ऐसा मार्ग अपनाने पर बल दिया जिससे स्त्री-पुरुष के बीच का फासला बढ़ता है जबकि स्वस्थ बातचीत कर वांछित समाधान की तरफ कदम बढ़ाए जा सकते थे।

उग्रवादी नारीवादियों ने प्रमुखता से जिन मांगों के लिए संघर्ष किया, उनमें प्रजनन की स्वतंत्रता मुख्य थी। उग्रवादी नारीवाद का मानना था कि स्त्रियों को जबरन माँ बनने के लिए मजबूर किया जाता है। इस मांग में गर्भपात, परिवार नियोजन जैसे मुद्दों में भी स्त्रियों की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए संघर्ष किया गया। उग्रवादी नारीवाद बलात्कार को एक राजनीतिक कर्म समझते हैं जो स्त्रियों के लिए कई स्तरों पर उत्पीड़नकारी होता है। उग्रवादी नारीवाद के द्वारा स्त्रियों के लिए 1971 में 'मैडिकल टर्मिनेशन ऑव प्रेगनेंसी ऐक्ट' को पारित किया गया। जिसके आधार पर स्त्रियों को यह अधिकार दिया गया कि स्त्री को अपने स्वास्थ्य व आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए परिवार के आकार को निर्धारित करने का पूरा अधिकार है।

(3) समाजवादी/ मार्क्सवाद नारीवाद:- समाजवादी नारीवाद वर्ग से ज्यादा लिंग को महत्व देने के कारण उदारवादी नारीवादियों की आलोचना करते हैं। समाजवादी नारीवादियों ने समाजवाद और नारीवाद के लक्ष्यों को समकक्ष रखा तथा माना कि पूंजीवादी व्यवस्था ध्वस्त हो और ऐसी समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जहाँ स्त्रियों को समानता के अधिकार मिलें। जिस व्यवस्था में स्त्रियों की भी समाज में मुख्य भूमिका रहे तथा वे सभी हक उन्हें प्राप्त हों जिसकी वो हकदार हैं। मार्क्सवाद तथा समाजवाद के दृष्टिकोण में हालाँकि कुछ भेद दिखते हैं, पर स्त्री के संदर्भ में यदि बात की जाये तो दोनों विचारधारा का मुख्य ग्रन्थ फ्रेडरिक एंजेल्स लिखित 'The origin of the family, private, property and the state' को माना जाता है। इसमें लिखा गया है कि स्त्री का शोषण वहां से शुरू होता है जहाँ से वैयक्तिक संपत्ति का प्रावधान। जैसे मार्क्सवाद पूंजीवादी व्यवस्था के आर्थिक आधार पर कटाक्ष करता है। उससे समाज में उत्पन्न असमान वर्ग से संघर्ष तथा शोषक वर्ग से सत्ता छीन कर समानता लाना चाहता है। वैसे ही समाजवादी नारीवाद समाज के हर कोने में फैले लिंग के आधार पर भेदभाव को पूंजीवाद व्यवस्था का ही हिस्सा मानते हैं। इसी असमानता के कारण स्त्री को परिवार में या परिवार के बाहर भेदभाव का सामना करना पड़ता है। स्त्रियों के कार्य उसके लिंग के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं तथा उनके कार्यों को कमतर आँका जाता है। पुरुष स्त्रियों को अपनी जागीर समझते हैं। इस असमानता के कारणों को जब नारीवादियों ने जानना चाहा तब उन्हें ज्ञात हुआ कि स्त्री-पुरुष की शारीरिक संरचना की भिन्नता को इसका कारण बताया जाता है। नारीवादियों ने इस बात का अध्ययन किया तथा पाया कि पुरुष अपने शारीरिक बल के प्रयोग से स्त्री को शोषित तथा दमित करता है। बारबरा कहती हैं कि "मार्क्सवाद और नारीवाद को मिलाकर ही समाजवादी नारीवाद की विचारधारा विकसित हुई है। मार्क्सवादियों को बारबरा मशीनी मार्क्सवादी कहती है। उनकी आलोचना करते हुए बताती है कि वे गृहणी को सर्वहारा वर्ग में नहीं मानते जबकि समाजवादी नारीवादी मानते हैं।"¹ समाजवादी

¹ गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता, पृष्ठ. 56.

नारीवादियों का मत है कि स्त्रियों को स्वतंत्र प्रजनन का अधिकार मिलना चाहिए और यौन कर्म में स्त्रियों पर हो रहे शोषण का समाप्त होना अत्यंत आवश्यक है। इस समस्या को तभी समाप्त किया जा सकता है जब पितृसत्ता तथा पूंजीवादी व्यवस्था ध्वस्त होगी। समाजवादी नारीवादियों ने इस बात पर भी बल दिया कि व्यवसाय का निर्धारण लिंग पर आधारित नहीं होना चाहिए। समान व्यवसाय के लिए स्त्री को पुरुष के समान वेतन भी मिलना चाहिए। 1970 के दशक में समाजवादी नारीवादियों ने इस मांग को भी सामने रखा कि स्त्रियों को गृहस्थ कार्यों के लिए भी वेतन मिलना चाहिए। इस मांग ने आन्दोलन का स्वरूप लिया तथा इटली से शुरू होकर यह आन्दोलन धीरे-धीरे पूरे कनाडा तथा यूरोप में फैलता गया। 1980 तक आते-आते इस आन्दोलन ने दम तोड़ दिया। समाजवादी नारीवादी समाज में गठित केवल पुरुष मजदूर संगठनों का विरोध करते हैं उनका तर्क यह है कि ऐसे संगठनों का समाजवादी होने के साथ-साथ केवल पुरुषवादी नहीं बल्कि नारीवादी भी होना चाहिए। समाजवादी नारीवादियों का मानना है कि पितृसत्ता के वर्चस्व से लड़ने के लिए स्त्रियों को जागरूक होकर स्वयं अपने संगठनों की नींव रखनी होगी। मार्क्सवादी मान्यता के समान ही समाजवादी नारीवादी अपने शोषण के कारणों की जड़ें आर्थिक विपन्नता को मानते हैं। मुक्ति के लिए स्त्रियों को पितृसत्तात्मक तथा पूंजीवादी दोनों व्यवस्था से मुठभेड़ करने का मार्ग समाजवादी नारीवाद द्वारा दिखाया गया है। समाजवादी नारीवादी चाहते थे कि अधिक से अधिक स्त्रियाँ इस मुहीम से जुड़े, संगठित हो तथा एक क्रांतिकारी आन्दोलन की शुरुआत हो। समाजवादी नारीवादी अपने संघर्षों के माध्यम से स्त्रियों की वास्तविक स्थिति तथा स्त्रियों से जुड़े वर्तमान सवालों के समाधान की खोज करना जरूरी मानते हैं। जिससे इस सुधार के बने रहने की सम्भावना लम्बे समय की अवधि तक बनी रहे।

3.2 स्त्री मुक्ति संघर्ष

इस सृष्टि की शुरुआत से ही इसका निर्माण तथा इसको नियमित रूप से संचालित करने में स्त्री भी भूमिका रही है। मानव जाति की सभ्यता तथा संस्कृति के विकास का मूल आधार भी स्त्री को ही माना जाता है। स्त्री तथा पुरुष इस संसार के दो मूलभूत आधार हैं। स्त्री पुरुष दोनों के सहयोग तथा समन्वित भावना से ही इस सृष्टि का निर्माण होता है। स्त्री को प्राकृतिक सृजनात्मक शक्ति प्रदान है तथा जो गृहस्थ संस्था का निर्माण करती है। जिससे परिवार और समाज का निर्माण तथा विकास होता है। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि इस सृष्टि को निर्मित करने में स्त्री की अधिक भूमिका रही है। प्रजनन की प्रक्रिया मानव जाति का महत्वपूर्ण कार्य है। स्त्रियाँ गर्भधारण से लेकर शिशु के जन्म उनके लालन पोषण का कार्य स्त्रियाँ ही करती हैं। जिसके कारण स्त्रियों को सृष्टि का आधार माना जाता है। स्त्री तथा पुरुष दोनों समाज में आमने सामने विरोधी रूप में नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक तत्व के रूप में रहने चाहिए। पितृसत्ता में स्त्रियों को अन्या की स्थिति में रखा गया। समाज में स्त्रियों तथा पुरुषों की स्थिति में पूरकता तथा स्त्रियों को श्रेष्ठ स्थान देने की हिमाकत करते हुए महादेवी वर्मा लिखती हैं:- “पुरुष के अंधानुसरण ने स्त्री के व्यक्तित्व को अपना दर्पण बनाकर उसकी उपयोगिता तो सीमित कर ही दी, साथ ही समाज को भी अपूर्ण बना दिया। पुरुष का न्याय है, स्त्री दया; पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा; पुरुष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा।”¹

स्त्रियों तथा पुरुषों में प्राकृतिक विभेदों का सम्मान करते हुए समाज में अखंडता को स्थापित किया जा सकता है। समाज में उनकी भूमिका को एकांगी दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए तथा जीवन की वास्तविक अनेकरूपता का सम्मान करना चाहिए। मानवीय गुणों के होते हुए भी स्त्री का समाज में दोयम दर्जा ही रहा है। उसको वह स्थान नहीं दिया गया जिसकी वह अधिकारी है। यह समाज पुरुषों की निर्मित व्यवस्था के अनुसार चल रहा है जिससे पुरुषों ने स्त्रियों को अपने समकक्ष

¹ शृंखला की कड़ियाँ- महादेवी वर्मा पृष्ठ 14.

मानव मानना स्वीकार नहीं किया बल्कि उसे देह की वस्तु बनाकर भोग्या बना डाला। 21वीं सदी के समानता के दौर में स्त्री-पुरुष की साझा संस्कृति की स्थापना अत्यंत आवश्यक है। यही वह आधारभूत तत्व है जिससे स्त्री मुक्ति की बहस प्रारंभ होती है।

3.2.1 पाश्चात्य समाज में स्त्री मुक्ति संघर्ष

वैश्विक स्तर पर देखा जाए तो 20 शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्ध को क्रमशः स्त्री जागरण तथा स्त्री प्रगति का दौर कहा जाता है। स्त्रीवादी इतिहासकार लगातार इस प्रयत्न में लगे रहते हैं कि स्त्रियों की राजनैतिक सक्रियता, प्रतिबद्धता और स्त्रियों ने आन्दोलनों के माध्यम से अपनी मौजूदगी स्थापित करने के लिए जो हस्तक्षेप किये उन्हें इतिहास के पन्नों में शामिल किया जाए। जिससे भावी पीढ़ियां लोकतंत्र में अपने समान अधिकारों, अपनी एक स्वतंत्र पहचान को सुनिश्चित कर सके। इसी क्रम में महिला आन्दोलनों का इतिहास भी लिखा गया। पश्चिम समाज में शताब्दियों तक शोषण, दासता, हीनता, प्रताड़ना का शिकार होती स्त्रियों ने अपनी स्थिति पर चिंतन किया तथा अपनी मुक्ति के स्वप्न को वास्तविकता में बदलने के लिए संगठित होकर संघर्ष किया। समय के साथ साथ अपनी छोटी-छोटी मांगों तथा संघर्षों को एकजुटता के साथ स्त्रियों ने अपनी स्थिति में सुधार हेतु एक मोर्चा खोल दिया। जिसने आन्दोलन का विशद रूप ले लिया तो उसे स्त्री मुक्ति आन्दोलन के नाम से जाना गया।

विश्व में स्त्री मुक्ति के लिए किये संघर्ष का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना स्त्री के अन्या होने की त्रासद गाथा। स्त्री मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत पश्चिम में हुई जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर भी देखा गया है। सर्वप्रथम स्त्रियों के अधिकारों के प्रति सजगता तथा नवीन चेतना पश्चिम समाज में दिखाई देती है। जिसका प्रभाव हमें भारत पर पड़ता परिलक्षित होता है। स्त्रियाँ चाहे किसी भी देश की हों वैचारिक धरातल पर एक दूसरे से भिन्न होने के बावजूद ये तमाम विचार लिंग-भेद आधारित भेदभाव तथा शोषण का विरोध करते हैं।

पाश्चात्य जगत में महिला मुक्ति आन्दोलनों के मुख्य तीन चरण माने जाते हैं। ये चरण उन मुक्ति संघर्षों से संबंधित हैं जिसमें स्त्रीवादियों ने स्त्री समस्याओं को समय-समय पर उठाया। पहले चरण में स्त्रियों ने समान शिक्षा, समान आर्थिक अधिकार व समान वेतन के लिए अपनी मांगें बुलंद आवाज़ में सबके सामने रखीं। मतदान के नागरिक अधिकार की मांग भी इसी चरण में रखी गयी।

एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में महिला आन्दोलन का पहला चरण 19वीं सदी के अंतिम दशकों और 20वीं सदी के आरंभिक दशकों में प्रारंभ हुआ। परन्तु इससे पहले 1792 में मेरी वालस्टानक्राफ्ट, 1873 में जॉन स्टुअर्ट मिल तथा 1884 में फ्रेडरिक एंगेल्स आदि की वैचारिकी ने स्त्रीवादी राजनीतिक आन्दोलनों को खाद पानी देकर पहले ही उसकी पृष्ठभूमि दुरुस्त कर रखी थी। ज्ञान प्रसार के जितने आन्दोलन हुए उसमें मानव की स्वतंत्रता और अधिकार को केन्द्रित किया गया परन्तु वहां मानव से तात्पर्य पुरुष से था। स्त्रियों को ज्ञान प्रसार से दूर रखा गया। केवल स्त्रियों के गृहणी स्वरूप को ही तवज्जु दी जाती थी और सार्वजनिक क्षेत्रों में उसकी स्वतंत्र भूमिका को लेकर एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया जाता था। सार्वजनिक क्षेत्र में उनके द्वारा जो भी हस्तक्षेप होते थे, उन्हें महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। इस चरण की खूबी इस बात में थी कि इसमें 'मनुष्य' की अवधारणा को संकुचित घेरे से निकाला तथा इसको विस्तार दिया गया। स्त्रियों द्वारा समानता, स्वतंत्रता, और न्याय की मानवीय मांग को मजबूती से उठाया गया। इसी दौर में 1792 में मेरी वालस्टानक्राफ्ट की किताब (THE VINDICATION OF THE RIGHTS OF WOMEN) का 'स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन' नाम से अनुवाद हुआ। यह पुस्तक नारी आन्दोलन के संदर्भ में महत्वपूर्ण दस्तावेज मानी जाती है। नारियों के अधिकारों की बाइबल नाम भी इस पुस्तक को दिया गया है। इस किताब में मेरी वालस्टानक्राफ्ट ने इस बात पर बल दिया कि स्त्री-पुरुष में जिन विभेदों के कारण असमानता की व्यवस्था समाज ने बनाई है, वो स्त्रियों की निजी प्रकृति न होकर अशिक्षा, और महिलाओं को समाज में मिलने वाले परिवेश के कारण है। इस किताब में रूसो के विचारों की इन्होंने कड़ी निंदा की है। जिससे पूरे यूरोप का ध्यान इनकी तरफ गया। इस पुस्तक में उन्होंने पुरुष समाज को इन मान्यताओं से चुनौती दी कि स्त्रियाँ बौद्धिक स्तर पर पुरुषों से कहीं भी कमतर नहीं हैं इसलिए स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षा से अवसर मिलने चाहिए। स्त्रियाँ केवल भोगविलास का खिलौना मात्र नहीं हैं जिसे केवल घर की चारदीवारी के

भीतर तक सीमित रखा जा सके, बल्कि वे भी मनुष्य हैं तथा शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता रखती हैं। वे शिक्षा की अधिकारी हैं, जिसके माध्यम से उनके व्यक्तित्व में निखार आएगा।

अमेरिका में स्त्री मुक्ति का आन्दोलन सन् 1901 में प्रारंभ हुआ था। पाश्चात्य समाज में भी स्त्रियों की स्थिति भारत जैसी ही है। वहां भी स्त्रियों को दोयम दर्जे का समझा जाता था। चाहे भारत हो या कोई भी विकसित देश कहीं भी स्त्रियों को स्वतंत्र इकाई के रूप में उनकी मौजूदगी का एहसास नहीं करवाया जाता। पश्चिम समाज भी पुरुष केन्द्रित है तथा स्त्री भी इस पितृसत्तात्मक समाज की परिधि के इर्द गिर्द ही घूमती दिखाई देती हैं। पाश्चात्य समाज में भी स्त्री को सामान्य स्तर से उठाकर देवी का रूप दिया गया, तो कहीं कहीं उसे हेय की दृष्टि से भी देखा गया। समस्या वही की स्त्री को देवी का ऊंचा स्थान नहीं बल्कि वह मनुष्य रूप में ही स्वयं को समाज में देखना चाहती है। वास्तव में देखा गया है कि लिंग असमानता या स्त्री पराधीनता की समस्या किसी एक देश तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह समस्या विश्वव्यापी समस्या है। भारत समेत विश्वभर में स्त्री अस्मिता, स्त्री मुक्ति के प्रश्न वर्तमान समय में सबसे ज्वलंत मुद्दों में से एक है।

जेम्स मिल एक लेख में लिखते हैं कि स्त्रियों के लिए स्वतंत्र, राजनीतिक प्रतिनिधित्व अनावश्यक है। मिल स्त्रियों की छवि को पुरुष समाज से रक्षित ही मानते हैं। उनके विचारों का खंडन उनके समकालीन विलियम थाम्सन ने किया तथा स्त्रियों की स्वतंत्र छवि की वकालत की। उन्होंने अनिवार्य रूप से स्त्रियों के अधिकारों को सामाजिक तथा आर्थिक संदर्भ में जोड़कर देखा। इसको आवश्यक माना। ब्रिटेन में उदारवादी नारीवादी दृष्टिकोण पर आधारित जॉन स्टुअर्ट मिल की “आन द सब्जेक्शन आफ वुमेन” (ON THE SUBJECTION OF WOMEN) पुस्तक में इन्होंने थाम्सन की स्थापना को आगे बढ़ाया। जॉन स्टुअर्ट मिल ने माना कि स्त्रियां को समाज में पुरुषों से कई स्तरों, कई अर्थों में कम आँका जाता है। इसके पीछे वास्तविक कमजोरी स्त्रियों में नहीं बल्कि समाज द्वारा उन पर जो दबाव डाला जाता है। उन्हें गलत शिक्षा दी जाती है, जिसके कारण

स्त्रियों के साथ ऐसा होता है। इस तरह मिल ने इसमें उदारवादी नारीवाद के विचारों को ही उठाया है।

पुरातन मान्यताओं, जड़ होती रूढ़ियों का विनाश तथा आधुनिकता के होते विकास, स्त्रियों द्वारा अपने अस्तित्व को स्थापित करने के संघर्ष ने अपने मूल्य तथा प्रासंगिकता को निरंतर बनाए रखा है। आज के इस आन्दोलनकारी समाज में भी चाहे वो समाज भारतीय हो या पाश्चात्य कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो हर जगह स्त्रियों को हिंसा (जिसमें मानसिक तथा शारीरिक दोनों हिंसा शामिल होती हैं), उपेक्षा तथा बंधनों की जकड़न का शिकार होना पड़ता है। पुरुष समाज भयभीत रहता है कि यदि स्त्रियों का महत्व बढ़ गया और वह स्वतंत्र इकाई बन गयी तो उनका स्वामित्व खतरे में आ जाएगा जिसके कारण पुरुष समाज स्त्रियों की उपेक्षा करता है। “स्त्री-विमर्श की सबसे बड़ी कमजोरी पश्चिमी देशों और दुनिया के अन्य देशों में यह रही है कि उच्च वर्ग एवं खाते-पीते घरों की स्त्रियों का यह आन्दोलन प्रदर्शन की वस्तु बनकर रह गया है, क्योंकि इसके माध्यम से मुक्त यौनाचार को हवा मिलने की संभावना बढ़ी है।”¹ इन्हीं विचारों की क्रांति की परिणति के स्वर स्त्री मुक्ति या स्त्री-विमर्श कहलाएं।

समाजवादियों तथा मार्क्सवादियों ने नारी की अस्मिता के सवाल को महत्व दिया तथा समाज के सम्मुख रखा। एंगेल्स ने एक प्रसिद्ध पुस्तक ‘परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति’ (THE ORIGIN OF THE FAMILY, PRIVATE, PROPERTY AND THE STATE) लिखी है। एंगेल्स मानते हैं कि यह एकदम तर्कहीन बात है जो हमें 18वीं सदी के जागरण से ही विरासत के रूप में दी गयी है कि समाज के शुरूआती दौर से ही स्त्रियाँ पुरुष के अधीन थीं। एंगेल्स ने लंबे और गूढ़ वैज्ञानिक पर्यवेक्षण के बाद यह निष्कर्ष निकला कि “आधुनिक वैयक्तिक परिवार, नारी की प्रत्यक्ष या परोक्ष घरेलू दासता पर आधारित है।..... स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करें और

¹ डॉ सियाराम, नयी सहस्राब्दी में स्त्री-विमर्श : चिंतन के विविध संदर्भ, पृष्ठ. 138

इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाय।”¹ एंगेल्स ने स्त्री मुक्ति के लिए पूंजीवादी व्यवस्था की भूमिका को एकदम सही ढंग से विश्लेषित किया है। अपनी पुस्तक के निष्कर्ष के रूप में एंगेल्स मानते हैं कि:- “विवाह में पुरुष की श्रेष्ठता उसकी आर्थिक श्रेष्ठता का सीधा परिणाम है। आर्थिक श्रेष्ठता समाप्त हो जाने पर वैवाहिक जीवन में पुरुष की श्रेष्ठता भी समाप्त हो जाएगी।”² पूंजीवाद के भले ही ये नकारात्मक पहलू हो कि इसमें पुराने पारिवारिक बंधनों को तोड़ा जो समाज के लिए भयंकर स्थिति थी परन्तु पूंजीवाद ने आधुनिक उद्योग के माध्यम से स्त्रियों को गृहस्थ जीवन से बाहर उत्पादन की प्रक्रिया में स्थान दिया। जिससे एक नया आर्थिक आधार उन्हें प्राप्त हुआ। पुरुषों पर स्त्री की आर्थिक निर्भरता को एंगेल्स इस अर्थ में लेते हैं कि “परिवार के दायरे में पति बुर्जुआ होता है तथा पत्नी सर्वहारा।” स्त्रियों को मुक्ति के लिए सबसे पहले घर से बाहर निकल कर सार्वजनिक कार्यों में अपनी उपस्थिति सुरक्षित करके आर्थिक आधार पाना होगा। जैसे-जैसे सर्वहारा समाज का विस्तार होता जाएगा, स्त्रियों की मुक्ति के मार्ग उतने ही प्रशस्त तथा सुनिश्चित होंगे। उससे समाज में जो क्रांति होगी उसके माध्यम से पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश होगा। जिसके साथ-साथ हजारों वर्षों से चले आ रहे पुरुषसत्तात्मक समाज के वर्चस्व की जड़ें भी उखड़ गिरेंगी।

सन् 1883 में अगस्त बेबेल की पुस्तक ‘नारी और समाजवाद’ प्रकाशित हुई जिसने केवल जर्मनी ही नहीं पूरे यूरोप में खलबली मचा दी थी। यह पुस्तक आज तक मार्क्सवादियों को स्त्रियों के प्रति नए दृष्टिकोणों से देखने की प्रेरणा देती है। यह पुस्तक एंगेल्स की पुस्तक ‘परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति’ का विस्तार मानी जाती है। जिसमें स्त्रियों की आवश्यकताओं का उल्लेख है।

19वीं सदी में स्त्री मुक्ति तथा स्त्री के समान अधिकार की मांग राजनैतिक रुख ले चुकी थी। इन मांगों ने समाज में चेतना जागृत कर दी थी। शिक्षा, कानून, राजनीति आदि इन सभी क्षेत्रों में

¹ सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न- पृष्ठ 12. (मार्क्स-एंगेल्स संकलित रचनाएं, भाग-3, पृष्ठ 226-227, प्रगति प्रकाशन, मोस्को)

² सरला माहेश्वरी नारी प्रश्न- पृष्ठ 20.

आन्दोलन प्रारंभ हो गया था। स्त्री मतदान के अधिकार की मांग ने मांग न पूरी होने तक एक नारुकने वाले संघर्ष की शुरुआत कर दी थी। इस मांग ने व्यापक जन-अभियान की शुरुआत कर दी थी। एलिजाबेथ केडी स्टैन्टन ने अमेरिका के नारीवादी आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। उन्होंने ‘सेनेकाफाल कन्वेंशन आफ 1848’ एक घोषणापत्र लिखा जिसमें इन्होंने स्त्रियों से संबंधी कई मांगों को उठाया। जिनमें मतदान का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, रोजगार का अधिकार, संपत्ति का अधिकार, राजनीति तथा सार्वजनिक भागीदारी के अधिकारों की मांगों को बुलंद किया। स्त्रियों की गुलामी के कारणों की पड़ताल करते हुए स्टैन्टन ने पाया कि प्रत्येक धर्म ने स्त्रियों को बांधे रखा है तथा गुलामी दी है। 19वीं सदी के अंत तक स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं में सुधार हेतु कई कानून पारित किये गए। अब स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन तथा राजनीतिक मामलों से बाहर नहीं थीं बल्कि वह अब अत्यंत सक्रिय थी। गृहस्थी से बाहर विभिन्न संगठनों में स्त्रियों की भूमिका रही। ‘सेनेकाफाल कन्वेंशन आफ 1848’ में मतदान की मांग को अत्यंत क्रांतिकारी रूप में उठाया गया तथा अब इसे जनतांत्रिक आन्दोलन की एक स्वाभाविक मांग के रूप में प्रस्तुत किया गया। 20वीं सदी की शुरुआत में ब्रिटेन तथा अमेरिका में मतदान का अधिकार महिला आन्दोलन की मुख्य मांग बन गया था। “मतदान के अधिकारों के लिए लड़ाई के जरिये, मतदानवादियों ने महिलाओं की जिंदगी में पूर्ण रूपांतरण से कम की लड़ाई नहीं शुरू की थी।”¹ इस राजनीतिक संघर्ष की ही सफलता थी कि फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका में 1919, ब्रिटेन में 1927, फ्रांस में 1944, तथा स्विट्जरलैंड में 1956 में विभिन्न प्रस्तावों व संशोधनों द्वारा महिलाओं को मतदान का राजनीतिक अधिकार मिला तथा स्त्रियों की लोकतंत्र में भागीदारी सुनिश्चित हो सकी। इसे प्रथम चरण की बड़ी उपलब्धि माना जाता है। मताधिकार के मांग के साथ-साथ यूरोप में शिक्षा, काम के घंटे, संपत्ति पर अधिकार, समान काम के लिए समान वेतन इत्यादि के लिए संघर्ष की लहर भी चल रही थी। 1885 में अमेरिकी कामगार महिलाओं ने अपने साथ हो रहे शोषण, काम के घंटे को

¹ सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न- पृष्ठ 28, (एस केंट, 1990, सेक्स एंड सफरेज इन ब्रिटेन, पृष्ठ-3)

कम करने, समान वेतन की वकालत की तथा काम बंद करके सड़कों पर उतरकर विरोध दर्ज किया। इस संघर्ष को जल्दी कुचल दिया गया लेकिन महिला आन्दोलनों में इसकी अहम भूमिका मानी जाती है। सन् 1910 में रूस की क्रान्तिकारी नेता क्लारा जेटकिन ने 8 मार्च को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस मनाने के लिए प्रस्ताव रखा था। सन् 1913 में पहली बार मास्को में 8 मार्च को 'स्त्री चेतना दिवस' के रूप में मनाया गया। यह प्रथम चरण मुख्य रूप से मतदान के लोकतान्त्रिक अधिकार, कानूनी समानता जैसे संपत्ति के अधिकार के साथ शुरू हुआ था।

स्त्री मुक्ति आन्दोलन का दूसरा चरण विस्तार से सेक्सुअलिटी, परिवार और कार्यस्थल पर होने वाले स्त्री उत्पीड़न व समानता के अधिकारों पर बहस को सामने लाने के लिए जाना जाता है। इस दौर में मुख्यधारा की कुछ स्त्रियों को सेना, स्पोर्ट्स, मीडिया आदि कार्य क्षेत्रों में स्थान मिला इसलिए आन्दोलन के इस चरण में आंदोलनकर्ताओं की दृष्टि स्त्रियों के प्रति होने वाली हिंसा, यौन हिंसा के कानून, तलाक, आदि गंभीर विषयों की तरफ मुड़ी। जिसने यूनाइटेड स्टेट संविधान में संशोधन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद देखा जाए तो यूरोप और उत्तरी अमेरिका के देशों में महिलाओं के लिए आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी शैक्षणिक प्रगति के मार्ग प्रशस्त हुए। जिसमें श्रम तथा रोजगार की नई संभावनाओं ने भी जन्म लिया। स्त्रियों की कार्यक्षेत्रों में मांग में भी बढ़ोतरी हुई। पुरुष वर्चस्व वाले उद्योगों में भी स्त्रियों ने कदम रखा।

फ्रांसीसी लेखिका सिमोन द बोउवार नारीवादी आंदोलनकारियों में सबसे प्रमुख नाम है। अपनी चर्चित किताब 'द सेकंड सेक्स' (1949) के माध्यम से बोउवार ने स्त्री की नियति को स्पष्ट किया है कि "स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है।" जन्म से ही स्त्रियों को उनके दायित्व, कर्तव्य की पट्टी पढ़ा दी जाती है। वो औरत पुरुष समाज की सबसे बड़ी संवाहक बन जाती है जो स्वयं न्याय सहते हुए भी अपनी बच्ची को भी वैसे ही संस्कार प्रदान करती हैं जिससे वो भी कठपुतली बन जाए तथा मूक होकर सब सहती रहे। सिमोन ने स्त्री की गुलामी का कारण उसके खुद के शरीर को माना। सिमोन ने आधुनिक नारीवादी विचारधारा की आधारशीला रखी तथा

उसमें माना कि स्त्री मुक्ति के लिए सबसे अनिवार्य है नारी को नारीत्व से ही मुक्त करना। सिमोन इस मत की समर्थक भी नहीं थीं कि ‘स्त्री की योनि उसे हमेशा घुटनों के बल रहने पर मजबूर करती है’ लेकिन सिमोन इस बात को जरूर स्वीकारती हैं कि स्त्री जब तक अपनी शारीरिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती जबतक पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकती। सिमोन ने बताया कि “यह अच्छी बात है कि अब महिलाएं अपनी काया को लेकर किसी भी प्रकार की शर्मिंदगी महसूस नहीं करती। लेकिन फिर भी उन्होंने स्त्री की काया में किसी भी प्रकार की विशेषता को स्वीकारने से साफ़ इंकार किया।”¹ सिमोन के केंद्र में मध्यवर्गीय स्त्रियाँ थी। कामगार औरतों और किसान औरतों की आवश्यकताओं तथा समस्याओं की उपेक्षा सिमोन के यहाँ देखने को मिलती है। उन्होंने समस्याओं के समाधान के लिए व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया। इस दृष्टिकोण में बताया गया कि रूढ़ियों को मत अपनाओं, समाधान स्वयं मिल जाएँगे। उन्होंने समाधान के लिए आंदोलनों पर विचार नहीं किया था।

1968 में फ्रांस में जब नारीवादी आन्दोलन हो रहा था तब सिमोन भी उसमें सक्रिय रूप में शामिल हुई। गर्भपात को कानूनी स्वीकृति दिलाने के लिए उन्होंने अभियान का नेतृत्व किया। नारीवादियों ने गर्भपात की इस मुहिम में न्यायिक प्रक्रियाओं पर तंज कसा और अपनी मांग ‘यौनिकता और प्रजनन’ जैसे अपने अधिकारों को बहस के केंद्र में ला दिया। स्त्रियों की आर्थिक सबलता को भी उन्होंने आवश्यक समझा। सिमोन की इस पुस्तक ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दशकों में स्त्री की समस्याओं के प्रश्न जिस पर लगातार समाज मौन धारण किये हुआ था, उस पर चोट की और स्त्री प्रश्नों पर कायम मौन को वाणी दी साथ ही स्त्रियों की गुलामी की जकड़न को तोड़ा।

अमेरिकी समाज में 60 के दशक में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। जिसका जिक्र अमेरिकी लेखिका बेट्टी फ्रीडेन की किताब “THE FEMININE MYSTIQUE” (1963) में

¹ नारी प्रश्न- सरला माहेश्वरी पृष्ठ 35. (A Schwarzer की पुस्तक, Simon De Beauvoir Today, conversation 1972-1982)

मिलता है। इस पुस्तक में बेट्टी ने बताया है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अमेरिकी स्त्रियों के जेहन में इस बात को जबरन थोपा जा रहा था कि स्त्रियों के लिए गृहस्थी ही महत्वपूर्ण है। उसका संसार घर की चारदीवारी के भीतर तक सीमित है और स्वतंत्रता, शिक्षा के जो सपने नारीवादी आन्दोलनों के जरिये उन्हें दिखाए जा रहे हैं उनका कोई अर्थ नहीं है। बेट्टी ने इस किताब में उन सभी साहसी प्रश्नों की समाज से जवाबदेही मांगी है जो अक्सर स्त्रियाँ केवल घर के चारदीवारी के भीतर ही पूछा करती थी। “क्या जिंदगी में एक पति को प्राप्त करने, बच्चों का स्वस्थ परिवेश में पालन पोषण करने तथा मध्यम वर्ग की क्रमशः बढ़ती हुई उपभोक्तावादी भूख को शांत करने के लिए पूरी शान के साथ अपनी जिंदगी की आकांक्षाओं को त्याग देने के अलावा और कुछ नहीं रह गया है? आखिर यह सब क्यों? लगातार बढ़ती हुई तलाक की संख्या, गृहस्थिनों में शराब की बढ़ती हुई लत, अधिकांश महिलाओं में जिंदगी के प्रति बढ़ते हुए निरर्थकता की क्या कोई व्याख्या हो सकती है?”¹ बेट्टी का मानना था कि स्त्री की भी अपनी अस्मिता होती है जिसके अभाव में उसकी जीवन यात्रा सुखदायी नहीं हो सकती। अमेरिका में 1963 में ही स्त्रियों के लिए समान वेतन का कानून पास किया गया साथ ही अगले ही वर्ष नागरिक अधिकारों के कानून में जेंडर के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव को लेकर कानूनन प्रतिबंध लगाने के लिए प्रावधान को जोड़ा गया।

बेट्टी फ्रीडेन की अध्यक्षता में 1966 में नेशनल ऑर्गनाइजेशन आफ वुमेन, (NOW) की स्थापना हुई। इस संगठन को विश्व में सबसे बड़ा नारीवादी संगठन माना गया। इस संगठन ने अमेरिकी समाज में स्त्रियों की मुक्ति के लिए लगातार कार्य किये तथा इससे स्त्री समाज में अनेक परिवर्तन आए। इस अमेरिकी नारीवादी आन्दोलन से पश्चिम के सभी औद्योगिक देश भी प्रभावित हुए। लेकिन बाद में नारीवादी आन्दोलन की अमेरिका में क्या परिणति हुई इससे बेट्टी स्वयं अचंभित थी। बेट्टी ने 1978 में ‘काँस्मोपोलीटन’ नामक पत्रिका के अमेरिकी संस्मरण में स्त्री

¹ सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न- पृष्ठ 36-37. (सुशान बैसनेट, फेमिनिस्ट एक्स्पिरिअन्सेज, द वुमेन्स मूवमेंट इन फोर कल्चर्स, पृष्ठ. 15-16)

आन्दोलन पर पुनर्विचार करने का सोचा। जिसका उन्होंने अपनी पुस्तक 'द सेकंड स्टेज' में विस्तार से चर्चा की है। इस पुस्तक में बेट्टी ने उन उग्र नारीवादी विमर्श के प्रति आश्चर्य जताया जिन्होंने खुद को (NOW) को अलग कर लिया। इस उग्रवादी विमर्श के निष्कर्ष के रूप में समाज को 'परिवार बचाओ' जैसे संकट को झेलना पड़ रहा है। 60-70 के दशक का जो उग्र और पुरुष विरोधी नारीवाद आन्दोलन था अब वो स्त्रियों की घर वापसी का समर्थक बन गया। घर से बाहर निकलने में स्त्रियों को जोखिम उठाना पड़ता है फिर भी उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई। साथ ही कामकाजी होने के कारण उन्हें मातृत्व के सुखों से भी महरूम रहना पड़ा। स्त्री की बेहतरी के लिए, उनकी मुक्ति के लिए शुरू हुए इस अभियान ने स्त्रियों को पुरुषों का विरोधी ही बना डाला। घर के बाहर भी पुरुषवादी ढांचा इतना मजबूत है कि स्त्रियों को अपने बराबर नहीं देख सकता। इससे सीख लेते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि स्त्री के विकास, स्त्री मुक्ति की लड़ाई को सामाजिक सरोकारों से जोड़ा जाए ताकि स्त्रियों की स्थिति को वास्तविक रूप से मूल्यांकित किया जा सके। सन् 1968 में अटलांटिक सिटी नामक नगर में 'मिस अमेरिका' सौन्दर्य प्रतियोगिता का विरोध करते हुए नारीवादियों ने कहा कि सौन्दर्य प्रतियोगिता पुरुषों के उपभोग के लिए स्त्री देह का प्रदर्शन करना भर है। विरोध में उन्होंने एक भेड़ को 'मिस अमेरिका' का ताज पहना दिया। छोटे वस्त्र, अधो- वस्त्र, ऊंची एड़ी की सैंडलों आदि को स्त्री शोषण के प्रतीक के रूप में देखा तथा इनका विरोध भी किया। परन्तु बाद में इस विरोध और प्रदर्शन के स्वर को गलत मानते हुए इसके मर्म को समझे बिना ही मीडिया में इसकी खूब आलोचना भी हुई तथा इसे 'ब्रा बर्निंग' आन्दोलन के रूप में व्याख्यित किया गया। 1970 में ब्रिटेन और इटली जैसे देशों में घरेलू कार्यों के लिए भी वेतन जैसी मांग भी उठनी शुरू हुई थी क्योंकि महिलाओं के घरेलू काम का सार्वजनिक और पारिवारिक जीवन में हमेशा अवमूल्यन किया जाता है। इस मांग से घरेलू श्रम के महत्व को केंद्र में लाया गया। आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों का उत्थान हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि पुरुष अपनी मानसिकता में यह बात गांठ बांध लें कि समानता से ही समाज का पिछड़ापन कम होगा।

आन्दोलन के दूसरे चरण ने स्त्रियों को देखने का एक भिन्न नजरिया समाज के सामने रखा। उसे एक राजनीतिक अस्मिता के रूप में पहचान मिली। जिसके कारण बहुत सारे यूरोप के देशों में खासकर शैक्षणिक जगत में स्त्री अध्ययन केंद्र भी खोले गए।

स्त्री आन्दोलन की तीसरी लहर की शुरुआत 1990 के मध्य में होती है। दूसरी लहर की अवधारणा को इसमें संदेह की नज़र से देखा गया तथा कहा गया कि इसमें केवल स्वेत मध्यवर्गीय और विषम लैंगिक स्त्रियों का ही प्रतिनिधित्व है। अश्वेत निम्नवर्गीय, प्रवासी, मुस्लिम, समलैंगिक स्त्रियों को जीवन की इस सार्वभौमिक अवधारणा से बिलकुल नदारद किया गया है। इसलिए महिला आन्दोलन की तीसरी लहर सार्वभौमिकता के दायरे से अलग महिलाओं के शोषण और संघर्षों को ही मुख्यतः सामने लाती है। प्रारम्भिक दोनों लहरों में सभी नारीवादी स्त्रियाँ भले ही वह किसी भी विचारधारा की रही हों। वे सभी स्त्रियाँ लिंगभेद तथा लैंगिक पूर्वाग्रहों को लेकर एक दूसरे से सहमत रहती थी, परन्तु बाद में 1980 तक आते आते महिला आन्दोलनों में टकराहटें शुरू हो गईं तथा उन्हें स्वेत मध्यवर्गीय, विषम लैंगिक महिलाओं तक सीमित होने के प्रश्नों ने घेर लिया। स्त्री मुक्ति को तभी संभव माना गया जब सभी वर्ग की महिलाओं के अनुभवों को इसमें शामिल किया गया। इस तीसरे चरण में यौनिकता निर्मिती पर भी सवाल उठाये गये और विषमलिंगी स्त्रियों से अलग स्त्रियों की यौनिकता को भी व्यक्त किया गया। कहा गया कि विषम लैंगिक यौनिकता भी प्राकृतिक नहीं है, बल्कि समाज निर्मित है। बल्कि यौनिकता का निर्माण ही प्राकृतिक नहीं है वो सामाजिक व सांस्कृतिक प्रक्रिया के तहत हुआ है। यौनिकता को इस दृष्टि देखने के कारण ही तीसरी लहर पहली दो लहरों से भिन्न है।

पहली से तीसरे चरण तक महिला अधिकार आन्दोलनों ने स्त्री अधिकारों का लंबा सफ़र तय किया है। स्त्री की परंपरागत छवि तो तोड़ने की कोशिश की गई। जिसमें कहा गया कि स्त्रियाँ कोमल, लज्जाशील होती हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक, परम्पराओं की छानबीन कर स्त्रीवादी लेखक और लेखिकाओं ने यह तर्क स्थापित किया है कि स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बना दी जाती

है। स्त्रियों का उत्थान हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि पुरुष अपनी मानसिकता में वर्चस्ववादी सोच को त्यागकर यह सोचे कि कदम से कदम मिलाकर साथ चलने तथा स्त्रियों को समान दर्जा देने से ही समाज का विकास संभव होगा।

3.2.2 भारतीय समाज में स्त्री मुक्ति संघर्ष

स्त्री मुक्ति आन्दोलन मुक्ति का एक ऐसा जरिया है जिससे प्रत्येक मुक्ति अभिलाषी स्त्री जुड़ना चाहेंगी तथा वे स्त्रियाँ इस आन्दोलन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकेंगी। मुक्ति की दिशा क्या हो तथा स्त्रियों को आखिर मुक्ति किससे चाहिए, यह दृष्टिकोण बिलकुल साफ़ होना चाहिए वरना मुक्ति की राह धुंधली होगी तथा उसमें भटकाव की भी सम्भावना बनी रहेगी। भारतीय समाज में स्त्री मुक्ति संघर्ष कब प्रारंभ हुआ इस विषय की पृष्ठभूमि को देखें तो हम पाते हैं कि भारतीय समाज में स्त्री मुक्ति के संघर्ष की जड़ों को उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों को जिस जकड़न में रखा गया, वहीं से मुक्तिकामी चेतना को देखा जा सकता है। यही बंधन जब बेहद कंस गये तब स्त्रियों में इस घुटन, जकड़न से मुक्ति की इच्छा ने जन्म लेना शुरू किया। मध्यकाल से नवजागरण तक स्त्रियों ने अपनी दयनीय स्थिति स्वीकार करके इसको अपनी नियति मान लिया था। भारतीय समाज में मुक्ति का अर्थ पश्चिमी समाज के अर्थ से भिन्न है। भारतीय समाज में मुक्ति का अर्थ कभी भी पुरुष सत्ता से मुक्ति नहीं रहा। “हमारे यहाँ का ‘नारी-मुक्ति संघर्ष’ पश्चिम के नारी-मुक्ति आन्दोलन से एकदम भिन्न है। वहाँ स्त्रियों ने लगभग एक सदी की लम्बी अवधि तक अपनी मुक्ति की लड़ाई पुरुषों से मुक्ति के रूप में, उनके विरुद्ध खड़ी होकर, अपमान झेलकर लड़ी। भारत में यह लड़ाई विदेशी दासता व प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध एकसाथ लड़ी गयी, जिसमें स्त्री, पुरुष प्रतिद्वंद्वी नहीं, सहयोगी थे।”¹ भारतीय स्त्री मुक्ति संघर्ष में पुरुषों ने अहम भूमिका निभाई है। प्रत्येक कदम पर स्त्रियों के संघर्ष में पुरुषों ने कंधे से कंधा मिलाकर मुक्ति की लड़ाई लड़ी है। देश की स्वतंत्रता का प्रश्न भारतीय समाज में जब भी समाने आया स्त्रियों ने पुरुषों के साथ तो कंधे से कंधा मिलाकर उन विकट परिस्थितियों का मुकाबला तो किया ही साथ ही पुरुषों के न होने पर स्वयं भी यह बीड़ा उठाया। पश्चिम के स्त्री मुक्ति आन्दोलन से भिन्न भारतीय परिस्थितियों के चलते किस तरह स्त्री मुक्ति आन्दोलन ने समाज में अपनी जगह बनाई। उसकी पृष्ठभूमि, इतिहास, स्वरूप, तथा जो सामाजिक

¹ आशारानी बहोरा, भारतीय नारी : दशा और दिशा, , पृष्ठ. 18.

आन्दोलन हो रहे थे, उन्होंने कैसे स्त्री मुक्ति आन्दोलन की धार तेज की, स्वतंत्रता आन्दोलन तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नवीन परिस्थितियों के बीच कैसे स्त्री मुक्ति आन्दोलन का स्वरूप तैयार हुआ इसको जानना समझना अत्यंत आवश्यक माना जाता है। नवजागरण के जरिए से स्त्री मुद्दों को केंद्र में लाया गया। नवजागरण में पत्र-पत्रिकाओं और प्रेस की अहम भूमिका रही है। स्त्री प्रश्न को उठाने और उन पर बहस करने में पत्रिकाओं की खासी भूमिका रही। कई पत्रिका का नेतृत्व स्त्रियाँ ही कर रहीं थीं। भारतेन्दु हरिश्चंद ने 'बालाबोधिनी' नामक स्त्री केन्द्रित पत्रिका का संपादन किया परन्तु वे स्त्री शिक्षा के समर्थक होने के बावजूद ज्ञान विज्ञान की शिक्षा को स्त्री के लिए अधिक उपयुक्त नहीं मानते। वे लिखते हैं कि स्त्रियों को पढ़ाइए मगर उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है, जिसमें उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चल से इनको शिक्षा दीजिये कि वह अपना देश, कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें। इस तरह भारतेन्दु भी स्त्री शिक्षा को केवल स्त्रियों के धर्म पालन तक ही सीमित कर देते हैं, तथा स्त्रियों के बौद्धिक विकास को महत्व नहीं देते। वहीं स्त्रियाँ अपनी अनुभवजन्य यथार्थ स्थिति तथा मुद्दों को मुखर वाणी देती हैं और साथ ही बहस के केंद्र में भी ला रही थीं। इन पत्रिकाओं में 'स्त्री दर्पण' नामक पत्रिका बहुत महत्वपूर्ण है। यह उन तमाम मुद्दों को लेकर आई जो समय की मांग थी तथा तीखी बहस बनी। यह पत्रिका जून 1909 में प्रयाग से प्रकाशित होती थी। इससे पहले भी स्त्री मुद्दों पर केन्द्रित पत्रिकाओं में बालाबोधिनी, सुगृहिणी, विनीता हितैषी आदि पत्रिकाओं में स्त्री की परंपरागत छवि को ही नवीन परिस्थितियों में ढालकर देखा गया। परन्तु स्त्री दर्पण के आसपास प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएं गृह लक्ष्मी, स्त्री धर्म शिक्षक, आर्य महिला आदि पत्रिकाएं अपनी प्रकृति में प्रगतिशील थीं।

19वीं शताब्दी के मध्य का समय ऐसा था जब भारतीय समाज में महिलाओं की विषम स्थिति पर बहुत विचार हुआ तथा इन स्थितियों में सुधार की चेतना सक्रिय आन्दोलनों का मुख्य विषय बन गया था। जितने भी सुधार आंदोलन उस समय सक्रिय थे उनमें बाल-विवाह, विधवाओं के दयनीय जीवन की परिणति, सती प्रथा और स्त्री की शिक्षा आदि विषय प्रमुख थे। नई शिक्षा

नीति और ज्ञान विज्ञान के नए उभरते क्षेत्रों का प्रचार प्रसार से इन मुद्दों को विस्तार मिला। इन आन्दोलनों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार पर दबाव बनाया गया और फलतः ब्रिटिश सरकार को घुटने टेकने पड़े। कानूनों की मदद से इन आन्दोलनों को गति प्राप्त हुई। कानून बनाने के पीछे ब्रिटिश सरकार का अपना छिपा मंतव्य भी था कि ब्रिटिश सरकार खुद को जनपक्षधर सरकार साबित करना चाहती थी, साथ ही ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को पिछड़ा घोषित भी करना चाहती थी। इन कारणों ने भारतीय जनता में बदलाव की आकांक्षा को मजबूती प्रदान की।

भारत पर मुस्लिम आक्रमण के समय स्त्री शौर्य की अनेक ऐसी वीरगाथाओं से हमारा इतिहास भरा पड़ा है, जहाँ स्त्रियों ने बढ़ चढ़कर समाज में अपनी हिस्सेदारी दर्ज की। रानी दुर्गावती, पद्मिनी, ताराबाई, पन्ना दाई, जीजा बाई आदि इतिहास में दर्ज महत्वपूर्ण नाम हैं जिन्होंने मातृभूमि और अपनी अस्मिता की रक्षा हेतु निःसंकोच अपने प्राणों की आहुति दे दी। भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित होने के बाद 1857 में जो पहला मुक्ति संघर्ष हुआ, उसमें झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, बेगम हजरात महल, रानी रामगढ़, जीनतमहल आदि ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह किया तथा शहीद हो गईं परन्तु अंग्रेजी ताकत के आगे बिना भयभीत हुए डटकर मुकाबला किया। उत्तर भारत में जितनी प्रसिद्धि रानी लक्ष्मी बाई की है उतना ही सम्मान दक्षिण भारत की रानी चेन्नम्मा का माना जाता है। इनके शौर्य को याद में रखकर ही 23 अक्टूबर का दिन 'महिला दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

भारतीय समाज में सामाजिक और राजनीतिक विचारों का उत्थान एक साथ हो रहा था। वें भारतीय स्त्रियाँ जो वर्षों से पितृसत्ता के वर्चस्व से पीड़ित तथा पिछड़ी सामाजिक व्यवस्था के कारण पतनोन्मुख स्थिति में जीवन काट रही थी। इन शोषित स्त्रियों के जीवन से ही सामाजिक आन्दोलन को आधार प्राप्त हुआ। स्त्रियों का विद्रोह अंग्रेजी शासन, पुरुष वर्चस्व तथा सड़ चुके सामाजिक परम्परागत मूल्यों के विरुद्ध था, जिसके कारण स्त्रियाँ असामान्य जीवन जीने के लिए अभिशप्त थीं।

स्त्री उत्थान के लिए ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तीनों संस्थाओं से सराहनीय काम किया। भारतीय स्त्री के यह स्त्री मुक्ति संघर्ष 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में शुरू हुआ था। मध्यकालीन समाज में यदि बालविवाह, सती प्रथा, विधवा जीवन, बहुपत्नी प्रथा, पर्दा प्रथा को स्वीकार किया गया। स्त्री शिक्षा की अवहेलना की गयी तो इसमें अचंभित होने की जरा भी बात नहीं है क्योंकि इन व्यवस्थाओं को पुरुषों ने अपनी सहूलियत के लिए बनाया था जिसमें स्त्री का कोई हाथ नहीं था। समाज सुधारकों में बंगाल के राजा राम मोहन रॉय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महाराष्ट्र में अण्णारकर, एवं महादेव गोविन्द रानाडे, सावित्री बाई फुले, पंडिता रमा बाई, आंध्र में वीर सिंह लिंगम, मद्रास में के. एम. नटराजन और उत्तर प्रदेश के दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में स्त्रियों की इसी स्थिति को केन्द्रित कर अपने समाज सुधार के लक्ष्यों में स्त्री शिक्षा एवं स्त्री उत्थान के कार्यों को प्रमुख स्थान दिया तथा स्त्री उत्पीड़न के खिलाफ सशक्त आन्दोलन चलाए गये। इन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप 1829ई. में सती-प्रथा को कानूनन निषेध किया गया। 1856 ई. में विधवाविवाह अधिनियम, जिससे विधवा स्त्री को अब अपने जीवन को एक श्राप की तरह काटने की विवशता नहीं बल्कि उन्हें अपने जीवन में नए अध्याय को जोड़ने की अनुमति प्राप्त हुई। 1891 में 'एज ऑफ कंसेंट बिल' पारित हुआ। इसी बीच 1877 में लड़कियों को पहली बार मैट्रिक की परीक्षा में बैठने की अनुमति मिली। इन महत्वपूर्ण कानूनों के बनने से स्त्री मुक्ति की दिशा और प्रशस्त हुई। इन कानूनों ने महिला आन्दोलनों के लिए पृष्ठभूमि का काम किया तथा आन्दोलनों को एक तेज़ गति प्रदान की। 19वीं सदी के आठवें दशक की दो घटनाएँ ऐसी हैं, जिससे स्त्री सुधार आन्दोलनों ने गति प्राप्त की। पहली घटना (1880) में रुक्मा बाई ने अपनी देह के अधिकार को लेकर एक मुकदमा दर्ज किया। इस घटना से रूढ़िवादी लोग स्त्री मुक्ति तथा स्त्री दशा सुधारने के लिए जो-जो अभियान सक्रीय थे, उन सब अभियानों के खिलाफ हो गये। इस मुकदमे से पहली बार स्त्री ने अपनी देह पर अधिकार को लेकर आवाज़ उठाई थी। यह कदम ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्री जीवन तथा मुक्ति के नए संदर्भ की पहल थी। दूसरा पंडिता रमा बाई ने इसाई धर्म अपनाया तथा

1889 में शारदा सदन के द्वारा हिन्दू विधवाओं की सहायता के जरीय धर्मांतरण भी शुरू कर दिया। जिससे रमा बाई के विरुद्ध तरह-तरह का प्रचार भी हुआ परन्तु रुकमा बाई को स्त्री समर्थक आन्दोलनकारियों का साथ भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार पश्चिमोत्तर प्रान्त में शिक्षा, जागरूकता तथा लेखन के क्षेत्र में स्त्रियों का प्रवेश विलम्ब से हुआ।

19वीं शताब्दी के आठवें दशक में विदेशी महिला ब्लावत्स्की ने स्त्री में चेतना का बीज बोने का काम अपने द्वारा स्थापित थियोसोफिकल सोसाइटी के माध्यम से किया। इस सोसाइटी की कमान आगे चलकर श्रीमती ऐनी बेसेंट ने संभाली थी। इन्होंने मार्गरेट नोबल व् मार्गरेट कंजिस के साथ मिलकर 'होमरूल लीग' की स्थापना भी की। भारतीय राजनीति तथा स्त्रियों में मुक्ति की लालसा का प्रचार प्रसार करने में ऐनी बेसेंट का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। 20वीं शताब्दी में मार्गरेट नोबल का कार्यक्षेत्र बंगाल था। उन्होंने भारतीय स्त्रियों को शिक्षा के माध्यम से सुशिक्षित किया तथा इस शिक्षा से स्त्रियों को विदेशी दासता से लड़ने तथा जागृति की शिक्षा प्राप्त हुई।

20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक स्त्रियों के लिए प्रारंभिक व माध्यमिक स्कूलों की व्यवस्था हो गयी थी, लेकिन समस्या यह थी कि स्त्री-शिक्षा की प्रगति फिर भी बहुत धीमी ही रही। सामाजिक रूढ़िवादी मानसिकता ही इसके मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट बनी हुई थी। सुधार आन्दोलनों के नेताओं, समर्थकों, बुद्धिजीवियों ने इन समस्याओं का वर्णन किया और स्त्री शिक्षा को समर्थन दिया हालाँकि स्त्री शिक्षा के समर्थन के पीछे लगातार स्त्रियों को स्त्री धर्मपालन की शिक्षा तक की सीमित रखने तथा स्त्री के जीवन को नियंत्रित रखना ही स्त्री शिक्षा की पुरोधाओं की चिंता का विषय था। नए तरीके के ज्ञान विज्ञान की शिक्षा को स्त्रियों के लिए अनावश्यक ही समझा जाता था। स्त्री को शिक्षा केवल उतनी ही शिक्षा देना जरूरी माना गया जिससे वो आदर्श गृहिणी की भूमिका में ढल सकें। केवल इतना भर ही स्त्री शिक्षा का उद्देश्य बना दिया गया था। स्त्री शिक्षा द्वारा उनकी बौद्धिक समझ का विकास, व्यक्तित्व में निखार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, आलोचना क्षमता का विकास, तर्क क्षमता का विकास आदि से अधिक महत्व स्त्री धर्म पालन को दिया जाता था।

सावित्री बाई फुले को शिक्षित करने और उन्हें सामाजिक भूमिका के लिए सक्षम करने में ज्योतिबा फुले का अहम योगदान था। सन् 1852 तक उन्होंने तीन कन्या पाठशालाएं खोल दी थीं। सावित्रीबाई भी एक साहसी शिक्षिका बनकर सामने आईं तथा उन्होंने अपने समय के समाज में व्याप्त तमाम अवरोधों को झेला और डटकर सामना भी किया।

मार्गरेट कंजिस ने अखिल भारतीय स्तर पर एक महिला संगठन 'इंडियन वुमॅस एसोसिएशन' की स्थापना मद्रास में 1917 में की। महिलाओं की सारी राजनीतिक गतिविधियों को यह संगठन संचालित करता था। इस तरह की राजनीतिक गतिविधियों में भारतीय स्त्रियों की पहली बार सक्रिय भागीदारी के पीछे प्रेरक के रूप में महात्मा गाँधी थे, जो भारतीय स्त्रियों को इतना अधिक जागरूक बनाते दिखाई दिए। इसी तरह 1925 में श्रीमती सरोजिनी नायडू को कांग्रेस अध्यक्ष की गद्दी प्राप्त हुई जो भारतीय महिला के लिए पहले सम्मान के रूप में देखा जाता है। इन्होंने 'माउंट फोर्ड रिफार्म्स' का विरोध किया। इस विरोध का कारण यह था कि इसमें स्त्रियों को मतदान के अधिकार से वंचित रखा गया था। फलस्वरूप एक अधिनियम पारित किया गया जिसके द्वारा स्त्रियों ने 1926 में प्रथम बार चुनाव प्रणाली में मतदान किया। महिलाओं की सामाजिक तथा शैक्षणिक स्थिति में परिवर्तन लाने तथा समृद्ध करने के लिए 1927 में एक गैर राजनीतिक संगठन स्थापित किया गया जो 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' नाम से जाना जाता है। स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई में स्त्रियों का अविस्मरणीय योगदान रहा है। स्त्रियों ने इसमें हर कदम जान की बाज़ी लगाकर विदेशी सत्ता को ललकारा है।

स्वतंत्र भारत में स्त्रियों को प्राप्त समान अधिकार से स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में समानता में देखे जाने का प्रावधान है, परन्तु शिक्षा तथा सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियाँ अभी भी पिछड़ी हुई हैं। समाज में लैंगिक असमानता और शोषण की व्यवस्था बनी रही। इससे स्त्रियों में असंतोष का उभार हुआ। जिससे भारतीय स्त्री का मुक्ति संघर्ष स्वतंत्र भारत में समान अधिकार मिलने का बावजूद अनवरत चालू रहा। राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में जो असमानता की स्थिति है, जिससे स्त्रियों को रोज

आड़े हाथ होना पड़ता है। उससे इस मुक्ति संघर्ष को बल तथा गति प्राप्त होती है। स्त्रियों की स्थिति में सुधार हेतु स्वतंत्र भारत में महिला संगठनों के प्रयत्नों से अनेक सुधार कानून पारित किये गये। जिनमें हिन्दू विवाह अधिनियम, विशेष विवाह अधिनियम, हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम, वेश्यावृत्ति-उन्मूलन अधिनियम, दहेज निषेध अधिनियम, गर्भपात की कानूनी मान्यता जैसे सुधार कानूनों से महिलाओं की सामाजिक स्थिति में कुछ परिवर्तन तो अवश्य आया है परन्तु इन धीरे धीरे क्षीण होती गयी सामाजिक रूढ़िवादी परम्परा, तथा पितृसत्ता की जड़े इतनी गहरी हैं कि उसे काटने के लिए और सुधार कानूनों की तथा कानूनों में संशोधन की अत्यंत आवश्यकता है। स्त्रियों का राजनीतिक संघर्ष भले ही समाप्त हो गया हो परन्तु सामाजिक संघर्ष जिसमें उसे रूढ़िवादी मान्यताओं से मुक्ति चाहिए, वो संघर्ष अभी भी चल रहा है। स्त्रियों के मुक्ति संघर्ष में स्त्रियाँ मुक्ति से संबंधित उन तमाम सवालों से केवल सामना ही नहीं करती जिनके कारण वो सामान्य जीवन नहीं जी पाती बल्कि इस मुक्ति संघर्ष का ध्येय उन समस्याओं के समाधानों की भी दिशा प्रशस्त करना होता है।

स्वतंत्र भारत में स्त्री समस्याओं को अधिक विस्तार मिला। उनके नए आयाम बने, नए दृष्टिकोण से समस्याओं को परखा गया। बहुत सारे ऐसे मुद्दों को इसमें शामिल किया गया जिनको पहले विचार करने का मुद्दा बनाया ही नहीं जाता था। जिनमें परिवार के भीतर स्त्रियों का यौन शोषण, आठवें दशक में यौन शोषण के मुद्दों को गंभीरता से लिया गया तथा इस पर विस्तृत चर्चा होने लगी। पति द्वारा अपनी पत्नियों का बलात्कार, वेश्याओं के बलात्कार की बात को केंद्र में लाया गया। इससे पहले इन समस्याओं पर बहस होना संभव नहीं था। स्त्री समस्याओं की बातचीत के दायरे ने विस्तार पाया तथा गर्भनिरोधक दवाई, वैज्ञानिक परीक्षण आदि सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर बहस का सिलसिला शुरू हो गया था। दहेज विरोधी आन्दोलन में भी असंख्य महिलाओं ने विरोध दिखाया। 1990 तक कन्या भ्रूण हत्या, यौन स्वास्थ्य, स्त्री-पुरुष के घटते लिंगानुपात, देह व्यापार, बच्चियों का यौन शोषण आदि इन शोषण के विषयों पर आवाज़ उठी। सरकार का ध्यान

भी इन विषयों पर गया तथा यह महसूस किया जाने लगा कि इन शोषणों से सम्बन्धी कानूनों में बदलाव की भी बहुत जरूरत है। इन तमाम आन्दोलनों और प्रयासों के बावजूद स्त्रियों के व्यवहारिक जीवन में कोई खासा क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में नहीं आया। परन्तु इससे स्त्रियाँ जागरूक हुई हैं तथा शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता की तरफ बढ़ी हैं। तमाम बाधाओं और अंतर्विरोधों से टकराते हुए महिला आन्दोलन गतिशील बना रहा। इनके सकारात्मक पहलुओं पर ध्यान दें तो इनके माध्यम से ही समानता, न्याय और स्वतंत्रता पर आधारित एक ऐसा बेहतर समाज बनाने की चुनौती सामने बनी हुई है। जहाँ व्यवहारिक रूप में स्त्रियाँ स्वतंत्र होकर जी सके तथा इसके लिए आज भी स्त्रियाँ संघर्षरत हैं।

3.3 हिंदी साहित्य में स्त्री के मुक्ति संघर्ष

हिंदी साहित्य की लेखन परंपरा पर दृष्टि केंद्रित करने पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि साहित्यिक रचनाओं में स्त्री-पुरुष दोनों का समावेश हुआ है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान अनादिकाल से लेखन कार्य में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। मध्यकाल में जिस प्रकार कबीर अपनी व्यंग्यात्मक शैली से सामाजिक कुरीतियों, पाखंडों का पुरजोर विरोध कर रहे थे। वैसी ही मुखर वाणी से कश्मीर की भक्त कवयित्री 'लल्लेश्वरी' का विरोध भी इन सामाजिक कुरीतियों के प्रति था। कृष्ण भक्त कवयित्री मीरा ने भी सामंती मूल्यों तथा राजकुल की मर्यादा आदि की परवाह न करते हुए भक्तिपरक गीत लिखे। आधुनिक काल में देखा जाए तो महादेवी वर्मा की पुस्तक 'शृंगार की कड़ियाँ' में भारतीय पितृसत्तात्मक मानसिकता की शिकार स्त्रियों की स्थिति को देखा जा सकता है।

भारतीय समाज और साहित्य में स्त्री-पुरुष दोनों को महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में समझा जाता था। स्त्री को आदर और सम्मान का वो दर्जा दिया जाता था जिसकी वो हकदार थीं। इस स्थिति में मध्यकाल के दौरान परिवर्तन देखा जाने लगा और स्त्री के अस्तित्व और सम्मान को गहरी ठेस लगी तथा स्त्री की स्थिति हाशिये की हो गयी। पितृसत्ता के वर्चस्व ने स्त्रियों की अस्मिता, गरिमा को बेड़ियों से बांध दिया तथा उन्हें बंधक बना दिया। स्त्रियाँ अब केवल पुरुषों की भोग विलास की वस्तु बनकर रह गयी थी। मध्यकालीन साहित्य इसका प्रमाण है।

स्त्री लेखन की मूल मान्यताओं के अनुसार स्त्रियों का श्रम और उनकी रचनात्मकता को हमेशा हाशिये की दृष्टि से देखा गया है। राजसत्ता, परिवार सत्ता, धर्म की सत्ता आदि सभी स्त्री की हाशिये की स्थिति का समर्थन करते हैं तथा इसे न्यायोचित भी घोषित करते रहे हैं। फिर भी स्त्री लेखन निरंतर होता रहा पर उनका नाम इतिहास की पन्नों से एकदम नदारद रहा। कभी उनकी रचनाओं को पुरुषों की रचनाएँ भी माना गया। साथ ही स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता, समानता, अपने मानवीय स्वरूप के लिए लगातार अपनी आवाज़ को अपने लेखन के जरिए अभिव्यक्त करती रही। स्त्रियों

की भूमिका शुरू के लेखन में भले ही कम हो परन्तु हर युग में लोक साहित्य के द्वारा स्त्रियाँ अपनी पीड़ा को वाणी देती रही हैं। परन्तु मध्यकाल में लोकसाहित्य के प्रमाण और सामग्री की अनुपलब्धता के कारण प्रारंभ की स्थितियों के बारे में कुछ भी कहना मुश्किल है। आज उपलब्ध लोकसाहित्य में हम स्त्री चेतना को देख सकते हैं।

प्राचीन काल से ही सृजनात्मक साहित्य में स्त्रियाँ लेखन कार्यों में अपनी मौजूदगी दर्ज कराती रही हैं। साहित्य पर दृष्टिपात करने पर आधुनिक काल के पूर्व यदि हम कविता के साहित्य में किसी कवयित्री का नाम स्मरण करने की जद्दोजहद करें तो मीरा के अतिरिक्त किसी प्रतिष्ठित कवयित्री का नाम याद नहीं आता। संत कवयित्रियों में मुक्ता बाई, सहजो बाई, इंद्रामती, पार्वती आदि का नाम भी इतिहास के पन्नों से नदारद हैं। जबकि आधुनिक प्राप्त स्रोत से इनकी रचनाओं के प्रमाण हमें देखने को मिलते हैं। मध्यकाल में रचनात्मक सक्रियता से शामिल ताज और शेख दोनों कवयित्रियों का उल्लेख हमें शिवसिंह सरोज में मिलता है परन्तु विडंबना यहाँ यह है कि इनका नाम पुलिंग अर्थ में हुआ है। जिससे ये भ्रम की स्थिति बनी रहती है कि ये रचनाएँ किसी पुरुष के द्वारा ही लिखी गयी हैं। कई बार स्त्रियाँ अपनी रचना में अपने पति का नाम जोड़ देती थीं। जैसे गिरधर कविराय की पत्नी साई ने किया। वो अपनी कविता में गिरधर कविराय शब्द जोड़ती थीं। जिसके कारण बाद में इन कविताओं को गिरधर की ही कविताएँ मान लिया गया। इससे साई का अस्तित्व विलीन होता गया तथा मान लिया गया कि साई नामक कोई कवयित्री थीं ही नहीं। इस तरह स्त्री रचनाकारों की भूमिका और उनके स्थान का मूल्यांकन करना कठिन होता गया। बाद के इतिहास ग्रंथों में तो बस इनके नाम भर के उल्लेख को ही पर्याप्त माना गया है। जबकि वास्तविकता यह है कि आधुनिककाल से पूर्व भी स्त्री रचनाशीलता और उनकी कविताओं की एक लम्बी परम्परा रही है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में लेखकों की दृष्टि हमेशा लैंगिक पूर्वाग्रहों के ग्रसित दिखाई देती है। जिसके कारण अनेक ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनको इतिहास में स्थान नहीं मिला और उनका लेखन इतिहास के गर्त में कहीं धूमिल होता गया। इतिहास लेखन में स्त्रियों की गैर

मौजूदगी तथा ये अभाव उस समाज में स्त्रियों की भूमिका, उनके अस्तित्व पर विचार करने को विवश करती है तथा इतिहासकारों पर प्रश्न चिन्ह लगता है। इनके अलावा भी अनेक मध्यकालीन कवयित्रियां हैं जिनका उल्लेख भर भी प्राप्त नहीं होता है। परन्तु सुमन राजे ने अपने इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में उन्हें, उनकी रचनाओं के साथ शामिल किया है। इसके माध्यम से हमें स्त्री रचनाकारों की परम्परा के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

मध्यकाल से पहले भारतीय साहित्य में स्त्री रचनाशीलता के प्रमाण हमें ऋग्वेद से प्राप्त होने शुरू होते हैं। रोमशा, लोपामुद्रा, श्रद्धा, कामायनी, घोषा, अपाला, सूर्या, ममता, इन्द्राणी आदि ऋषिकाओं के नाम हमें देखने को मिलते हैं। इस समय का लेखन ब्रह्मवादिनियों का ही लेखन है। ये ऋषिकुल की थीं और शास्त्र का अध्ययन करती थीं तथा ब्रह्म की उपासना भी करती थीं। इनका जीवन बहुत आरामदायक जीवन था।

बौद्धधर्म की थेरीगाथाएं इससे ठीक विपरीत हैं क्योंकि इसमें सामान्य स्त्रियों के भौतिक जीवन का उल्लेख मिलता है। बौद्ध धर्म ग्रन्थ 'सुत्तपिटक' के अंतर्गत पांच निकाय सम्मिलित हैं। इनका रचनाकाल ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी माना जाता है। 73-100 भिक्षुणियों की कविताएँ इसमें संकलित हैं। इनमें इनका पारिवारिक परिचय, जन्म, इनकी समस्त स्थितियों का वर्णन मिलता है। थेरीगाथाओं की रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज की स्त्रियों की स्थिति का उत्कृष्ट परिचय हमें प्राप्त होता है। थेरीगाथाओं में जितनी भी स्त्री रचनाकार थीं वो समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों और वर्णों से संबंधित हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने वर्ग, जाति का परिचय दिया है। इन थेरीगाथाओं में स्त्रियों की स्मृतियाँ अलग-अलग हैं। निम्न वर्ग की गाथाओं में स्त्रियों के कष्टों की स्मृतियाँ हैं वहीं राजकन्याओं की स्मृतियाँ तनावमुक्त हैं। उनमें वैराग्य किसी भौतिक तर्क के कारण उत्पन्न हुआ। इन भिन्नताओं के बावजूद थेरियों की मूलसंवेदना में यह समानता मिलती है कि स्त्री होने के कारण हमें यह दंश सहना पड़ता है। थेरीगाथाओं के रचनाकारों ने अपनी निजी पीड़ा को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। लेकिन यह पीड़ा और दुःख निजी होते हुए भी उस समाज

की समस्त स्त्रियों के दुःख का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देती हैं। यहाँ कविताएँ दुःख से शुरू होती हैं और दुःख से मुक्त होकर उनका शमन होता है। स्त्री के भीतर की यातनाओं का वर्णन मिलता है। स्त्री की इच्छा, अनिच्छा, सुख दुःख का परिचय मिलता है। ये स्त्री के सामाजिक, आध्यात्मिक और धार्मिक अनुभवों का खजाना माना जाता है। मध्यकालीन सामंती समाज में अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ थीं जो स्त्रियों को जकड़े रहती थी। इस घुटन भरे माहौल में अपनी इच्छा, आकांक्षाओं, वेदना की अभिव्यक्ति के लिए मध्यकालीन स्त्रियाँ को ईश्वर का सहारा लेना पड़ता था। स्त्रियों के भीतर का असंतोष अपने लौकिक अर्थ में हमेशा अलौकिक आवरण लिए रहते थे। मीरा के विषय में प्रो. रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं कि “मीरा-काव्य में निहित परिवार, कुलकानि, राजसत्ता के प्रति विद्रोह की तीव्र टंकार को लौकिक जीवन का निषेध कर अलौकिक ईश्वरीय सत्ता से जुड़ने की ललक के रूप में पढ़ा-गुना गया।”¹ मीरा मध्यकालीन समाज के दवाब में भी मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई कहकर एक पुरुष के लिए पूरे समाज के साथ बगावत कर देती है तथा वह समाज से उलहाने सुनने तथा अपने धर्म को त्यागने में भी संकोच नहीं करती। मध्यकालीन सामन्ती समाज में ईश्वर को आलंबन बनाकर स्त्रियों ने अपना समर्पण भाव दिखाया। साथ ही इतना साहस भी रखा कि चाहे उसके लिए समाज में उन्हें अवहेलना की दृष्टि से ही देखा जाए, वे अपने इस मार्ग पर अड़िग रहेंगी। मध्यकालीन स्त्रियों ने अपने असंतोष को वाणी दी। इन असंतोष और असहमतियों से ही स्त्रियाँ आधुनिककाल में अस्मिता विमर्श के रूप में विस्तार पाती हैं। राम भक्ति का आदर्श और मर्यादा स्त्रियों को उतनी प्रिय नहीं लगती जितनी कृष्ण की माधुर्य भक्ति उन्हें प्रिय है क्योंकि उसमें वे स्वतंत्र महसूस करती हैं जबकि, राम भक्ति के आदर्श उन्हें फिर से बन्धनों और सीमाओं का आभास करवाता है। बंधनों का अतिक्रमण करके लोकलाज, मर्यादा को तरजीह दिए बिना यदि कोई स्त्री मीरा की भांति साहस जुटाती है तो उसे समाज की कड़वी दृष्टि सहनी पड़ती है। मध्यकाल की लेखिकाएं अपने लेखन के जरिए उस मानसिकता को तोड़ती हैं जो समाज और

¹ रोहिणी अग्रवाल, साहित्य का स्त्री-स्वर, , पृष्ठ. 30.

साहित्य में स्त्रियों को लेकर मानसिक पूर्वाग्रह की सोच पर टिकी है तथा स्त्री लेखन हाशिये से मुख्यधारा में अपनी उपस्थिति बनाने के संघर्ष को विकसित कर रहा है। स्त्री लेखन की परम्परा का विश्लेषण मध्यकाल की इन कवयित्रियों के बिना अधूरा है। परन्तु जैसा प्रतिरोध हमें समकालीन साहित्य में मिलता है वैसा तीक्ष्ण प्रतिरोध हमें देखने को नहीं मिलता क्योंकि उस समय स्त्री उसे अपने दायित्व का हिस्सा मानती थी तथा उसी समाज की स्थिति के अनुसार अपनी भूमिका को अपने में समाये रखती थीं। शिक्षा के प्रचार प्रसार, आधुनिकता के आगमन और जनतांत्रिक मूल्यों की समझ से स्त्रियों ने अपनी स्थिति को समझा तथा इस हाशिये की स्थिति को बदलने के लिए आवाज़ मुखरित की। रीतिकाल में तो स्त्रियों को केवल भोग विलास की वस्तु के रूप में ही देखा जाता था। रीतिकाल के कवियों के सृजनात्मक लेखन में नायिका भेद, नख शिख वर्णन देखने को मिलता है।

भारत में 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्त्री की दयनीय स्थिति पर कुछ पुरुष विचारकों का ध्यान गया तथा इस स्थिति की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने स्थिति में सुधार हेतु आन्दोलन भी किए। शताब्दी के अंत तक स्त्रियों में भी अपनी स्थिति को लेकर असंतोष उत्पन्न हुआ तथा वे विरोध करने का साहस जुटा पायीं। 1882 में पंजाब की अज्ञात हिन्दू महिला की पुस्तक 'सीमंतनी उपदेश' स्त्री चेतना, स्त्री जागरण को विचारों को अभिव्यक्त करती एक बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक है। पुस्तक की लेखिका ने बेहद तीखी और ओजपूर्ण शैली के द्वारा पितृसत्ता पर जोरदार प्रहार किया है। सीमंतनी उपदेश पुस्तक 19वीं शताब्दी के आर्य समाज सुधार से प्रभावित थी। लेखिका स्त्रियों के गहने के प्रति मोह पर फटकार लगाती हैं। सीमंतनी उपदेश की अज्ञात हिन्दू महिला अपने तत्कालीन समय के सभी आन्दोलनों से भली भांति परिचित थीं। वे उन सभी आन्दोलनों की प्रशंसा भी करती हैं जो उन्हें स्त्री की स्थिति में सुधारक लगते हैं। इसमें विधवा जीवन की त्रासदी से लेकर सती प्रथा जैसे स्त्रियों के लिए पुरुषों द्वारा स्थापित अभिशापों का जोरदार विरोध किया गया है। स्त्रियों के लिए आदर्श समझे गये पतिव्रता धर्म पालन जैसे मूल्यों का भी इसमें पुरजोर विरोध

किया गया है। स्त्रियों को धर्म पालन के नाम पर सामाजिक तथा मानसिक गुलामी झेलने को जिस षड्यंत्र के तहत विवश किया जाता है। उस मायाजाल को पुस्तक की लेखिका अपने तर्कों के माध्यम से खंडित करती हैं। इसी वर्ष स्त्री चेतना को पुष्ट तथा इस विद्रोह को मशाल दिखाती क्रांतिकारी महिला ताराबाई शिंदे की पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' है। पुस्तक के माध्यम से स्त्रियों ने पितृसत्ता की सामाजिक व्यवस्था, पुरुषों की स्त्रियों के प्रति हीन दृष्टि पर कड़ा प्रहार किया। लेखिका ने स्त्री धर्म की खुलकर तथा जोरदार आलोचना की है। स्त्री की शिक्षा को भी इस पुस्तक का केन्द्रीय विषय बनाया गया है तथा केवल गृह विज्ञान जैसे विषय को स्त्रियों के लिए अनिवार्य बनाया जाता था बाकि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में स्त्रियों की नगण्य स्थिति थी जिसका तीव्र विरोध किया गया। इस विरोध तथा कड़े प्रहार को रूढ़िवादी मानसिकता से लैस पुरुषों के लिए सहना कठिन कार्य था। जिससे ताराबाई को तरह तरह की आलोचनाओं को भी सहना पड़ा परन्तु वे अपने पथ पर अग्रसर रहीं।

महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ' पुस्तक 20वीं शताब्दी में स्त्रियों का रूढ़िवादी मानसिकता के प्रति हो रहे विरोधी आन्दोलनों का परिणाम है। इस पुस्तक के माध्यम से महादेवी वर्मा स्त्री मुक्ति के लिए के ऐसे मार्ग की तलाश करना चाहती थीं जिससे स्त्रियाँ पुरुष की कठपुतली बनकर न रहे और ना ही उनके द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करें बल्कि महादेवी स्त्रियों को एक ऐसे सहज मार्ग पर चलने की दिशा दिखाती हैं जिससे वो स्वयं अपनी दिशा निर्धारित करें और अपनी दशा को सुधार सकें। महादेवी की वैचारिकी में केवल स्त्री जीवन का क्षोभ ही दिखाई नहीं देता बल्कि महादेवी वर्मा आधी आबादी को समुचित अधिकार न दिए जाने के कारण उस समाज की अवरुद्ध होती प्रगति और विकास को पहुँचती क्षति से भी व्यथित हैं। महादेवी जी की इस कृति का केवल ऐतिहासिक महत्व नहीं है बल्कि यह वर्तमान समय में भी उतनी ही प्रासंगिक दिखाई देती है। इस पुस्तक में चित्रित भारतीय स्त्री को जिन आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक पाखंडों के द्वारा गुलामी का हार पहनाया जाता था, वैसी ही सामाजिक व्यवस्था लगभग आज भी सक्रिय है

तथा स्त्री चेतना के केंद्र बिंदु के रूप में इसे स्थान प्राप्त है। शृंखला की कड़ियाँ में स्त्री की दयनीय स्थिति पर अत्यंत संवेदनशील और मानवीय दृष्टि को अपनाया गया है। महादेवी इन शृंखला की कड़ियों को तोड़कर स्त्रियों को समाज में अपने अधिकारों के प्रति संवेदनशील होने तथा विरोध करने के लिए प्रेरित करती हैं। इसके साथ साथ स्त्रियों को महादेवी अपने विद्रोही छवि के साथ साथ अपने स्त्रीत्व के आधारों को भी सुरक्षित रखने की भी सलाह देती हैं। इस तरह महादेवी वर्मा की शृंखला की कड़ियाँ स्त्री जागृति, स्त्री चेतना के विचारों से समाज में जागरूकता का प्रचार प्रसार करती है। यह पुस्तक स्त्री चेतना के लिए 'मील का पत्थर' मानी जाती है। सुभद्राकुमारी चौहान का कृतित्व भी नारी चेतना को नए आयाम प्रदान करता है।

इस संदर्भ में हिंदी की पहली लेखिका बंग महिला का भी नाम लिया जाता है। चाहे उनके साहित्य में स्त्री चेतना का उतना विस्तार, तर्कशैली की वैसी धार नहीं मिलती जैसी सीमंतनी उपदेश पुस्तक में मिलती है, फिर भी हिंदी की प्रथम लेखिका तथा समाज सुधार आन्दोलन में अपने सक्रिय हस्तक्षेप के कारण उनको महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। आधुनिक काल के साहित्य में स्त्रियों की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिलता है, जहाँ स्त्रियों के उपेक्षित जीवन का चित्रण कर उनकी परिस्थितियों के साथ न्याय करते हुए समाज के सम्मुख यथार्थ को लाया गया।

आधुनिक साहित्यकारों में स्त्री मुक्ति की व्यथा को अपने साहित्य का विषय बनाने वालों में स्त्री-पुरुष दोनों साहित्यकारों की रचनाएँ देखने को मिलती हैं। हिंदी में पहला स्त्री काव्य संकलन 'मृदुवाणी' (1905) में मुंशी देवी प्रसाद के द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें लगभग 35 कवयित्रियों की कविताएँ को सम्मिलित किया गया था। गिरिजदत्त शुक्ल और ब्रज भूषण ने 'हिंदी काव्य कोकिलाएं कृति' (1933) में सम्पादित की। 'स्त्री कवि संग्रह' पुस्तक (1938) में ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल ने प्रकाशित की। नामवर सिंह के प्रधान संपादनत्व में 'हिंदी कथा लेखिकाओं की प्रतिनिधि कहानियाँ' (1984) में तथा 'आधुनिक महिला लेखन' (1985) में रमणिका गुप्ता द्वारा सम्पादित हैं।

स्त्री चेतना में पत्र-पत्रिकाओं का भी सराहनीय योगदान है। इन पत्रिकाओं में 'हंस' पत्रिका ऐसी पत्रिका है जिसने स्त्री मुक्ति के विषय को लेकर सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा अतुल्य सामग्री समाज के सम्मुख प्रस्तुत की तथा स्त्रियों के अपने असंतोष तथा वेदना को प्रकट करने का माध्यम मुहैया कराया।

पुरुष रचनाकार ने भी स्त्री की सामाजिक बदहाली को समझा तथा स्त्रियों के लिए लेखन किया तथा साथ ही स्त्रियों को भी अपनी आवाज़ को बुलंद करने का साहस दिया। पुरुष जो स्त्रीवादी चेतना से ओत प्रोत लेखन कार्य कर रहे थे उन लेखकों में सर्वाधिक सराहनीय स्थान राजेन्द्र यादव को मिलता है जिन्होंने अपने 'हंस' के 27 वर्षों के पूरे संपादनकाल में स्त्री चेतना का लगातार मार्ग दर्शन किया। अरविन्द जैन, सुधीर पचौरी, उपेन्द्रनाथ अशक, जगदीश्वर चतुर्वेदी, दुष्यंत आदि ने भी स्त्रियों की स्थिति को समझते हुए आलोचनात्मक कार्य किया है जो स्त्री मुक्ति आन्दोलन की सही दिशा के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

आधुनिक काल में स्त्री मुक्ति पर केन्द्रित साहित्य प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। आधुनिक काल के स्त्री लेखन में गृहस्थी व परिवार से जुड़ी लेखिकाओं के साथ साथ नौकरीपेशा लेखिकाएँ भी शामिल हैं। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, कात्यायनी, अनामिका, अर्चना वर्मा, गीताश्री, शिवानी, ममता कालिया, सूर्यबाला, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, नमिता सेठ, मंजुल भगत, शशिप्रभा शास्त्री, कृष्णा अग्निहोत्री, मणिका मोहिनी, दीप्ति खंडेलवाल, सुनीता जैन, मृणाल पांडे, नासिरा शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी, चन्द्रकिरण सोनरेक्सा, मधु कांकरिया आदि महत्वपूर्ण लेखिकाएँ हैं जिन्होंने अपने जीवन की पीड़ा को कभी कविता, कभी कहानी, कभी निबंध तो कभी आत्मकथा के माध्यम से बड़ी ही मार्मिक शैली में लिखी हैं।

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री मुक्ति की चेतना से ओत प्रोत बहुत अधिक रचनात्मक लेखन हो रहा है। जिससे समाज में स्त्री की यथार्थ स्थिति का आंकलन आसानी से किया जा सकता है। भौतिकवाद के प्रभाव से मनुष्य का जीवन समस्याओं से तो घिरा है, जिससे स्त्री के

जीवन में भी अनेक उतर चढ़ाव आए हैं। इन्हीं परिस्थितियों को समकालीन हिंदी साहित्यकारों ने अपने साहित्य की मनोभूमि बनाया है।

समकालीन स्त्री लेखिकाओं ने अपने रचनात्मक साहित्य के माध्यम से पितृसत्ता के कारण बंधित अपनी अस्मिता के प्रश्न को साहित्य, संस्कृति, राजनीति आदि के संदर्भ में चिन्हित किया तथा अपनी अस्मिता की पहचान के लिए लगातार प्रयासरत हैं। स्त्री लेखन का एक मात्र ध्येय स्त्री को समाज में उसकी उपस्थिति, उसकी पहचान, स्वतंत्रता समानता मुहैया कराना है, जिससे वो अपने मानवीय स्वरूप में सामान्य जीवन जी सकें। पुरुष समाज से मुक्ति कभी भी स्त्री चेतना का लक्ष्य नहीं रहा। स्त्री मुक्ति की अभिलाषी है परन्तु पुरुष से नहीं बल्कि पुरुष के उस आधिपत्य से जो उन्हें स्वाभाविक जीवन नहीं देते। वर्तमान स्त्री लेखन के माध्यम से लेखिकाएँ अपने जीवन का समग्र चित्रण अत्यंत बेबाकी के साथ कर रही हैं। पितृसत्ता के वर्चस्व को स्त्री लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से कठघरे में खड़ा किया तथा उन परम्परागत छवियों को तोड़ने का साहस किया जिनके जाल में वो वर्षों से कैदी बनी हुई थीं। अपनी मुक्ति के लिए निरंतर सक्रिय होकर, अपने राजनीतिक अधिकारों तथा सामाजिक भूमिका के बीच की गहरी खाई को पाटने तथा समानता के मूल्यों पर आधारित समाज की नींव कायम करने की कोशिश स्त्री लेखिकाएँ कर रही हैं।

निष्कर्षतः इस अध्याय के माध्यम से स्त्री विमर्श, उसकी अवधारणा, उसके उद्देश्यों को विभिन्न धाराओं के माध्यम से समय-समय पर स्त्री-मुक्ति के लिए उठ रहीं मांगों, अधिकारों, वैचारिक बहसों को भारतीय और पाश्चात्य परिपेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया।

चतुर्थ अध्याय

स्त्री मुक्ति का प्रश्न और हिंदी की समकालीन साहित्यिक
पत्रकारिता

चतुर्थ अध्याय :- स्त्री मुक्ति का प्रश्न और समकालीन साहित्यिक पत्रकारिता

‘स्त्री मुक्ति’ का प्रश्न आज के दौर में समाज और साहित्य का केंद्रीय मुद्दा बन गया है। यह अब वर्तमान समय की उपलब्धि माना जाने लगा है। स्त्रियों को पहले जहां सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति के लिए पुरुष की करुणादृष्टि की अभिलाषी होना पड़ता था वहीं अब स्त्रियाँ स्वयं सजग और आत्मचेतस हैं। अब स्त्रियाँ स्त्री दृष्टि से ही अपनी समस्या को उठाती हैं और उनके समाधान के लिए बिना किसी संकोच के देशव्यापी बहसों में अपनी भागीदारी दे रही हैं। अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति अब स्त्रियाँ जागरूक हो रही हैं। 21वीं सदी की स्त्रियों के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता का मुद्दा सबसे महत्वपूर्ण है।

भारतीय नवजागरणकालीन सुधारवादियों ने स्त्री के मानस में मुक्ति की चेतना के प्रसार की एक मुकम्मल शुरुआत कर दी थी। भारतीय समाज में जहां जिसमें स्त्रियों के साथ प्राचीन समय से ही असमानता और अमानवीयता का व्यवहार होता आया है। नवजागरणकाल ने स्त्रियों को एक ऐसे समाज की कल्पना करने का साहस दिया जहां वे बेफिक्र हो स्वतंत्र खुली हवा में सांस ले सकें। इस काल्पनिक समाज की स्थापना के लिए निरंतर प्रयास होते रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से स्त्रियों ने समय-समय पर अपनी वैचारिक आकुलता को मुखर स्वरों में अभिव्यक्त किया है। नवजागरण से पहले स्त्री या तो घर की चौखट में कैद थी या फिर उसकी मौजूदगी को हम कवियों की काल्पनिक दुनिया में पाते हैं। मीराबाई, आंडाल आदि जैसी कुछ भक्तिकालीन स्त्रियों के अलावा यदि सशक्त स्त्रियों की पड़ताल की जाए तो नवजागरण से पूर्व स्त्रियां बाह्य जीवन से नितांत नदारद रहीं। नयी शिक्षा नीति के ही परिणामस्वरूप स्त्री गुलामी के बंधन कुछ शिथिल पड़े तो स्त्री की स्थिति में सुधार आना शुरू हुआ। समाज के सर्वांगीण विकास में स्त्री शोषण एवं अशिक्षा सबसे बड़े व्यवधान थे और आज भी हैं। इन व्यवधानों के निराकरण के बिना एक स्वस्थ और कल्याणकारी समाज की स्थापना का विचार केवल काल्पनिक ही हो सकता है। प्रेस की

स्थापना के साथ ही पत्र-पत्रिकाओं का ध्यान इन रूढ़ियों और समस्याओं की ओर गया। जिससे समाज के समक्ष भारतीय समाज का यथार्थ आया।

हिन्दी क्षेत्र में स्त्री मुक्ति और स्वतन्त्रता की अनुगूँज सर्वप्रथम हमें पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से देखने को मिलती है। पत्र-पत्रिकाओं के शुरुआती दौर से ही स्त्री मुक्ति का विषय प्रमुख रहा है। मसला चाहे स्त्री स्वतन्त्रता संबंधी समस्याओं को लेकर हो या अनेक लेखकों द्वारा स्त्रियों को धार्मिक और मर्यादित बने रहने की सलाह का हो, प्रत्येक संपादक ने विभिन्न चर्चाओं में स्त्रियों की उपस्थिति को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया। पत्र-पत्रिकाओं में न केवल साहित्यिक चर्चाएँ देखने को मिलती हैं बल्कि प्रकाशित साहित्य के द्वारा सामाजिक विकृतियों को समाप्त करने के निरंतर प्रयास भी दिखते हैं। पत्र-पत्रिकाओं का भारतीय नवजागरण से एक घनिष्ठ संबंध रहा है इसलिए भारतीय पत्रकारिता का इतिहास भारतीय नवजागरण के इतिहास से सीधा संबंध रखता है और पत्रकारिता के माध्यम से ही हमें स्त्री मुक्ति के स्वरो की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। पत्रकारिता में स्त्री मुक्ति के स्वरो की पड़ताल से पूर्व हमें पत्रकारिता के इतिहास की संक्षिप्त पृष्ठभूमि जानना आवश्यक है।

आधुनिकता के युग में संचार की बड़ी महती भूमिका रही है। वर्तमान जीवन की परिस्थितियों, परिघटनाओं, विसंगतियों, उपलब्धियों, तथा आवश्यकताओं को आज जिस मुख्य माध्यम के जरिए संप्रेषित किया जा रहा है, वह माध्यम पत्रकारिता ही है। पत्रकारिता का आरंभ आधुनिक युग की एक आवश्यक देन है। यदि पत्रकारिता के उद्भव और विकास के इतिहास की बात की जाए तो यह बहुत प्राचीन और व्यापक है लेकिन भारतीय पत्रकारिता के उद्भव के पुख्ता प्रमाण हमें 18वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में देखने को मिलते हैं। “आधुनिक अर्थ में भारतीय पत्रकारिता का विकास विदेशी शासन के विरुद्ध पैदा होती सुगबुगाहट और जनचेतना के विकास के साथ होता है। भारतीय पत्रकारिता की कहानी को राष्ट्रीयता के विकास की कहानी कहा जाए तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी”¹ भारतीय पत्रकारिता के इतिहास की शुरुआत में सर्वप्रथम पहला नाम

¹ हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ. 6

विलियम वोल्ट्स का आता है। जो कंपनी के एक असंतुष्ट कर्मचारी थे। कंपनी से हुए उनके मतभेदों और अलगाव के कारण उन्होंने 1768 ई. में त्यागपत्र देकर कंपनी को छोड़ने का निर्णय लिया क्योंकि कंपनी में न केवल उनका व्यक्तिगत शोषण हो रहा था बल्कि उन्हें पूरी तरह से दबाने की कोशिश हो रही थी। अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ वे एक अखबार का प्रकाशन करना चाहते थे परंतु यह कार्य अंजाम ना पा सका। अंग्रेज अखबार की शक्ति को बहुत अच्छे से समझते थे इसीलिए उन्हें यह कतई स्वीकार्य नहीं था। अंग्रेजी सरकार इस बात से भी भयभीत थी कि प्रशासन के नाम पर कंपनी जो दुर्व्यवस्था कायम किए हुए है, जो घपले और भ्रष्टाचार वह कर रही है, कहीं उसकी पोल न खुल जाए। परिणामस्वरूप कंपनी ने विलियम वोल्ट्स को जबरन जहाज में बैठाकर वापस इंग्लैंड रवाना कर दिया। वोल्ट्स ने बाद में दो पुस्तकें लिखीं जिसमें उन्होंने भारत में कंपनी के भ्रष्टाचार और अव्यवस्था के काले कारनामों का भंडा फोड़ दिया।

भारतीय पत्रकारिता के प्रवर्तन का श्रेय 'जेम्स आगस्ट्स हिक्की' को जाता है। उन्होंने 29 जनवरी 1780 ई. को कलकत्ते से 'बंगाल गज़ट' पत्र प्रकाशित किया। यह ऐसा दौर था जब भारतीय समाज पराधीनता की बेड़ियों से बंधा हुआ था। हिक्की का यह प्रयास अंग्रेजी भाषा में था। 'बंगाल गज़ट' में मुख्यतः राजनैतिक और आर्थिक विषयों पर ही लेख प्रकाशित होते थे। इस पत्र के माध्यम से ईस्ट इंडिया कंपनी के कुशासन और अंग्रेजी व्यवस्था के भ्रष्टाचार की जमकर पोल खोली गयी। हिक्की द्वारा उस समय के गवर्नर जनरल हेस्टिंग्स को भी नहीं बख्शा गया। उनके समस्त काले कारनामों की 'बंगाल गज़ट' में जमकर आलोचना की गयी। ईस्ट इंडिया कंपनी प्रशासन के नाम पर जो गलत नीतियाँ चला रही थी हिक्की ने निर्भीकतापूर्वक उसका विरोध अपनी पत्रिका के माध्यम से किया। साहित्यिक संदर्भों से प्रत्यक्ष सरोकार न होते हुए भी इस पत्रिका ने भारतीय पत्रकारिता के लिए एक मार्ग प्रशस्त अवश्य किया।

हिन्दी पत्रकारिता के प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तंड' की शुरुआत 30 मई 1826 को पंडित युगल किशोर के द्वारा कलकत्ते से ही हुई। यह पत्र साप्ताहिक पत्र था। इसके बाद 10 मई 1829 को

आधुनिक भारतीय जनचेतना के मूल प्रेरक राजाराम मोहनराय ने 'बंगदूत' पत्र निकाला जिसका मूल उद्देश्य पक्षपात किए बिना समाज की यथार्थ स्थिति को अपने पत्र के माध्यम से व्यक्त करना रहा। काशी हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी का मुख्य केंद्र माना जाता है। 'बनारस अखबार' हिन्दी भाषी क्षेत्र से निकालने वाला पहला हिन्दी पत्र था। इसका सम्पादन 1845 में राजा शिवप्रसाद सिंह ने किया। 1850 में काशी से तारामोहन मैत्र के सम्पादनत्व में 'सुधाकर' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ फिर इसके बाद 1854 में श्यामसुंदर सेन ने 'समाचार सुधावर्षण' नामक दैनिक पत्र का सम्पादन किया। 1855 में 'प्रजा हितैषी' पत्र का प्रकाशन राजालक्ष्मण सिंह द्वारा किया गया। 1857 में दिल्ली से 'पयामे आजादी' नाम से एक महत्वपूर्ण पत्र पत्रकार अजी मुल्ला खाँ के द्वारा निकाला गया। इस पत्र में राष्ट्रीयता की चेतना से ओतप्रोत विस्फोटक सामग्री प्रकाशित होती थी। इस प्रकार देखने को मिलता है कि हिन्दी पत्रकारिता के शुरुआती उन्नायकों का मुख्य ध्येय राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार था। जिसके कारण इन्हें अंग्रेजी सरकार के कोप का शिकार होना पड़ता था परंतु सांस्कृतिक जागरण की चेतना और स्वाधीनता के प्रति एक सकारात्मक स्वर और संघर्ष करना इन पत्र-पत्रिकाओं के प्राण थे। इस दौर में एक ओर जहां साहित्य में भाषा, शैली और उसके स्वरूप को लेकर नई विधाएँ जन्म ले रही थीं तो दूसरी ओर इन विधाओं में जिनमें उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता आदि में समाज के सभी ज्वलंत संदर्भों, सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रण, आमजन की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली। रचनात्मक साहित्य की पहुँच को समाज के प्रत्येक तबके तक उपलब्ध कराने का काम पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। पत्रकारिता के माध्यम से भारतीय स्वाधीनता संघर्ष को एक मजबूत स्तम्भ मिला जिससे संघर्ष को बल मिलता गया। प्रारम्भ से ही हिन्दी पत्रकारिता का स्वरूप इतना व्यापक रहा है कि तत्कालीन संदर्भों के साथ-साथ उसका संबंध हिन्दी साहित्य से भी सीधे सीधे जुड़ता है। हिन्दी साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं की महती भूमिका रही है। हिन्दी पत्रकारिता का काम केवल समाचार, सूचना प्रेषित करने का माध्यम बनना ही नहीं था बल्कि उसने साहित्य के व्यापक प्रसार के साथ-साथ जनसमूह को यथार्थ स्थिति

से अवगत कराते हुए उनमें स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने की राष्ट्रीय चेतना को भी जागृत किया। पत्र-पत्रिकाएँ प्रत्येक देशकाल की धड़कन होती हैं इसीलिए उनमें प्रकाशित सामग्री समकालीन परिवेश को जानने और परखने का उचित पैमाना होती हैं। स्त्रियाँ अपनी अस्मिता के प्रति सजग हो चुकी थीं इसलिए अपनी स्वतन्त्र पहचान के लिए निरंतर प्रयासरत रहीं। स्त्रियाँ सामाजिक समानता, शिक्षा और राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आवाज़ उठा रहीं थी लेकिन उन्हें सहर्ष सामाजिक मान्यता नहीं मिली। 20वीं शताब्दी में हिन्दी प्रदेश में स्त्री मुक्ति और स्त्री जागृति की लहर देखने को मिलती है। अब स्त्री आंदोलन की अगुवाई स्त्रियाँ स्वयं कर रहीं थी। स्त्रियों ने अपने आंदोलन को गति स्त्री केन्द्रित पत्रिकाओं के माध्यम से दी, जिनमें स्त्री दर्पण, स्त्री धर्म, गृहलक्ष्मी जैसी प्रमुख पत्रिकाएँ रहीं।

भारतेन्दु युग के पत्रकारों ने राष्ट्रीय आंदोलन, हिन्दी भाषा के गौरव, पराधीनता से मुक्ति, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का संदेश अपनी अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से दिया। इन सभी पत्रिकाओं के संपादक साहित्यकार थे जिनका उद्देश्य पाठक की साहित्यिक क्षुधा को शांत करना तो था ही साथ ही देश की दयनीय स्थिति से समाज का साक्षात्कार कराना भी उनका मुख्य उद्देश्य रहा। भारतेन्दु ने इस दिशा में हिन्दी साहित्य के अन्य चिंतकों को भी आकर्षित किया। स्त्री संबंधी समस्याओं को लेकर समाज सुधारक खुलकर विरोध नहीं कर पा रहे थे क्योंकि उनमें अभी भी संस्कारों की जकड़न मौजूद थी। भारतेन्दु जी ने स्त्री शिक्षा का समर्थन तो किया पर परंपरावादी ढांचे को कायम रखते हुए। भारतेन्दु जी लिखते हैं। “ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल-धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें।”¹

पत्रकारिता का स्त्री के प्रति रवैया समझौतावादी ही रहा है। पत्रकारिता के इतिहास पर जब भी बात होती है हमेशा स्त्री की उपस्थिति की उपेक्षा ही देखने को मिलती है। ‘हिन्दी के यशस्वी पत्रकार’ नाम से ‘क्षेमचंद सुमन’ ने एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने 56 यशस्वी पत्रकारों के बारे

¹ हिन्दी नवजागरण और स्त्री अस्मिता, सुनन्दा पराशर, पृ. 29.

में लिखा। इसमें महत्वपूर्ण पत्रकार तो शामिल हीं साथ ही उन पत्रकारों का भी नाम सम्मिलित था जिन्होंने केवल कुछ माह की ही अवधि तक पत्रों का प्रकाशन किया। विडम्बना ये रही कि उनमें एक भी स्त्री पत्रकार और उनके द्वारा संपादित एक भी पत्रिका का नाम तक नहीं था। हेमंत कुमारी चौधरी की 'सुगृहणी' नाम की पत्रिका स्त्री संपादित पहली पत्रिका थी। भले ही यह पत्रिका पत्रकारिता के क्षेत्र में कोई बड़ी उपलब्धि और यश प्राप्त नहीं कर सकी परंतु इस पत्रिका का महत्व इसीलिए अवश्य होना चाहिए कि यह पहली स्त्री संपादित पत्रिका है। स्त्री मुक्ति आंदोलन में इस पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान भी रहा है। 'स्त्री दर्पण' पत्रिका जो रामेश्वरी देवी नेहरू के द्वारा संपादित हुई, जिस पत्रिका की सरस्वती और हिन्दी प्रदीप में भी समय-समय पर प्रशंसा होती रही और 'स्त्री-दर्पण' ना केवल स्त्री-विषयक पत्रिका रही बल्कि तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक विषयों में भी यह पत्रिका दखल देती रही और बेबाकी से लिखती रही परंतु उसका भी इस पुस्तक में कोई जिक्र नहीं मिलता। उमा देवी नेहरू एक ऐसी बेबाक और निर्भीक पत्रकार रहीं जो स्त्री-दर्पण, हिन्दी प्रदीप, मर्यादा, प्रभा जैसी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में लगातार सामाजिक मुद्दों पर प्रहार करती हुई लेखनी से लेख लिखती रहीं, उनका भी नाम इस पुस्तक में सिरे से नदारद है। इन स्त्री पत्रकारों की ऐसी उपेक्षा तत्कालीन पत्रकारिता द्वारा स्त्री उपस्थिति को बिल्कुल नज़रअंदाज़ और उपेक्षित करने का परिचायक है। इस समय के अधिकांश सभी चिंतकों, समाज-सुधारकों, राजनेताओं और पत्रिकाओं का स्त्री के प्रति नज़रिया समझौतावादी था ऐसा शायद इसलिए भी रहा हो कि यदि ये पत्रिकाएं अचानक प्रगतिशील रुख अपनाती तो साधारण आमजन में यह सहज स्वीकार्य नहीं होता परंतु परिवर्तन की धीरे-धीरे शुरुआत होनी प्रारम्भ हो चुकी थी। स्त्री मुक्ति आंदोलन की नींव डालने में इन समाजसुधारकों की भूमिका को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। स्त्रियों को अपनी अस्मिता और अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष का बिगुल बजाना होगा। इस संदर्भ में हिन्दी पत्रिकाओं द्वारा स्त्री विमर्शी दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण मानने से स्त्री-विमर्श के उत्थान और विकास को नयी दिशा प्राप्त हुई। स्त्री मुक्ति के प्रश्न और हिन्दी पत्रकारिता का गहरा संबंध आरंभ से

देखा जाता रहा है। अब हम हिन्दी साहित्य में स्त्री मुक्ति और स्त्री मुक्ति संघर्ष के प्रश्नों के प्रसार को विभिन्न महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के माध्यम से जानेंगे।

4.1 कविवचन सुधा

कविवचन सुधा का प्रकाशन 15 अगस्त 1968 में काशी से नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा किया गया। कविवचन सुधा ने अपने नाम के अनुरूप ही भारतीय जनता को कविता की परंपरा से अवगत कराया। आरंभ में यह पत्रिका मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित होती थी परंतु समाज और राष्ट्र की त्रासद स्थिति से व्यथित होकर भारतेन्दु ने इसे पाक्षिक रूप से निकालना आवश्यक समझा साथ ही पत्रिका में गद्य को भी समाविष्ट किया।

पत्रिका का मूल स्वर तो भारतीय जनमानस में नयी ऊर्जा और राष्ट्रीय चेतना का संचार कर उन्हें राष्ट्रीय सेवा के लिए प्रवृत्त करना ही रहा परंतु अन्य विषयों को उपेक्षित नहीं किया गया। पत्रिका सामाजिक मुद्दों पर भी लगातार लेखों का प्रकाशन करती रही। स्त्री मुद्दों को लेकर भी ‘कवि वचन सुधा’ में लेख देखने को मिलते हैं। ‘कवि वचन सुधा’ में 3 नवंबर 1873 के अंक में ‘स्त्री शिक्षा’ नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ। लेख में स्पष्ट स्वरों में कहा गया है कि पश्चिमोत्तर देशों में तब तक उन्नति संभव नहीं होगी जब तक स्त्रियों की शिक्षा को उपेक्षित किया जाएगा। इसका कारण भी स्पष्ट किया गया है कि यदि पुरुष शिक्षित तथा विद्वान हैं और वहाँ की स्त्रियाँ अशिक्षित तथा मूर्ख होंगी तो उनमें आपसी प्रेम का भाव लुप्त ही रहेगा और यह गृह कलह का कारण ही बनेगा। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय स्त्री शिक्षा पर बल तो दिया गया परंतु शिक्षा को केवल गृहस्थी के विकास और समाज विकास के लिए ही आवश्यक समझा गया। पितृसत्तात्मक विचारों और परम्पराओं की ओट में ही समाज में स्त्री शिक्षा को बल दिया गया।

4.2 बालाबोधिनी

समाज का ध्यान स्त्री की दयनीय अवस्था की ओर आकृष्ट करने के लिए भारतेन्दु ने स्त्री केन्द्रित अलग से एक पत्रिका निकालने की योजना की। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने स्त्री शक्ति के विकास और उन्हें समाज में समानता का दर्जा दिलाने के लिए 1 जनवरी 1874 को 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका प्रकाशित की। "नारी जगत को आधुनिक शिक्षा युग के साथ चलने की प्रेरणा देने और पुरुष के बराबर स्थान दिलाने के संकल्प के साथ 'बालाबोधिनी' का प्रकाशन किया"¹ 'बालाबोधिनी' को हिन्दी की प्रकाशित प्रथम स्त्री विषयक मासिक पत्रिका का गौरव प्राप्त हुआ। यह पत्रिका बनारस के मेडिकल हॉल प्रेस से प्रकाशित हुई थी। इस पत्रिका का प्रकाशन लगातार चार वर्षों तक हुआ। फिर इस पत्रिका को हरिश्चंद्र चंद्रिका में सम्मिलित कर लिया गया था। इस पत्रिका को 'यह स्त्री जनों को प्यारी हिन्दी भाषा सुधारी' मासिक पत्रिका माना जाता था।

नारी चेतना की दृष्टि से तो इस पत्रिका का महत्व है ही साथ ही भाषा शैली और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी यह पत्रिका बहुत महत्व रखती है। उसकी शैली का एक रूप देखिये 'मेरी प्यारी बहनों मैं एक तुम्हारी नयी बहन 'बालाबोधिनी' आज तुम लोगों से मिलने आई हूँ मैं तुम लोगों से हाथ जोड़कर आँचल खोल कर यही मांगती हूँ कि मैं जो कभी कोई भली, बुरी, कड़ी, नरम, कहनी, अनकहनी कहूँ उसे मुझे अपनी समझ कर क्षमा करना क्योंकि मैं जो कहूँगी तुम्हारे हित की ही कहूँगी'। इस पत्रिका के प्रत्येक अंक के मुख्य पृष्ठ पर आदर्श वाक्य के रूप में दोहे छपते थे।

“जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति

जो नारि सोई पुरुष थामें कछु न विभक्ति

वीर प्रसविनी बधु बधू होई हीनता खोय

नारी नर अरधंग को सांचेहि स्वमिनि होया”

¹ हिन्दी पत्रकारिता- 'प्रेमचंद और 'हंस'- रत्नाकर पांडे- पृ. 41.

चूँकि यह पत्रिका स्त्री विषयक थी और इस पत्रिका का मुख्य स्वर स्त्रियोपयोगी लेखों का प्रकाशन ही रहा था इसलिए पत्रिका में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता के विषय में लिखा गया कि स्त्री शिक्षा से स्त्री द्वारा बच्चों में सुसंस्कार दिए जाएंगे। स्त्रियाँ कुशल गृहणी और कर्तव्यनिष्ठ पत्नियाँ कैसे बनें इस तरह के लेख इस पत्रिका में बहुलता में छपे। परंपरागत ढाँचे को क्षति पहुंचाए बिना ही समाज सुधारक स्त्री की सामाजिक स्थिति में मात्र सुधार की इच्छा रखते थे। इन लेखों से यह सिद्ध होता है कि स्त्री कर्तव्यों को प्रतिष्ठापित करने हेतु ही इस पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया गया।

‘बालाबोधिनी’ के अप्रैल 1876 के अंक में ‘आरलेनस की कुमारी’ कहानी प्रकाशित हुई। जो एक राजकुमारी की शौर्य और वीरता की कहानी है। तत्कालीन समय सांस्कृतिक सामाजिक संघर्षों का दौर रहा। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में लगातार परिवर्तन हो रहे थे। इन परिवर्तनों का सीधा असर स्त्री समाज में भी देखने को मिलता था। हालांकि ‘बालाबोधिनी’ स्त्रियों को गृह शिक्षा और एक परंपरावादी स्त्री के स्वरूप को ही स्वीकारने की हिमाकत करती रही पर इसका सबसे सकारात्मक पक्ष यह भी निकलता है कि स्त्रियों के लिए अलग से एक पत्रिका निकालने और उनकी समस्याओं को समाज के सम्मुख रखने का प्रयास इस पत्रिका के माध्यम से किया गया। स्त्रियों को एक नई दिशा इस पत्रिका के माध्यम से प्राप्त हुई।

4.3 सुगृहणी

‘सुगृहणी’ पत्रिका हेमंत कुमारी चौधरानी द्वारा सन् 1888 में प्रकाशित हुई। हेमंत कुमारी चौधरानी देश की पहली महिला पत्रकार और संपादिका बनीं। नवजागरण के अध्येताओं ने इस मुद्दे को बिल्कुल नज़रअंदाज़ किया और इस विषय पर विचार करने को आवश्यक ही नहीं समझा कि भारतेन्दु समकालीन कौन सी लेखिकाएँ थी? स्त्री लेखन और उनकी सामाजिक और रचनात्मक हिस्सेदारी को गति और दिशा कैसे प्राप्त हुई?

19वीं शताब्दी का उत्तरार्ध स्त्री चिंतन के नज़रिये से काफी खास रहा है क्योंकि इस समय हेमंत कुमारी देवी, श्रीमति हरदेवी, रामेश्वरी नेहरू और पंडिता रमाबाई अपनी अस्मिता के लिए सजग हुई और उन्होंने स्त्री वैचारिकी के उत्थान के लिए एक आदर्श स्थिति का निर्माण करने में अहम भूमिका निभाई। हेमंत कुमारी देवी भारतेन्दु के समकालीन एक ऐसी संपादिका रही हैं जिन्होंने स्त्रियों की समस्या सामने लाने के लिए एक महत्वपूर्ण ‘सुगृहणी’ पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस समय कुछ अन्य महत्वपूर्ण पत्रिकाओं का भी उदय हुआ जिनका सम्पादन स्त्रियों ने ही किया। लखनऊ से 1884 में ‘अबला हितकारक’, ‘वनिता हितैषी’ पत्रिका जिसकी संपादक भाग्यवती रहीं, हरदेवी के सम्पादन में 1889 में ‘भारतभागिनी’, गृहलक्ष्मी, 1918 में स्त्री धर्म, कमला आदि पत्रिकाओं का उल्लेख भी मिलता है।

सुगृहणी पत्रिका नागरी भाषा में प्रकाशित होती थी इस पत्रिका में कुल 12 पृष्ठ होते थे साथ ही पहला और आखिरी पृष्ठ रंगीन हुआ करता था। हिन्दी भाषा से हेमंत कुमारी को आत्मीय लगाव और अनुराग था। 19वीं सदी में यह एक अचंभे की ही बात मानी जाती थी कि एक गैर हिन्दी स्त्री ने स्त्रियों की त्रासदी को सामने लाने के लिए पत्रिका प्रकाशित की। स्त्री अपने दुख दर्द के प्रति सचेत हो रहीं थी और पत्रिकाएँ निकाल रही थी। ये लेखकों के लिए एक आश्चर्य का ही विषय था। ‘सुगृहणी’ पत्रिका के संबंध में भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध लेखक बाबू राधा कृष्ण दास ने यह कहा ‘स्त्री शिक्षा विषयक दूसरी पत्रिका ‘सुगृहणी’ थी। इसे लाहौर के बाबू नवीनचंद्र राय की पुत्री श्री

हेमंत कुमारी देवी संपादित करती थी। इसका जन्म सन् 1888 ई में हुआ। यह बात हिन्दी के लिए नई थी कि एक स्त्री वह भी बंगालीन एक हिन्दी पत्रिका की संपादिका हो, लेख इसके ब्रह्म समाज के ढंग पर विशेष होते थे’¹

अपनी पत्रिका में हेमंत कुमारी ने स्त्री समस्याओं से संबन्धित अनेक लेखों को प्रकाशित किया। स्त्री शिक्षा को लेकर हेमंत कुमारी जी ने काफी जोर दिया। चेतनासम्पन्न हेमंत जी का मानना था कि स्त्रियों को गहनों से सुसज्जित नहीं किया जा सकता अपितु स्त्रियों का वास्तविक आभूषण उनका अस्तित्व होता है जिसे स्त्रियाँ शिक्षा के माध्यम से प्राप्त करती हैं। स्त्रियों के लिए शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करते हुए संपादिका अपनी पत्रिका के आवरण पृष्ठ पर इन पंक्तियों को छापती थी। ‘विद्या और साध्विता के भूषण से जब नारी अलंकृत होती है तब मैं उसे अलंकृता समझती हूँ; सोने से भूषिता होने से ही अलंकृत नहीं होती’

इस पत्रिका के प्रकाशन के समय ऐसा दौर था कि स्त्रियों पर समाज तमाम तरह की संहिताओं को लगा रहा था। ऐसे में हेमंत कुमारी जैसी महान संपादिका ने इन संहिताओं के विरोध में अपनी पत्रिका में अनेक लेख लिखे। सन् 1888 में इन्होंने ‘यथार्थ लज्जा’ लेख लिखकर ‘घूँघट और पर्दा प्रथा’ की पुरजोर अवमानना की। “नाना अलंकारों से भूषित बालक भी यदि पापाचारी हो तो उसकी सुंदरता नहीं रहती। जिसके हृदय में पाप पूर्ण है बाहर के सुंदर कपड़े और घूँघट से उसे क्या फायदा? वह मुंह में अमृत और पेट में विष से भरा हुआ है। शारीरिक दोष जिसके संयम में है, इंद्रिया जिसके वश में है, चित्तवृत्ति जिसकी निरोग और मन जिसका प्रसन्न हैं उसे घूँघट से मुंह ढकने का क्या प्रयोजन?”²

हेमंत कुमारी का कहना था कि स्त्रियों को अपनी रक्षा के लिए खुद को सबल बनाने की आवश्यकता है। स्त्रियों की रक्षा ना घूँघट कर सकता है और न आत्मसजग स्त्रियों को अपनी रक्षा

¹ <https://www.jankipul.com/2020/10/hemant-kumari-devi-a-women-writer-of-19th-century.html>

² <https://www.jankipul.com/2020/10/hemant-kumari-devi-a-women-writer-of-19th-century.html>

के लिए पुरुष निर्भरता की आवश्यकता होगी। 'सुगृहणी' में 'अवियर चरित्र' लेख प्रकाशित हुआ इस लेख में अवियर नामक एक विदुषी स्त्री के उदाहरण से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि स्त्रियाँ बौद्धिक रूप से मजबूत होती हैं, उन्हें कमतर नहीं आंकना चाहिए। 1888 में 'उन्नत नारी जीवन' लेख प्रकाशित हुआ जिसमें पुजारियों और पुरोहितों के पाखंड का निर्भीकता से विरोध किया गया। पत्रिका में स्त्री की स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को रेखांकित करते हुए 'गृह चिकित्सा' और 'फोटोग्राफी' शीर्षक से कॉलम निकलते थे जिसमें उनकी समस्याओं के निदान के लिए उपाय और दवाइयों के सुझाव दिये जाते थे।

'सुगृहणी' पत्रिका की संपादक एक स्त्री थी इसलिए हिन्दी के संपादकों ने इसकी आलोचना भी की। 'आर्यवृत्त' के संपादक ने 'सुगृहणी' की आलोचना करते हुए यह कहा कि इसमें प्रकाशित होने वाली स्त्री सशक्तिकरण के लेख और स्त्री मुक्ति केन्द्रित सामग्री स्त्रियों के हित में नहीं हैं और उनकी बुद्धि के अनुकूल भी नहीं हैं। उनकी आलोचना से स्पष्ट होता है कि कुछ संपादक स्त्री मुक्ति से कितना भयभीत थे। उनको शंका थी कि अगर पत्रिका से स्त्रियों में एकीकरण हो गया और वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जाएंगी तो पितृसत्ता का क्या हथ्र होगा। इससे यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि नवजागरणकाल में कुछ ऐसे संपादक रहें जो स्त्रियों के प्रति संकीर्ण मानसिकता से ग्रसित थे।

हेमंत कुमारी देवी ने अपनी पत्रिका के जरिए स्त्रियों में वैचारिक बहस के लिए एक पुख्ता आधार प्रदान किया। 'सुगृहणी' के माध्यम से उन्होंने घर की चार दिवारी में बंद स्त्री की कैद और उनकी पीड़ा को अभिव्यक्त किया। इस पत्रिका ने अपने समय में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। इस स्त्री संपादित पत्रिका ने न केवल स्त्रियों में पत्रकारिता के प्रति लगाव और आसक्ति को बढ़ावा दिया बल्कि साथ में परवर्ती स्त्री पत्रकारों के लिए भी एक सशक्त मार्ग प्रशस्त भी किया।

4.4 हिन्दी प्रदीप

पं. बालकृष्ण भट्ट ने सन् 1877 में 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। बालकृष्ण भट्ट ने लगभग 37 वर्षों तक इस पत्रिका का अकेले प्रकाशन किया। इस पत्रिका में सांस्कृतिक, राजनैतिक और साहित्यिक परिपेक्ष्यों को व्यक्त करने की एक अनूठी कला थी। यह हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि की समर्थक पत्रिका रही। सांस्कृतिक संघर्ष के दौर में अधिकांश लेखकों का स्त्री विषयक दृष्टिकोण अधिकतर समझौतावादी ही रहा। सुधारक समूल ढांचे में परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। पितृसत्ता को बचाते हुए ही स्त्रियों की स्थिति में बदलाव करने के हिमायती थे। इसी संदर्भ में वे विधवा विवाह का समर्थन तो करते थे परंतु इसमें भी एक आवरण को ढके हुए। जिसमें यह विचार किया जाता था कि कौन सी विधवाएँ? (वर्ग, विभाजन, बाल विधवा या वयस्क?) बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन तो अक्सर देखने को मिल जाता था परंतु वयस्क विधवाओं के प्रति स्थिति उपेक्षापूर्ण रही। 'हिन्दी प्रदीप' में एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें कहा गया था।

“सकल दोष का खानि, वीर्यहरन दारिदकरन

आलस कि जड़ जानि, त्यागहू बाल्य विवाह को”

19वीं सदी के अंतिम दशक में निकलने वाली इस पत्रिका में स्त्री विषयक अनेक महत्वपूर्ण लेख देखने को मिलते हैं। जिनके विषय कुछ ऐसे होते थे - लेखिका रमादेवी का 'बाल विवाह संबन्धित बुराईयाँ' (नवंबर 1906), एक अबला का 'पतिव्रत का दृष्टांत' (नवंबर 1906), सावित्री देवी का 'भारत क्यों गारत' (मई 1901) आदि। इस समय लेखों के विषय वैविध्यपूर्ण होते थे। विविधता के साथ-साथ लेखों में हमें अंतर्विरोध भी देखने को मिलता है। जहां एक ओर स्त्री को पराक्रमी बनने का साहस दिया जाता है तो दूसरी तरफ उनकी सीमित स्वतन्त्रता को ही उचित समझा जाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता पर व्यंग्य किया जाता है। 'हिन्दी प्रदीप' बाल-विवाह, नारी शिक्षा

और अन्य सभी सामाजिक बुराइयों के प्रति भी जागरूक और सजग थी। अपने इसी उग्र और निर्भीकतापूर्ण रवैये के कारण पत्रिका को सरकारी कोप का भी शिकार बनना पड़ा, और आर्थिक विपन्नता के कारण 'हिन्दी प्रदीप' पर ताला लग गया।

इस समय प्रकाशित होने वाली इन अल्पकालीन पत्रिकाओं का महत्व साहित्यिक दृष्टि से भले ही कम हो परंतु इन पत्रिकाओं ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिए अथक प्रयास किए और इनसे ही स्त्री जगत में पहली बार साहित्यिक पत्रकारिता के प्रति रूचि उत्पन्न हुई।

4.5 सरस्वती

श्यामसुंदर दास के सम्पादन में 1900 से सरस्वती का प्रकाशन आरंभ हुआ। ‘सरस्वती’ का प्रकाशन हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के नए युग का शुभारंभ माना जाता है। सन् 1903 जनवरी से तथा इस पत्रिका के भाग 4, संख्या 9 से सम्पादन का दायित्व ‘महावीर प्रसाद द्विवेदी’ द्वारा किया गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘सरस्वती’ के माध्यम से हिन्दी साहित्य को नयी दिशा प्रदान की। इस पत्रिका द्वारा साहित्य के ज्वलंत मुद्दों को मौलिक और अनूदित दोनों रूप में उठाया गया। ‘सरस्वती’ में हिन्दी साहित्य और साथ ही हिन्दी आलोचना के गंभीर स्वरूप और मुद्दों को मुख्य रूप से केन्द्रित किया गया। द्विवेदी जी के सम्पादन काल में साहित्यिक पत्रकारिता के जो मानक स्थापित हुए वे आगामी पत्रिका के लिए एक मिसाल बन गए। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में “द्विवेदी जी की युगांतकारी भूमिका यह थी कि उन्होंने बिखरी हुई शक्ति को एक पत्रिका के माध्यम से एकताबद्ध किया।”¹

‘सरस्वती’ का महत्व हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास में तो अप्रतिम रहा ही साथ ही ‘सरस्वती’ का राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक मुद्दों से भी पूरा सरोकार रहा। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के सम्पादन की अवधि में सर्वोत्तम श्रेणी के लेख प्रकाशित हुए। पत्रिका के द्वारा हिन्दी की गतिविधियों को अत्यंत सक्रियता प्राप्त हुई। सामाजिक मुद्दों की उपस्थिति सरस्वती के प्रत्येक अंक में देखी गयी। शिक्षा के मुद्दे को लेकर ‘सरस्वती’ पत्रिका जागरूक थी तथा यह अपने लेखों के माध्यम से समय-समय पर अपनी सक्रियता से साक्षात्कार भी करवाती रही। ‘सरस्वती’ के एक अंक में बड़ौदा के दीवान मनु भाई नंदलाल मेहता का एक भाषण प्रकाशित हुआ जो उनके द्वारा अहमदाबाद के एक स्त्री कॉलेज के उद्घाटन समारोह के दौरान दिया गया। उनके अनुसार “स्त्री शिक्षा की उन्नति में अभी इस दिशा में कई बाधाएँ हैं। स्त्रियों की अज्ञानता और सामाजिक अवस्था इसमें सबसे प्रधान है। स्त्रियों की शिक्षा में इन बातों का खूब

¹ डॉ. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण पृ. 366.

ख्याल रखना चाहिए कि स्त्रियाँ भी मनुष्य वर्ग में हैं। अतएव जो बात मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है वह उनके लिए भी आवश्यक है”¹ शिक्षा ही ऐसा माध्यम है जिससे स्त्रियों का मानसिक विकास होगा और वह अपना जीवन निर्वाह कुशलता से कर सकेंगी। शिक्षा से पत्रिका का आशय केवल अक्षर ज्ञान प्राप्त कराना नहीं था। बल्कि तकनीकी और मेडिकल पाठ्यक्रम की उपयोगिता पर भी समाज का ध्यान पत्रिका ने आकर्षित किया।

सन् 1901 में ‘नायिका भेद’ शीर्षक से लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में स्त्री को विलासी वस्तु समझने वाली पुरुषवृत्ति का जोरदार विरोध किया गया। कालिदास आदि संस्कृत कवियों ने जो नायिका भेद किया है, उसका विरोध भी लेख में किया गया है। वहीं 1905 के एक लेख ‘बंबई में भारत महिला परिषद’ में सामाजिक समस्याओं को केन्द्रित किया गया। शिक्षा और जाति व्यवस्था की समस्या केंद्र में रही। ‘शिक्षा की दशा’ मई 1915 में प्रकाशित एक लेख है। ग्रामीण क्षेत्र में फैली अज्ञानता को गंभीरता से इस लेख में उठाया गया है। बालकों की शिक्षा संबंधी चिंता को इस लेख में उठाया गया, स्त्री शिक्षा के प्रति यहाँ कोई विशेष दृष्टिकोण नहीं डाला गया।

‘सरस्वती’ में ‘चीन का स्त्री समाज’, जापान की स्त्रियाँ, ‘इंग्लैंड की स्त्रियाँ’ इस तरह के लेख प्रकाशित होते थे। इस तरह के लेखों का मुख्य ध्येय भारतीय स्त्रियों को इस बात से अवगत करवाना रहता था कि आधुनिक देशों की स्त्रियाँ शिक्षित होकर भी कैसे अपनी परंपरा, और अपनी संस्कृति का निर्वाह करती हैं। ‘जापान’ की स्त्रियाँ 1915 के लेख में द्विवेदी जी के विचार “जापान जैसे देश में स्त्रियाँ शिक्षित हैं, पर वहाँ की स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं हैं। वे अपने पति के कुटुम्बियों का बड़ा आदर करती हैं। पति को तो वे स्वामी क्या, देवता समझती हैं।”² जापानी स्त्रियों को माध्यम बनाकर भारतीय स्त्रियों को धर्म की ही शिक्षा दी जा रही थी। गृहस्थी कुशलता पर ही विशेष ध्यान देने की हिदायत स्त्रियों को दी जाती रही। सुधारक स्त्री शिक्षा और स्वतन्त्रता के महत्व से अनजान नहीं थे परंतु वे इन समसामयिक महत्वपूर्ण सवालों को धर्म की सीमा में लाकर ही समाधान करना

¹ सरस्वती, महावीरप्रसाद द्विवेदी, सितम्बर 1920, पृ. 213.

² सरस्वती, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मई 1915 पृ. 107.

चाहते थे। ऐसी शिक्षा देना चाहते थे जो लड़कियों को सुगृहिणी बनाएं और उन्हें घर में ही कैद कर पूर्वनिर्धारित 'सुगृहिणी' की योग्यता में ही पारंगत करें।

1903 में 'सौभाग्यवती रखमाबाई' लेख छपा जिसमें यह लिखा गया कि शिक्षा से स्त्रियों का व्यवहार और चरित्र बिगड़ता नहीं है बल्कि उनके व्यक्तित्व में शिक्षा से सुधार ही देखने को मिलता है। शिक्षित स्त्रियाँ अशिक्षित महिलाओं की अपेक्षा गृहस्थी को अधिक व्यवस्थित ढंग से संभालती हैं। इसी अंक में 'स्त्रियों में संगीत विद्या' लेख भी प्रकाशित हुआ।

द्विवेदी जी स्त्री के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं रखते थे। वे स्त्री की पीड़ा को समझते थे और उसमें सुधार के समर्थक भी थे। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार लाने, उनकी अज्ञानता, अशिक्षा को समाप्त करने के लिए 1905 में 'काशी महिला परिषद' के लिए उन्होंने यह कविता प्रकाशित की

“प्यारा है सबसे हमको हिंदुस्तान हमारा

सुख दुःख में हमेशा मेहरबान हमारा

विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं

क्या से क्या हुआ यह गुलिस्तान हमारा

पढ़ती थी वेदवर जहां महिला सदैव ही

नारी समूह है वही अज्ञान हमारा॥¹

1910 में 'सावित्री की पतिव्रता' उस समय इस तरह के लेखों को बहुलता में देखा जा सकता था। उन्हें बार बार यह याद दिलाया जाता था कि वे पढ़ने लिखने के बाद भी अपने धर्म को भूलने का प्रयास ना करें क्योंकि धर्म से दूरी उनको चारित्रिक पतन की ओर लेकर जाता है। 'स्त्री शिक्षा की आलोचना' लेख जुलाई 1913 में प्रकाशित हुआ जिसमें इस तथ्य को विचार का मुद्दा बनाया

¹ हिन्दी नवजागरण और स्त्री अस्मिता, सुनन्दा पराशर, पृ. 46.

गया कि स्त्रियों को शिक्षा दी तो जानी चाहिए पर उसकी शिक्षा कैसी हो, कितनी शिक्षा स्त्रियों के लिए पर्याप्त है। इस तरह की मानसिकता से पितृसत्ता का दंभ और पुरुषों में अहं भाव स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसे सुधारक मानते थे कि ऐसी शिक्षा जो स्त्रियों को इतना स्वाधीन बना दें कि वह पति से बराबरी करने लगे तो ऐसी स्वाधीनता फलदायी नहीं। स्त्री स्वाधीनता को वे सीमा में बांधते हैं ताकि उनके वर्चस्व को ठेस ना लगे। इस तरह की लगभग प्रत्येक पत्रिका में स्त्री शिक्षा और स्त्रियों की स्थिति में सामाजिक सुधार की बात रखी गयी। स्त्री के अधिकारों के विचार को सामने लाने वाले लेखों को स्वीकृति के साथ प्रकाशित किया गया। परंतु इन लेखों में मुख्यतः गृह-कार्य, पति-पुत्र सेवा का ही विशेष रूप से गुणगान किया गया है।

4.6 मर्यादा

मर्यादा पत्रिका का प्रकाशन अभ्युदय प्रेस, प्रयाग से पंडित कृष्णकांत मालवीय के सम्पादन में नवम्बर 1910 ई. में हुआ। यह पत्रिका राजनैतिक विषयों पर केन्द्रित थी परंतु साहित्य और अन्य विषयों पर भी पत्रिका में लगातार लेख प्रकाशित होते रहें। ‘मर्यादा’ में स्वयं स्त्रियाँ अपनी स्थिति को अभिव्यक्त करती नज़र आयीं। स्त्रियों की मुख्य समस्याएँ जैसे शिक्षा, जिसके पक्ष विपक्ष दोनों पक्षों पर लेखों का प्रकाशन देखने को मिलता है। विधवा विवाह, बाल विवाह, पुनर्विवाह, वेश्यावृत्ति, स्त्रियों के उत्थान केन्द्रित, राजनैतिक अधिकार आदि विषयों पर महत्वपूर्ण लेख देखने को मिलते हैं।

पत्रिका में 1914 में श्रीमति हेमंत कुमारी ने एक लेख में लिखा है कि लखनऊ में एक हिन्दू बालिका विद्यालय है, जहां स्त्रियाँ एकत्रित होकर विभिन्न समस्याओं पर चिंतन मनन करती हैं। आपस में मेल मिलाप से उनमें एकता, सहृदयता का समावेश होता है और वे अपने उत्थान और विकास के मार्ग में आने वाले सभी व्यवधानों पर खुलकर चर्चा करती हैं। हेमंत कुमारी का मानना है कि ऐसे विद्यालय प्रत्येक नगर में होने चाहिए जिससे स्त्रियाँ स्वयं अपनी दुर्दशा पर विचार कर सकें और मिलकर समाधान तक पहुँच सकें। 1914 में ही उमादेवी ‘अछूत जातियों की दशा’ नामक लेख में जातिगत भेदभाव को लेकर लेख लिखती हैं। स्त्रियाँ न केवल अपनी स्थिति पर लिख रही थीं बल्कि राजनैतिक तथा अन्य सामाजिक विषयों पर भी उनका अधिकार क्षेत्र रहा। मि. गोखले के ‘भारतवर्ष में प्रारम्भिक शिक्षा’ शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें प्रारम्भिक शिक्षा को लेकर विचार किया गया कि प्रारम्भिक शिक्षा कैसी होनी चाहिए लेकिन यहाँ केवल पुरुषों के लिए ही शिक्षा का विचार किया गया मि. गोखले स्त्री शिक्षा के पक्षधर नहीं थे। जहां तहां स्त्रियों की शिक्षा पर यदि विचार किया भी गया तो उसका दायरा केवल नैतिक-धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित रहा। 1919 में ‘मर्यादा’ में एक लेख मोहनदास करमचंद गांधी द्वारा लिखा गया। इस लेख में गांधी जी के स्त्रियों को लेकर सीमित दृष्टिकोण को देखा गया उन्होंने स्त्रियों के घर

से बाहर काम करने की आलोचना करते हुए लिखा “स्त्रियों की अपनी जीविका के लिए मजदूरी करना आवश्यक नहीं है। जहां स्त्रियों को टाइपिस्ट बनना पड़ता है वहाँ समाज की व्यवस्था भंग हो जाती है और जिस राष्ट्र ने ऐसी प्रणाली ग्रहण कर ली उसका विनाश शीघ्र हो जायेगा। उनमें सुधार का काम सरकार का नहीं हम सबका है।”¹ स्त्री-पुरुष दोनों की शिक्षा समान नहीं होनी चाहिए। स्त्रियाँ पढ़ लिख कर नौकरी करें। इस पर गांधी जी विश्वास नहीं करते थे। गांधी ही के ये विचार उनके स्त्री विरोधी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं।

‘मर्यादा’ में विधवा समस्या पर समय समय पर लेख प्रकाशित होते रहें। फरवरी 1914 में ‘हिन्दू विधवा’ नाम से ‘श्रीमति रामेश्वरी नेहरू’ ने लेख लिखा। विधवाओं की स्थिति में सुधार उनके पुनर्विवाह और शिक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता है इसीलिए विधवाओं को घर की चारदिवारी में बंद रहने और घर-गृहस्थी को ही अपना संसार समझने वाली सोच को अपने जेहन से निकाल कर अपने भविष्य के बारे में चिंतित होना चाहिए। शिक्षा से उनके इस दुख का निवारण संभव है।

फरवरी 1914 को ‘मर्यादा’ द्वारा एक स्त्री विशेषांक प्रकाशित हुआ जिसमें अनेक स्त्री लेखिकाओं के लेखों को प्रकाशित किया गया। इसमें एक महत्वपूर्ण लेख ‘भारतीय स्त्रियों का उत्थान कैसे हो सकता है’ प्रकाशित हुआ जो श्रीमति ऐनी बेसेंट द्वारा लिखा गया था। ‘भारत की विदुषी स्त्रियाँ’ भी ‘मर्यादा’ में प्रकाशित एक महत्वपूर्ण लेख है। फरवरी 1914 में ‘भारत वर्ष की आधुनिक सुशिक्षिता स्त्रियाँ’ नामक एक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें लेखिका ने कहा कि “मेरी प्यारी बहिनो! भारतवर्ष में आधुनिक स्त्रियाँ कैसी होनी चाहिए आज मैं इसी विषय पर अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार कुछ विचार करना चाहती हूँ। आजकल जहां देखिये वहाँ सुधार की चर्चा होती है, परंतु जनमानस के रहन-सहन पर ध्यान दिये बिना तथा कुटुंब में और जनसमूह में स्त्रियों को प्राचीन समय में जो स्थान प्राप्त था और भविष्य में जो प्राप्त होगा इसका ठीक-ठाक विचार किए

¹ मर्यादा, फरवरी 1919, पृ. 148.

बिना जो चर्चा होती है उसका निष्फल होना संभव है।”¹ स्त्रियाँ इस बात के महत्व को समझने लगी थी कि जब तक वे स्वयं को आर्थिक रूप से सबल नहीं बना लेती तब तक उन्हें अधिकारों से वंचित रहने के लिए अभिशप्त रहना होगा। लेख में स्त्री शिक्षा, बालविवाह निषेध, स्त्री का कार्य क्षेत्र चयन, आधुनिक सुशिक्षिता, सुगृहिणी स्त्री बनने, स्त्री उन्नति को समाज और भारत वर्ष की उन्नति मानने जैसे महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार किया गया। सामाजिक और राजनैतिक विषयों वाली ‘मर्यादा’ पत्रिका ने स्त्री विशेषांक तो निकाला ही साथ ही स्त्री को ही इस अंक का सम्पादन दायित्व भी सौंप दिया गया।

सामाजिक विकृतियाँ भारतीय समाज की संरचना में ही निहित हैं। जिसके कारण स्त्रियों के साथ अत्याचार होते आए हैं। वेश्यावृत्ति और बलात्कार भारतीय समाज की दो गंभीर समस्याएँ रही हैं। इन समस्याओं पर लेखों की संख्या अपेक्षाकृत कम है पर जो भी लेख इस विषय पर मिलते हैं उनमें इस समस्या की गंभीरता और समाज के द्वारा इसे संजीदा न लेने पर विचार किया गया है। वेश्यावृत्ति एक गंभीर स्त्री मुक्ति संबंधी मुद्दा है जिसमें स्त्रियाँ आर्थिक संकट के चलते देह व्यापार की व्यवस्था में फँसने को अभिशप्त हो जाती हैं। समाज ऐसी स्त्रियों को समाज से बहिष्कृत कर देता है। मान-सम्मान से जीने का अधिकार उनसे छीन लिया जाता है। वेश्यावृत्ति की समस्या स्त्री मुक्ति के संघर्ष का मुख्य मुद्दा है। ‘मर्यादा’ में जगन्नाथ दास मिश्र के ‘भारतीय नगरों में पाप का व्यापार’ तथा 1921 में ‘भारतवर्ष में वेश्यावृत्ति का व्यवसाय’ शीर्षक के लेख वेश्यावृत्ति पर ही केन्द्रित हैं। नवंबर 1912 में बाल- विवाह पर केन्द्रित लेख का प्रकाशन पत्रिका में देखने को मिलता है। लेख में बाल विवाह का विरोध और स्त्री शिक्षा पर जोर दिया गया। स्त्रियों की राजनीति में नगण्य उपस्थिति के प्रति चिंता को भी ‘मर्यादा’ पत्रिका में देखा जा सकता है। अगस्त 1919 में लाला लाजपत राय के ‘भारतवर्ष में स्त्रियों का पद’ लेख में स्त्री के अधिकारों के प्रति उनके परंपरागत दृष्टिकोण की ही झलक देखने को मिलती है। स्त्री-पुरुष में भेद करने वाले विचार को उठाया गया है।

¹ मर्यादा, फरवरी 1919, पृ. 256.

वास्तविकता यह थी कि पितृसत्ता के पोषक व्यक्तियों के लिए यह बात मानना मुश्किल था कि स्त्रियाँ अपने बलबूते पर पुरुषों के बिना भी घर से बाहर निकल कर काम करें। 1919 में उमा देवी नेहरू ने 'स्त्रियों के अधिकार' लेख में विरोधियों की निर्भीकता से आलोचना की। जून 1920 में कुसुमकुमारी ने 'काँग्रेस की महासभा लेख में अनेक स्त्रियों को राजनीति में आमंत्रित किया था। स्त्रियाँ राजनीति में खुलकर प्रवेश तो कर रही थी परंतु उनकी उपस्थिति को कितना गंभीरता से लिया जाता था कुसुमकुमारी के लेख के माध्यम से समझा जा सकता है। स्त्रियों ने प्रत्येक भेदभाव पर बेबाकी से लिखना शुरू कर दिया था। समाज की हर गतिविधि में वह अपना योगदान देने को तत्पर रहीं। 'मर्यादा' में स्त्रियों को वोट के अधिकार, शिक्षा और अनेक कुप्रथाओं और समस्याओं पर अनेक विचारोत्तेजक लेखों को समय-समय पर प्रकाशित किया गया।

4.7 स्त्री दर्पण

हिन्दी क्षेत्र में स्त्री आंदोलन का नेतृत्व संभालने वाली पत्रिका में 'स्त्री दर्पण' का नाम जितना महत्वपूर्ण है उसे उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली। हिन्दी साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका उपेक्षित ही रही है। स्त्री दर्पण का प्रकाशन जून 1909 में श्रीमति रामेश्वरी देवी नेहरू द्वारा प्रयाग से किया गया।

मार्च 1918 में उमादेवी नेहरू जो लगातार विभिन्न पत्रिकाओं में स्त्री मुद्दों पर अनेक लेख लिखती रहीं उनका स्त्री दर्पण पत्रिका में 'हमारे समाज सुधारक' नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उमादेवी नेहरू स्त्री स्वतन्त्रता की पक्षधरता करते हुए कहती हैं कि पुरुष ने हमेशा से स्त्री के आंतरिक भावों को तोड़ मरोड़ कर उसे अपनी इच्छानुसार ढाला है। हमेशा सीता, सत्यवती की उपमाएँ देकर उसे पतिव्रता बनने के लिए कहा है परंतु अब ये विचार जीर्ण-शीर्ण हो चुके हैं इसीलिए अब इनका राग नहीं अलापना चाहिए। स्त्रियों को सामाजिक विकास, सांस्कृतिक उन्नति में स्वतंत्र भाव से भागीदारी के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उमा देवी नेहरू के लेखों से पता चलता है कि सुशिक्षित स्त्रियाँ अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उन तमाम व्यवधानों, अड़चनों से लड़ने को तैयार हैं जो उनकी मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं।

पर्दा प्रथा का भी पत्रिका में विरोध देखा जा सकता है। श्रीमती सत्यवती का 'स्त्रियाँ और परदा' नाम से 'स्त्री दर्पण' में लेख प्रकाशित हुआ। वे इसमें विरोध करती हुई कहती हैं "न तो बल, न पूरा ज्ञान, न विद्या, न स्वतन्त्रता फिर एक परदा हटाने से क्या लाभ होगा" क्योंकि केवल परदा हटने से स्त्री मुक्ति संभव नहीं थी। जून 1917 में 'प्रेम बिन्दु' और मई-जून में आराधना कहानियाँ विधवाओं की दयनीय स्थिति पर केन्द्रित हैं स्त्रियाँ विधवा जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं पुनर्विवाह की चेतना यहाँ नहीं है। इन कहानियों से विधवा समस्या और स्त्रियों की सामाजिक दुर्गति को देखा जा सकता है। इसी अंक में उर्दू कवि अकबर के एक लेख जो 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुआ था, का विरोध हुआ। अकबर के लेख में स्त्री शिक्षा का विरोध हुआ और पदमसिंह

शर्मा ने उनके समर्थन में 'शिक्षा स्त्रियों को निर्लज्ज बनाएगी' लेख लिखा। स्त्री दर्पण के जून 1917 में 'हृदय मोहिनी' लेख के माध्यम से अकबर के इन घुन लगे विचारों की आलोचना की गयी।

अप्रैल 1918 में 'स्त्री दर्पण' में 'स्त्री जाति और गांधी जी' शीर्षक से एक संपादकीय प्रकाशित हुआ जो गांधी जी के 'भगिनी समाज' में दिये एक भाषण पर केन्द्रित था। गांधी चाहे कितने बार ही विलायत गए हों, बैरिस्टर हों पर स्त्री शिक्षा के प्रति उनके विचार बिल्कुल हिंदुस्तानी हैं। गांधी जी हिंदुस्तानी स्त्रियों के उत्थान और विकास के प्रति पक्षपाती हैं तथा वे उनके परंपरागत स्वरूप के पक्ष में हैं। उसके लिए स्त्रियों का पढ़ा लिखा होना अनिवार्य नहीं। ये मनस्वी भारतीय स्त्रियाँ शिक्षित ना भी हो तो वे गृहस्थी में उच्च स्थान प्राप्त करने की अधिकारी हैं। गांधी जी समान शिक्षा और अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में नहीं हैं। इसी अंक में बृजकृष्ण गुट्टू का एक स्त्री मुक्ति की आलोचना करता 'हमारे समाज के दोष' लेख प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक की संकीर्ण मानसिकता का परिचय प्राप्त होता है। इसमें लेखक स्त्री स्वतन्त्रता को प्रश्नांकित करते हुए कहते हैं "जिस समय कोई पक्षी पिंजरे में रहते हुए उड़ना भूल जाता है तो उसको उड़ना सिखाने के लिए अकेला खोलकर नहीं छोड़ देते, बिल्ली के दबोचने का डर रहता है, अपने सामने उड़ना सिखाना चाहिए। इसी लेख में कहा गया है कि मिस्टर फलाने, मिस्टर ठिमकाने से हमारी बीस वर्षीय कन्याएँ बिना रोक मिलती हैं भाई की तरह, इनके साथ-साथ इधर उधर घूमती हैं"¹ लेखक को आपत्ति इस बात से है कि स्त्रियाँ अकेले स्वतंत्र कैसे घूम सकती हैं? स्त्रियों को नज़रबंद रखना चाहिए वरना उनका चरित्र शंकित हो जाएगा। लेखक के स्त्री विरोधी इन आपत्तिपूर्ण विचारों का उमादेवी नेहरू ने जमकर विरोध किया।

स्त्री दर्पण के 1918 के चार अंकों में प्राचीन भारत में 'स्त्रियों के अधिकार' शीर्षक से लंबा लेख प्रकाशित हुआ। स्त्री स्वतन्त्रता के विभिन्न मुद्दों को इसमें केन्द्रित किया गया। मई 1918 में उमादेवी नेहरू ने अपने लेख में स्त्री स्वतन्त्रता को ध्यान में रखकर राष्ट्रवादियों से दो टूक प्रश्न किया है कि "केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के खो जाने से तुम्हें कैसा मलिन, कैसा व्याकुल, कैसा

¹ स्त्री दर्पण, अप्रैल 1918, पृ. 205.

दुःखित बना दिया है? फिर स्वयं सोचो जिसके शरीर की, जिसकी आत्मा की, जिसके हृदय की सारी स्वतन्त्रता लुट गयी हो, उसका हार्दिक भाव आनंदमयी कैसा हो सकता है?”¹ उमादेवी नेहरू एक लेख में चीनी बालिका के उदाहरण से स्पष्ट करती हैं कि जैसे बचपन से ही चीनी महिला के पाँव बांध दिये जाते हैं ताकि उनका स्वाभाविक विकास न हो उसी तरह भारतीय महिलाओं को भी बचपन से ही रीति-रिवाज, परंपरा का लबादा पहनाना शुरू कर दिया जाता है। उमा देवी नेहरू स्त्री के स्वाभाविक विकास में इसे बाधा मानती हैं।

‘स्त्री दर्पण’ पत्रिका को रामेश्वरी देवी नेहरू ने स्त्री मुक्ति के प्रगति पथ की अग्रणी पत्रिका के रूप में स्थापित किया। इस पत्रिका में कविता, कहानियों, लेखों के माध्यम से स्त्री मुक्ति और स्त्री अधिकारों के प्रति चिंता बराबर दिखायी देती है परंतु यदि समग्रता से विचार किया जाए तो संपादिका के स्त्री मुक्ति के कई मुद्दों पर विचार समझौतावादी भी रहे। रामेश्वरी देवी नेहरू ने दिसंबर 1918 में मदन मोहन मालवीय की स्त्री के प्रति संकीर्ण सोच का भी विरोध किया। मालवीय जी स्त्री के वोट के अधिकार के विरोधी रहे। संपादिका ने इस अंक में अपना जोरदार विरोध दर्ज किया। संपादिका समाज में हो रहे बदलावों से होने वाली प्रगति की तो पक्षधर थी परंतु पुरानी मान्यताओं में केवल सुधार लाकर उन्हें बरकरार बनाए रखना चाहती थी। रामेश्वरी देवी नेहरू मानती थी कि स्त्री मुक्ति के लिए पुरुषों का सहयोग आवश्यक है तो वहीं उमादेवी नेहरू का विश्वास था कि यदि स्त्रियाँ पूर्ण स्वतन्त्रता की अभिलाषी हैं तो उन्हें बिना किसी से सहयोग लिए अपनी स्वतन्त्रता के लिए स्वयं ही आंदोलित हो संघर्ष की लड़ाई लड़नी होगी। ‘स्त्री दर्पण’ हिन्दी प्रदेश के स्त्री आंदोलन की एक अग्रणी पत्रिका रही है। इस पत्रिका में स्त्री मुक्ति संबंधी अनेक विचारोत्तेजक लेख देखने को मिलते हैं। देश-प्रदेश के गतिविधियाँ, स्त्री संबंधी कविता, कहानी, स्त्री विषयक समस्याएँ इस पत्रिका के केन्द्रित मुद्दे रहे। उस समय स्त्री मुद्दों पर जितनी तीखी बहस इस पत्रिका में हुई उतनी अन्यत्र किसी पत्रिका में नहीं। स्त्री और पर्दा, स्त्री धर्म का वैदिक आदर्श, स्त्री उन्नति और विकास,

¹ हिन्दी नवजागरण और स्त्री अस्मिता, सुनन्दा पराशर, पृ. 84.

स्त्री दुर्गति के कारण, विधवा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, स्त्रियों के अधिकार, स्वतन्त्रता और स्वराज्य इत्यादि विषयों पर केन्द्रित लेख 'स्त्री दर्पण' की विशेषता रहें।

4.8 प्रभा

माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पादनत्व में अप्रैल 1913 में खंडवा से 'प्रभा मासिक' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका का साहित्यिक पत्रकारिता के विकास में पूरा योगदान रहा। 'प्रभा' ने सामाजिक बुराईयों की ओर भी समाज का ध्यान आकृष्ट किया। जाति प्रथा, अछूत समस्या, सांप्रदायिकता, स्त्री मुक्ति जैसी समस्याओं का विरोध इस पत्रिका का मुख्य ध्येय था। इसमें प्रकाशित लेख कहानियाँ, कविताएं राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण थीं। इस युग की पत्रकारिता ने न केवल साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठापित करने का कार्य किया अपितु उसका परिष्कार कर व्याकरण सम्मत बनाने में भी इसका योगदान रहा है।

'प्रभा' पत्रिका के जुलाई 1920 के अंक में 'विधवा विवाह और महात्मा गांधी' नाम से एक टिप्पणी प्रकाशित हुई। इसमें विधवाओं की सूची दी गयी है और गांधी जी के विचारों को इस टिप्पणी के माध्यम से देखा जा सकता है। वे लिखते हैं "जो इन अंकों को पढ़ेगा वह रोवेगा। अधीर सुधारक यह कहेंगे कि विधवा विवाह इस रोग की सबसे अच्छी दवा है। मेरे कुटुंब में कई विधवाएँ हैं। किन्तु मैं उनसे यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि तुम पुनर्विवाह कर लो, पुनर्विवाह करने का ख्याल तक उनके दिमाग में न आयेगा। इसका उपाय यह है कि पुरुष यह प्रतिज्ञा कर लें कि हम पुनर्विवाह न करेंगे।"¹ गांधी जी के विचारों में परंपरा और संस्कारों के दर्शन देखने को मिलते हैं। प्रभा के संपादक के स्त्री मुक्ति संबंधी विचार कहीं अधिक व्यावहारिक और सराहनीय हैं। बाल-विवाह निषेध, पुनर्विवाह, विधवा विवाह आदि का जोरदार समर्थन देखने को मिलता है। प्रभा में वेश्यावृत्ति जैसे गंभीर मुद्दे पर भी अनेक लेख प्रकाशित हुए। वेश्यावृत्ति एक सामाजिक कोढ़ है जिसकी तरफ जनता का ध्यान 'प्रभा' के माध्यम से केन्द्रित हुआ। उस समय वेश्यावृत्ति से स्त्रियों की मुक्ति एक गंभीर सामाजिक समस्या बनी हुई थी। ऐसी स्त्रियाँ सामाजिक कुरीतियों और आर्थिक विपन्नता से मजबूर होकर ही देह व्यापार के लिए विवश थीं। मार्च 1915 में 'सामाजिक

¹ प्रभा जुलाई 1920, पृ. 44.

पवित्रता', अगस्त 1923 'वेश्यावृत्ति', सितंबर 1923 में 'वेश्यावृत्ति सामाजिक पहेली' शीर्षक से वेश्यावृत्ति को केन्द्रित कर लेखों का प्रकाशन हुआ। 'प्रभा' के एक लेख में भारतीय महिलाओं द्वारा अपने अधिकारों के प्रति सजगता से विद्यापति सेठ को आपत्ति हुई और उन्होंने वोट का अधिकार मांगती स्त्रियों को पश्चिम की नकल करार दिया। 'प्रभा' में 1920-1925 तक समय समय पर स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों से संबंधी लेख प्रकाशित होते रहे। 1920 में 'राजनीति और स्त्रियाँ' नाम से लेख छपा। स्त्रियों के वोट के अधिकार को लेकर समर्थन और विरोध दोनों ही पक्षों के लेख देखने को मिलते हैं। श्रीमती विद्यापति सेठ ने स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों का विरोध परंपरागत दृष्टिकोण के तहत किया। उनके विचार तर्कहीन और सतही थे। वे रूढ़िवादी परम्पराओं की पोषक थी। वहीं श्रीमती चमेली देवी जसरिया ने स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों का स्वागत किया और ठोस तर्क देकर बताया कि स्त्रियों का राजनीति में प्रवेश देश के लिए अत्यधिक लाभदायक साबित होगा। 'प्रभा' के संपादक को भी स्त्रियों का अपने अधिकारों की मांग करना उनका आततायीपन लगा उन्हें भय था कि उनका वोट का अधिकार कहीं उनके सतीत्व को नष्ट न कर दे।

4.9 चाँद

‘चाँद’ का प्रकाशन प्रयाग से 1920 में ब्रह्मचारी ज्ञानचंद द्वारा हुआ। शुरुआत में यह पत्रिका पाक्षिक रूप से निकलती थी। 1922 में रामरिख सहगल के संपादनत्व में यह मासिक रूप में प्रकाशित होने लगी। सामाजिक उत्थान और नारी जाति का उत्थान इस पत्रिका का मुख्य ध्येय रहा। पत्रिका अपने उद्देश्य को प्रथम अंक में इस प्रकार स्पष्ट करती है कि “हमारे पत्र का उद्देश्य स्त्रियों का अज्ञान, पर्दे की कुप्रथा इत्यादि सामाजिक बुराइयों को दूर करना, स्त्रियों की उपयोगी तथा उनके हित की बातों से सदा उनका परिचय कराते रहना, उनके बच्चों के पालने की उचित शिक्षा देते रहना, उन्हें गृहस्थी के कार्यों में निपुण बनाना है”¹ ‘चाँद’ में स्त्रियों से जुड़ी हर समस्या को उठाया गया, जिसमें बाल-विवाह, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, पर्दा प्रथा, शिक्षा, स्त्री के सीमित स्वरूप की आलोचना आदि विषयों को लेकर ‘चाँद’ स्त्री मुक्ति के पथ पर अग्रसर रही। ‘चाँद’ स्त्री मुक्ति की एक लोकप्रिय पत्रिका रही। इसी के माध्यम से महादेवी वर्मा भी एक सशक्त कवयित्री के रूप में उभरी। स्त्रियों के अधिकार, स्त्रियाँ और शासन प्रबंधन’ को लेकर लेखों का प्रकाशन हुआ। स्त्री शिक्षा तथा उसके अधिकारों को लेकर ‘चाँद’ की भागीदारी अत्यंत महत्वपूर्ण रही।

‘चाँद’ के 1924 के एक अंक में ‘महिला समाज संबंधी कुछ महान समस्याएँ’ नाम का लेख छपा जिसमें भिन्न भिन्न आयु वर्ग की पत्नियों की संख्या के आंकड़े दिये गए थे। बालविवाह संबंधी समस्या को यहाँ उठाया गया। बलात्कार और वेश्यावृत्ति जैसे गंभीर मुद्दों की भी ‘चाँद’ में आलोचना की गयी और इसका जमकर विरोध किया गया। ‘देवियों पर बलात्कार’ लेख में प्राचीन समय से स्त्रियों पर होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार को केंद्र में रखा गया और सीता, अहिल्या, पार्वती के माध्यम से स्त्रियों पर होने वाले दुर्व्यवहार की आलोचना की गयी। यह माना जाता है कि स्त्रियों को पुरुष की कुदृष्टि से बचाने के लिए उन्हें घर की चार दिवारी में कैद करना आवश्यक है। ‘चाँद’ के संपादक का मानना है कि “हमारे सुधारकों, नेताओं और व्यवस्थापकों को यह बात

¹ हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन, पद्माकर पाण्डे, पृ. 159.

बराबर ध्यान में रखनी चाहिए कि हम लोगों की संतान इतनी क्षीण, वीर्यहीन, पौरुष रहित हो रही हैं, कि वे संसार यात्रा में सर्वथा असमर्थ हो रही हैं। उसका विशेष कारण बालिकाओं से बलात्कार या यों कहिए कि पत्नी का दुर्व्यवहार ही है और इसके सुधार का एक मात्र यही उपाय है कि बाल विवाह सब प्रकार से बंद हो जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो कम से कम ऐसे बलात्कार को हल्का क्यों बताया जा रहा है? क्या हमारे व्यवस्थापकगण दम्पतियों को इस दुर्दशा में भी 'कली के अली' बनने की वीभत्स दया दिखाना चाहते हैं।¹

‘संरक्षण गृह’ में स्त्रियों की दुर्दशा पर भी ‘चाँद’ पत्रिका में लेख प्रकाशित हुआ। जहां स्त्रियों की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण देखने को मिलता है। कैसे स्त्रियों को विलासी दुनिया का हिस्सा बनाया जाता है और व्याभिचार की शिक्षा दी जाती है। पर्दा प्रथा पर संपादक के विचार कुछ इस प्रकार हैं “गुंडों की बदमाशी परदा प्रथा से नहीं घटेगी; बल्कि हमारा तो विश्वास है कि यदि स्त्रियाँ अपनी रक्षा के लिए नहीं उठीं तो वह दिन दूर नहीं है जब गुंडे दिन दहाड़े घरों में घुसकर स्त्रियों को उछाले जाने का प्रयत्न करेंगे। जिस दिन हिन्दू महिलाएं परदे की कुप्रथा को लात मार कर कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त होंगी उस रोज उनकी पतिव्रत उनका तेज़ और उनकी वीरता के सामने गुंडों का अत्याचार स्वप्नवत दिखाई देगा।”²

‘चाँद’ पत्रिका में स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों वाले लेख छपते रहें। नवंबर 1926 को ‘महिलाओं को निर्वाचन का अधिकार’ और मार्च 1927 को ‘स्त्रियाँ और शासन प्रबंध’ शीर्षक से महत्वपूर्ण लेखों का प्रकाशन हुआ। ‘चाँद’ के मई 1926 के अंक में महिला समिति सभा का एक भाषण प्रकाशित हुआ जिसमें स्त्रियों की समस्त समस्याओं पर विचार किया गया। जिसमें स्त्री स्वतन्त्रता, स्त्री शिक्षा, स्वदेशी वस्त्रों की महत्ता, स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना का प्रसार आदि महत्वपूर्ण मुद्दों पर विभिन्न वक्ताओं के भाषण प्रकाशित हुए। ‘चाँद’ में 1926 के अंक में ‘गर्भ संचार’ नाम का एक वैज्ञानिक लेख प्रकाशित हुआ। इस

¹ हिन्दी नवजागरण और स्त्री अस्मिता, सुनन्दा पराशर, पृ. 62.

² चाँद, मई 1926, देश सेवा में स्त्रियों का भाग, पृ. 109-110.

लेख को श्रीमती कामनी ने लिखा था, इसमें गर्भ की बनावट, आकार, गतिविधियों आदि को चित्रों के माध्यम से स्पष्ट किया गया था। स्त्रियों के विषय में यह धारणा रखना बिल्कुल बेबुनियाद है कि वे केवल निजी अनुभवों का सामान्य लेखन ही कर सकती हैं। 'चाँद' में प्रकाशित अपने लेखों से स्त्रियाँ जीवन की समस्त समस्याओं के विभिन्न पहलुओं को समझकर समाधान के लिए प्रयासरत रही हैं।

4.10 सुधा

‘सुधा’ मासिक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन दुलारेलाल भार्गव और रूप नारायण पाण्डेय द्वारा 1928ई० में किया गया। यह हिन्दी की उच्च कोटि की लब्धप्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका थी। दुलारेलाल भार्गव ने इसे विविध विषयों से सम्पन्न साहित्यिक मासिक बनाने का पूर्ण प्रयास किया। ‘सुधा’ में समाज-सुधार से संबंधी लेखों के अलावा सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक विषयों पर विचारोत्तेजक लेखों का प्रकाशन होता था। यह स्त्री विषयक पत्रिका नहीं थी, परंतु इसमें ‘स्त्री समाज’ शीर्षक से एक नियमित स्तम्भ निकलता था। इस स्तम्भ में स्त्रियाँ बेबाकी से अपने विचारों को लिखती थीं। पत्रिका में जहूर बख्श का एक ‘महिला संगठन’ नाम से लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में इस बात पर क्षोभ व्यक्त किया गया है कि क्यों अभी तक देश की उन्नति के लिए बनाए गए विभिन्न अजेंडों में स्त्रियों को उपेक्षित किया गया? क्यों राष्ट्रीय जागरण में भागीदारी देने वाली महिलाओं ने भी स्त्रियों की सामाजिक जकड़बंदी को तोड़ने के लिए कदम नहीं उठाए ‘सुधा’ में जुलाई 1928 में एक लेख छपा, इसमें लेखिका कु. पुरुषार्थवती आर्य पुरुष को उसके दोहरे रूप के लिए दुत्कारते हुए कहती हैं “पुरुष समाज स्त्री समाज को केवल बच्चा पैदा करने की मशीन और गृहस्थी की नौकरानी समझता है। पुरुष समाज ने स्त्री समाज को जिस संकुचित परिवार के भीतर बांध रखा है वह स्थिति असहनीय और दुर्दमनीय हो चुकी है।”¹

पत्रिका में ‘श्रीमती का गोरख धंधा’ शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक शिक्षित स्त्रियों का मज़ाक बनाते हैं और उन्हें यह एहतियात देते हैं कि स्त्रियों को केवल घर की चार-दीवारी के भीतर रहकर केवल अपने नारी धर्म का ही पालन करना चाहिए। उस समय स्त्रियाँ अपने अस्तित्व और अधिकारों को लेकर सजग हो चुकी थी इस लेख के विरोध में उग्रमणि देवी का एक लेख प्रकाशित हुआ उन्होंने लिखा “श्रीमती का गोरख धंधा’ लेख लिखने का साहस किस दाढ़ी-मूँछ वाले बुर्के नशीन ने किया? लेखक को स्त्री-समाज पर कलम चलाने से पहले यह

¹ सुधा, जुलाई 1928, पृ. 549.

सोच लेना चाहिए था कि अब वह ज़माना लद गया जब स्त्रियाँ पुरुषों के अत्याचार चुपचाप सह लिया करती थीं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ अभी पाश्चात्य देशों की लट्टबाज सफरजेट स्त्रियों की तरह लात, मुक्का, कुर्सी-मेज चलाने में निपुण न सही तब भी बेबाक कतरनी से लेखक की ढाई अंगुल बुद्धि को कतरने में पीछे नहीं रह सकती”¹

पत्रिका के संपादक रूपनारायण पाण्डेय ने मई 1929 में स्त्रियों के प्रति अपनी संकुचित मानसिकता का परिचय ‘हमारी भावी स्त्रियाँ’ लेख के माध्यम से दिया। इसमें संपादक स्त्रियों को केवल आदर्श नारी बनने को उसकी सार्थकता समझाते हैं। ‘स्त्री लेखिकाएँ’ लेख में स्त्रियों के लेखन को हीन, वीभत्स, बाजारू माना। संपादक की संकीर्ण मानसिकता को यहाँ देखा जा सकता है परंतु स्त्रियाँ इस मानसिकता का तथा ऐसे विचारों का खुलकर विरोध करती हैं और कु. सुमित्रा देवी ‘स्त्रियों का साहित्य जीवन’ लेख में संपादक को केंद्र में रखकर कहती हैं कि लेखिकाएँ लेखकों से किसी मायने में कमतर नहीं हैं बल्कि लेखिकाओं का लेखन समाज के लिए लेखकों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक, यथार्थपरक और जीवन के लिए उपयोगी भी होता है। ‘सुधा’ पत्रिका ने स्त्री जाति को स्वयं की मुक्ति के लिए प्रयास करने को प्रेरित किया।

¹ हिन्दी नवजागरण और स्त्री अस्मिता, सुनन्दा पराशर, पृ 96.

4.11 वसुधा

हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठित रचनाकार हरिशंकर परसाई के सम्पादनत्व में जबलपुर से 1953 में 'वसुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। शुरुआती दौर में राजेश्वर प्रसाद गुरु भी 'वसुधा' से जुड़े रहें परंतु पत्रिका को मुख्यतः परसाई जी द्वारा ही संचालित और पल्लवित किया गया। 'वसुधा' पत्रिका का नाम उन चुनिन्दा महत्वपूर्ण पत्रिकाओं की सूची में आता है जिसने हिन्दी साहित्य के प्रगतिशील आयाम को सबसे अधिक महत्व दिया। परसाई के सम्पादन में लगभग 2 वर्षों तक 'वसुधा' प्रकाशित हुई और फिर इसका प्रकाशन बंद हो गया। उसके बाद लगभग 3 दशकों के अंतराल के बाद 9वें दशक में 'वसुधा' की दूसरी पारी का आरंभ हुआ। 'वसुधा' का मासिक रूप में प्रकाशन 1956 से शुरू हुआ। 'मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ' ने 'वसुधा' के प्रकाशन का कार्यभार संभाला। 'वसुधा' को अंक 63 से 'प्रगतिशील वसुधा' के नए नाम से नए रूप में प्रकाशित किया गया। 'वसुधा' ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने के लिए अनेक विशेषांकों का प्रकाशन किया। 'प्रगतिशील वसुधा' के सामान्य अंक भी वैचारिक सामग्री के मुताबिक बेहद समृद्ध रहे। 'वसुधा' ने सामाजिक यथार्थ पर केन्द्रित, विशिष्ट आलोचकों पर केन्द्रित, समसामयिक विषयों पर केन्द्रित तथा हाशियकृत समाज के विमर्शों पर केन्द्रित अनेकानेक विशेषांकों के प्रकाशन से साहित्य को समृद्ध किया है। वसुधा के प्रमुख विशेषांक हैं :- अंक-51, रामविलास शर्मा विशेषांक (जुलाई-सितम्बर 2001), अंक-54, नामवर सिंह विशेषांक (अप्रैल-जून 2002), अंक-58, दलित साहित्य विशेषांक (जुलाई-सितंबर 2003), संयुक्त अंक 59-60, स्त्री : मुक्ति का सपना (अक्टूबर 2003- मार्च 2004), अंक-67, सज्जाद ज़हीर विशेषांक (अक्टूबर-दिसम्बर 2005), अंक-71, समकालीन मराठी साहित्य विशेषांक, (अक्टूबर-दिसम्बर 2006), अंक-74, समकालीन जम्मू-कश्मीर की सृजन अभिव्यक्ति, (जुलाई-सितंबर 2007), अंक-76, 1857 : प्रथम स्वाधीनता संग्राम के 150 वर्ष पर केन्द्रित विशेषांक (जनवरी-मार्च 2008), अंक-79 एवं 80, समकालीन कहानी विशेषांक, (अक्टूबर-दिसम्बर 2008 एवं जनवरी-मार्च 2009),

और अंक-81, हिन्दी सिनेमा: बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, (अप्रैल-जून 2009) पर केन्द्रित विशेषांकों को देखा जा सकता है।

4.12 आलोचना

आलोचना पत्रिका का प्रकाशन अक्टूबर 1951 में शिवदान सिंह द्वारा किया गया था। इस पत्रिका के कई महत्वपूर्ण संपादक रहे हैं। यह पत्रिका कई अवरोधों के बाद भी साहित्यिक आलोचनात्मक पत्रिका के रूप में सक्रिय रही है। 'आलोचना' पत्रिका में विमर्श केन्द्रित सामग्री भी बहुलता में देखी जा सकती है। वर्तमान समय में विमर्शों के महत्व को समझते हुए पत्रिका में उसके विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया है। स्त्री मुक्ति के प्रश्न को 'आलोचना' पत्रिका में प्रमुखता से उठाया गया है।

नवजागरणकालीन पत्रिकाओं में स्त्रियों को केवल आदर्श नारी बनने की ही सलाह दी जाती थी। स्त्रियों को केवल पतिव्रता बनने पर ही अधिक जोर दिया जाता रहा था। इस मानसिकता पर विचार करते हुए आलोचना 2000 के अक्टूबर-दिसम्बर अंक में वीर भारत तलवार लिखते हैं कि "हिन्दी नवजागरण के लेखकों के सामने स्त्रियों की समस्या नहीं थी। उनके लिए खुद स्त्री ही समस्या थी। जिस पर हर हाल में काबू पाना था।"¹

समय की मांग के अनुसार स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया है। अब स्त्रियों के मुक्ति के मुद्दों में शिक्षा, आर्थिक निर्भरता, समानता जैसे अहम पहलुओं पर विचार किया जाने लगा है। स्त्रियाँ आज अपनी समस्याओं को अपने लेखनी के माध्यम से उठा रही हैं। अपने समानता के अधिकारों को लेकर संघर्षरत हैं। पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने को तैयार हैं। लेखक प्रियदर्शन अपने एक लेख 'कहानी लिखती स्त्रियाँ' में स्त्रियों की लेखनी और उनके अपने भावों को अभिव्यक्त करने के कौशल की सराहना करते हैं। स्त्री मुक्ति के प्रश्नों में स्त्रीवादी आलोचना का विशेष महत्व होता है। जिसे समय समय पर आलोचना पत्रिका में स्थान दिया गया है। अनामिका द्वारा अपने लेख 'मैं रोटी बेलती हूँ जैसे पृथ्वी' में पुरुष मानसिकता की आलोचना की गयी है। अनामिका पुरुष की रचनाओं में चित्रित स्त्री की छवि के हवाले से मानती है कि वहाँ स्त्रियों की

¹ आलोचना (त्रैमासिक), अंक 0 3 वर्ष 2000 (अक्टूबर-दिसम्बर), पृ. 113.

मूल समस्याओं को उपेक्षित ही रखा गया है। स्त्रीवादी आलोचना के मूल मुद्दों में था कि स्त्री अस्तित्व की पहचान, अपने शरीर पर अपना अधिकार, अपने अनुकूल अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार।

2001-2002 के अक्टूबर-मार्च अंक में वीरेंद्र यादव ने अपने लेख 'नारी का उपन्यास बनाम उपन्यास में नारी' में विभिन्न लेखिकाओं की रचनाओं को केन्द्रित कर स्त्री-विमर्श को समझने का प्रयास करते हैं। वे लिखते हैं "नारी अस्मिता में भिन्न धरातलों की पड़ताल करते ये उपन्यास भारतीय समाज में स्त्री प्रश्न का कोलाज सा रचते दिखते हैं।"¹ स्त्री लेखन संबंधी चिंतन पर रोहिणी अग्रवाल द्वारा भी स्त्री अस्मिता के सवालों पर चर्चा की गयी है। अपने लेख 'भारतीय उपमहाद्वीप का स्त्री लेख' में हिन्दी साहित्य की लेखिकाओं के प्रति पुरुषवादी मानसिकता की चर्चा करते हुए वे लिखती हैं "स्त्री लेखन के विषय में अक्सर अभियोग की मुद्रा में कहा जाता है कि 'तदर्थवाद से ग्रस्त' नारी मुक्ति को लेकर लिखा गया अधिकांश कथा साहित्य व्यवसाय क्षेत्र में पुरुष से प्रतिस्पर्धा और उसकी ईर्ष्या पारंपरिक विवाह-प्रथा का खंडन, दहेज प्रथा....जैसे मुद्दों पर ही केन्द्रित होकर रह जाता है।"² इस तरह आलोचना पत्रिका स्त्री-विमर्श के ऐसे तमाम संदर्भों को मुख्य रूप से उठाती है। जिससे समाज में स्त्रियों को लेकर जो पूर्व निर्धारित हीन मानसिकता बनी हुई है उसको समाज में समाप्त किया जा सके। 'आलोचना' पत्रिका स्त्रियों के लेखन, उनकी आलोचना दृष्टि, स्त्रियों की मुक्तिकामी सोच को प्रकाश में लाकर उनके अधिकारों और स्वतन्त्रता की आवाज़ को उठाती है। 'आलोचना' पत्रिका का इस दिशा में बहुमूल्य योगदान रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुरुआती पत्र-पत्रिकाओं ने स्त्री मुक्ति की चेतना को धीरे-धीरे ही सही परंतु विकसित किया और आज जो स्त्री विमर्श की तस्वीर हमारे सामने है उस मुकम्मल तस्वीर को विकसित करने में विभिन्न पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

¹ आलोचना (त्रैमासिक), सहस्राब्दी अंक 7-8 वर्ष 2001-2002 (अक्टूबर-मार्च), पृष्ठ 19.

² आलोचना (त्रैमासिक), सहस्राब्दी अंक 14 वर्ष, 2003 (जुलाई-सितंबर), पृ. 175.

पंचम अध्याय

स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस'

अध्याय 5 :- स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस'

साहित्यिक पत्रकारिता आज पत्रकारिता के क्षेत्र में अपनी पूरी संभावनाओं के साथ मौजूद है। हिन्दी पत्रकारिता में स्त्रियों की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो उनकी स्थिति आज पहले से अधिक स्वीकृत है। कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो अब स्त्री की पहुँच से अछूता हो, परंतु इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए तथा इस स्वीकृत मुकाम को हासिल करने के लिए स्त्रियों को अनेक ऐसे अंधेरे रास्तों से गुजरना पड़ा जहां भटकाव की स्थिति भी सामने आई परंतु स्त्रियों के हृदय में मुक्ति की मशाल निरंतर जल रही थी जिसने उन्हें भटकाव के समय संयम तथा विवेक से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

साहित्यिक पत्रकारिता को समृद्ध बनाने में हिन्दी के अनेक साहित्यिक विद्वानों ने संपादन का दायित्व संभाला है। जिनमें राजेन्द्र यादव जी का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'हंस' के प्रेमचंदीय गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने प्रेमचंद की यथार्थवादी दृष्टि को आत्मसात किया क्योंकि समय के साथ परिस्थितियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है परंतु उन परिस्थितियों को जाँचने परखने का दृष्टिकोण एक हो सकता है। राजेन्द्र यादव जी ने अपने संपादन काल में प्रेमचंद की प्रगतिशील परंपरा का निर्वाह करते हुए स्त्री मुक्ति के प्रश्न, दलित अस्मिता के प्रश्न, अल्पसंख्यकों और आदिवासियों के प्रश्न की ओर ध्यान केन्द्रित किया। राजेन्द्र यादव अपने समय के सबसे विवादास्पद और समाज में टकराहट पैदा करने वाले लेखक तथा संपादक रहे हैं। स्त्री मुक्ति का विषय उनकी क्रांतिकारिता के केंद्र में था। राजेन्द्र यादव ने समाज में उपेक्षित स्त्री के लड़खड़ाते पैरों को संभालते हुए उन्हें निरंतर उनके अधिकारों के लिए लिखने का साहस तथा 'हंस' का मंच प्रदान किया। स्त्री अस्मिता के प्रश्न पर राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के संपादकियों में अपनी चिंताएँ व्यक्त की तथा स्त्री की दारुण यथार्थ स्थिति को गंभीरता से लेते हुए उनकी मुक्ति के लिए नयी दिशा प्रदान की। यादव जी स्त्रियों को स्वयं अपनी नियति समझने तथा विद्रोह करने के लिए प्रेरित करते थे। 'हंस' के माध्यम से सर्वप्रथम स्त्री-दलित विमर्श को विचार का विषय बनाया गया साथ ही

मुसलमान विशेषांक भी निकाला गया। एक अरसे से अंधकार में अपनी पहचान और अस्मिता तथा सांसारिक शोर्गुल में अपनी आवाज़ तथा अभिव्यक्ति को तलाशते हुए स्त्री रचनाकारों को ‘हंस’ के माध्यम से एक साहित्यिक मंच प्राप्त हुआ और स्त्रियों ने अपनी त्रासद स्थिति तथा संघर्ष को निर्भीक रूप से व्यक्त किया। राजेन्द्र यादव ने भी संपादकियों के माध्यम से स्त्री चेतना का बिगुल बजाया। हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श की उपस्थिति में राजेन्द्र यादव तथा उनके ‘हंस’ का योगदान सराहनीय है। रूप चंदेल इस बात को स्वीकारते हुए लिखते हैं कि “दलित और नारी विमर्श आज साहित्य और वैचारिक विमर्श की मुख्यधारा बन गए हैं तो उसका बड़ा श्रेय वरिष्ठ कथाकार राजेन्द्र यादव को है। उन्होंने इसके लिए ‘हंस’ का मंच ही उपलब्ध नहीं करवाया बल्कि इन मुद्दों को साहित्य की बहस बना दिया।”¹

राजेन्द्र यादव अपने वक्तव्यों से समाज में हमेशा टकराहट पैदा करते थे। समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता, उपेक्षित वर्ग की संवेदानाओं तथा अपने गहन चिंतन को वे हमेशा अपने संपादकीय के माध्यम से सामने लाते रहते थे। राजेन्द्र यादव ने स्त्री को मात्र देह तक सीमित रखने वाली पुरुषवादी मानसिकता पर अनेक संपादकियों में कटाक्ष किया है। स्त्री को समाज से प्राप्त दोयम दर्जे की राजेन्द्र जी कड़ी निंदा करते हैं। स्त्री के मानवीय स्वरूप को स्थापित करने में यादव जी की कोशिशों का ही परिणाम है कि स्त्री मुक्ति के पथ पर निरंतर आगे बढ़ी। स्त्री को समाज में मात्र देह समझे जाने पर राजेन्द्र यादव जी कहते हैं “नारी को हम संपूर्णता में नहीं देख पाते। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करुणा-भरी है, सुंदरता और शील की देवी है, वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह काम-कन्दरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है।”²

स्त्री की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार क्या उसका जन्म ही है? सबसे पहले तो स्त्री को जन्म लेने के लिए ही संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि इक्कीसवीं सदी में भी बेटियों को जन्म से पहले ही

¹ संपादक राजेन्द्र यादव, जवाब दो विक्रमादित्य, पृष्ठ 29.

² राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ सं. 14.

शिशु लिंग परीक्षण करके मौत के घाट उतार दिया जाता है, हालांकि इस मुद्दे पर कड़े कानून बनाए गए हैं तथा सजा का प्रावधान भी है फिर भी छुप-छुपाकर ये परीक्षण रोजाना होते हैं तथा अनेक बच्चियों से जीवन जीने का अधिकार छीन लिया जाता है। इन सबके बाद यदि बेटी जन्म लेती है तो उस पर बचपन से ही स्त्रीत्व का बोझ लाद दिया जाता है। कोई भी स्त्री इस स्त्रीत्व को अपने साथ लेकर पैदा नहीं होती। बल्कि उसके आसपास का परिवेश उसे इन हीन मानसिकता के बोझ तले डाल देता है तथा स्त्री इसे अपनी नियति समझ अपने आपको इसी स्थिति में ढालना शुरू कर देती हैं। बचपन से ही स्त्री को उसके दायरे समझा दिये जाते हैं कि तुझे ये करना है तथा ये नहीं। स्त्रियों को किन मामलों में अपनी राय देनी है यह भी पुरुष ही निर्धारित करेंगे। यदि इनसे इतर विषयों पर स्त्रियाँ अपनी अभिव्यक्ति देती हैं तो पुरुषों के अहम को ठेस पहुँचती है और वे स्त्रियों को उनकी हैसियत बता देते हैं। आज भले ही कुछ स्त्रियाँ संसद तक पहुँच गयी हों परंतु वहाँ भी किन मामलों में वे अपनी राय देंगी यह पुरुष वर्चस्व की ही जिम्मेदारी समझी जाती है। हाल ही में राज्य सभा में ‘आयुध संशोधन विधेयक 2019’ पास हुआ। इस विधेयक संबंधी बहस के दौरान दो महिला सांसदों ने सवाल पूछने चाहे लेकिन राज्य सभा के चेयरमैन तथा देश के उपराष्ट्रपति श्री वेंकैया नायडू ने उन्हें बोलने नहीं दिया तथा बड़े ही अभद्र लहजे में रोकते हुए यह तर्क दिया कि “महिलाओं को उतना शस्त्र की जरूरत नहीं बाकी लोग आपकी रक्षा करने के लिए प्रयास करेंगे”¹ यह तो सिर्फ एक उदाहरण मात्र है ऐसे ना जाने कितने ही कार्य क्षेत्र हैं जहाँ स्त्रियों को कमतर आँका जाता है। क्या ऐसे पुरुष ही स्त्रियों की रक्षा के लिए प्रयासरत हैं? जैसे दिल्ली निर्भया बलात्कार कांड, कठुआ, उन्नाव, तथा हाल ही में हुए हैदराबाद सामूहिक बलात्कार कांड में की? रोजाना स्त्रियाँ अनेक प्रकार के शोषण का शिकार हो रही हैं, मारी जा रही हैं, सरे आम जलाई जा रही हैं तो कहाँ है वे रक्षा करने वाले लोग? क्यों उनकी मानसिकता में यह बात घर कर गयी है कि स्त्रियाँ को

¹ <https://youtu.be/LQ09Ycttla>, प्रकाशित 12 दिसंबर 2019 (odnaari).

उनका संरक्षण चाहिए? पुरुषों को यह समझने की जरूरत है कि स्त्रियों ने इतिहास में अपनी रक्षा के लिए जरूरत पड़ने पर हथियार भी उठाए हैं तथा अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी किया है।

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो ने हाल ही में एक रिपोर्ट जारी की है¹, जो 21 अक्टूबर 2019 को प्रस्तुत की गयी है। इस रिपोर्ट के अनुसार देश में 2017 के दौरान 359849 मामले स्त्री शोषण के दर्ज हुए हैं। जिनमें बलात्कार, हत्या, दहेज के लिए हत्या, आत्महत्या, अपहरण, एसिड हमले, बच्चियों के साथ यौन-शोषण आदि स्त्री शोषणों की जानकारी दी गयी है। ये मामले तो सरकारी लेखे-जोखे में दर्ज हैं। इनके अलावा कितने मामले तो घर की मर्यादा बचाने के कारण, समाज के डर के कारण छुपा दिये जाते हैं। जिन परिस्थितियों से मुठभेड़ उस समय राजेन्द्र यादव जी 'हंस' के माध्यम से कर रहे थे। वो स्थितियाँ आज भी उससे भी अधिक वीभत्स रूप में हमारे सामने खड़ी हैं। उनके संपादकीय आज उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने उस समय क्रांतिकारी तथा बेबाक लगते थे।

पुरुष वर्चस्ववादी स्थिति में है, वो ही समाज के सभी निर्णय लेता है और स्त्रियाँ बस खूँटे पर बंधी गाय की तरह सिर हिलाकर सभी निर्णय मानने को मजबूर दिखाई देती है। स्त्रियाँ चाहे पढ़ी लिखी हों या अनपढ़ पुरुषवादी मानसिकता उसे यह भूलने नहीं देती कि तुम स्त्री हो। राजेन्द्र यादव कहते हैं कि “...ठीक यही स्थिति स्त्रियों की है। सब कुछ के बावजूद न वे भूल पाती हैं, न उन्हें भूलने दिया जाता है कि वे स्त्रियाँ हैं। बल्कि यहाँ स्थिति अधिक विडंबनापूर्ण है उन्हें स्त्री के रूप में देखा जाए तो वे अपमानित महसूस करती हैं, न देखा जाए तो उपेक्षित ... कुछ भी करें, याद उन्हें हमेशा यही दिलाया जाता है कि वे स्त्रियाँ हैं। प्रधानमंत्री बनने के बाद भी इन्दिरा गांधी का नाम किस किसके साथ नहीं जोड़ा गया?.....”²

राजेन्द्र यादव ने स्त्री-विमर्श की समस्त समस्याओं को केंद्र में तो रखा ही साथ ही उनसे जुड़े तमाम उन सवालों पर भी निरंतर बहस जारी रखी कि ऐसे कौन से कारण हैं जिसने पुरुष सत्ता को

¹ <https://www.thehindu.com/news/national/watch-ncrb-report-decoded/artical29805942.ece>.

² सं राजेन्द्र यादव हंस, अंक जुलाई 2006.

समाज में स्त्रियों की स्थिति को कुचलने पर मजबूर किया? लिंग परीक्षण से लेकर स्त्रियों के साथ होने वाले नृशंस मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सभी प्रकार के शोषणों से मुक्ति के स्वर सर्वप्रथम ‘हंस’ द्वारा ही उठाए गए। ये ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जो नब्बे के दशक में राजेन्द्र यादव जी द्वारा उठाये गए जो अपने आप में राजेन्द्र जी की समाज के प्रति और ‘हंस’ के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को दिखाते हैं। स्त्री मुक्ति के उन सभी प्रश्नों को आज इक्कीसवीं सदी में भी हम देखें तो ये प्रश्न और अधिक प्रासंगिकता के साथ हमारे सामने एक चुनौती के रूप में खड़े हैं। उस समय स्त्री मुक्ति के लिए इतने निर्भीक, बेबाक संपादकीय राजेन्द्र जी ने लिखें जो उनकी निष्पक्ष लेखनी तथा साहस का परिचायक है। राजेन्द्र जी ‘नारी तुम केवल श्रद्धा हो’ लेख में लिखते हैं कि “कभी कभी मुझे आश्चर्य होता है कि वे क्या मनोवैज्ञानिक या सामाजिक कारण रहे हैं कि पितृसत्ता स्थापित होते ही पुरुष ने सब कहीं स्त्री को कुचला है। दलितों को प्रायः शस्त्र से, स्त्रियों को शास्त्र से... अर्द्धनारीश्वर की पूजा करने वाला क्यों स्त्री को हत्या और आत्महत्या के बीच जीने के लिए मजबूर करता गया?”¹

राजेन्द्र यादव अपने जनवरी 2001 के संपादकीय में लिखते हैं कि स्त्रियों और दलितों का अपना कोई इतिहास नहीं होता। हमारे सामने जो इतिहास हैं वो सवर्णों तथा पुरुषों द्वारा लिखा गया है। “स्त्री कितनी पतिव्रता थी, निष्ठावान थी, हमारे लिए सती हो जाती थी, कैसे उसने राजवंश को बचाने के लिए अपने बच्चों की बलि दे दी यह स्त्री का इतिहास है। यानी इनका नहीं बल्कि इनकी वफादारी का इतिहास है, दरअसल इतिहास उसका होता है जो अपने फैसले खुद लेते हैं, दलित और स्त्री अपने फैसले नहीं ले सकते थे”² इतिहासहीनों का केवल भविष्य होता है तथा उसी को सँवारने के प्रयास में स्त्रियों ने अपनी आन्दोलनधर्मी प्रवृत्ति को उजाकर किया। इतिहास में स्त्री के अस्तित्व की पड़ताल करने में तथा स्त्रियों को मुख्यधारा से जोड़ने के इस ऐतिहासिक कदम में ‘हंस’ की अग्रणी भूमिका रही है।

¹ राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ सं. 26.

² सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- जनवरी 2001 पृष्ठ सं.

स्त्रियाँ हजारों वर्षों से घुटन भरा जीवन जीती आई हैं। उन पर होने वाले अन्याय तथा उससे मुक्त होने की भावना स्त्रियों को संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करती है। आज स्त्री-विमर्श का जो स्वरूप हमारे सामने है उसके पीछे 'हंस' पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान है। सती प्रथा, बाल-विवाह, विधवा विवाह, पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा, बलात्कार, हत्या, बच्चों के साथ होने वाले यौन शोषण, एसिड अटैक आदि मामलों में कानून बनते गए तथा पारित भी हुए, समय की मांग के अनुसार उनमें संशोधन भी किया जा रहा है, परंतु शोषण की दर में कमी होने के बदले इजाफा ही देखने को मिल रहा है। इस इजाफे के साथ-साथ शोषण के तरीके दिन प्रतिदिन बेहद जघन्य होते जा रहे हैं। जो पुरुषों की मनुष्यता पर प्रश्नचिन्ह अंकित करते हैं।

स्त्री-विमर्श का सही स्वरूप तभी बनेगा जब स्त्री बिना किसी दबाव के अपने जीवन के बारे में खुद निर्णय ले सकें। राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के माध्यम से स्त्रियों को सक्षम बनाकर अपने निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया। स्त्री मुक्ति से संबंधी ऐसे अनेक मुद्दे हैं जिनको राजेन्द्र जी ने अपने संपादन काल में उठाया तथा मुक्ति संघर्षों तथा हाशियकृत वर्ग को मुख्यधारा से जोड़कर उन्हें समाज में अपने मानवीय स्वरूप को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन दिया। स्त्री-विमर्श को केवल हिन्दी पढ़ी तक ही नहीं बल्कि एक राजनैतिक, सामाजिक विमर्श के रूप में 'हंस' ने ही स्थापित किया। स्त्री मुक्ति के सवाल को लेकर राजेन्द्र यादव जी को अनेक प्रकार के व्यक्तिगत आक्षेपों का भी शिकार होना पड़ा परंतु कोई भी राजेन्द्र यादव तथा 'हंस' को अपने इस मोर्चे से हिला नहीं सकें और ना ही इनसे राजेन्द्र यादव ने अपने मूल्यों के साथ कभी किसी प्रकार का समझौता किया।

राजेन्द्र यादव के संपादनत्व में 'हंस' के विशेषांक हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य के लिए सबसे बड़ा योगदान हैं। राजेन्द्र यादव के नीर-क्षीर विवेक तथा पारखी दृष्टि से अस्मितामूलक समाज हाशिये से केंद्र में आया। 'हंस' में विशेषांकों के माध्यम से हाशियेकृत समाज को राजेन्द्र यादव जी ने एक पुख्ता आधार प्रदान किया जिससे उनकी सामाजिक यथार्थ स्थिति की खुलकर अभिव्यक्ति हो सकी। स्त्री विशेषांक, दलित विशेषांक, अल्पसंख्यक विशेषांक, आदिवासी

विशेषांक आदि महत्वपूर्ण विषयों को हिन्दी साहित्य के केंद्र में लाना 'हंस' की उपलब्धि है।
राजेन्द्र यादव संपादित(1986-2013) 'हंस' में प्रकाशित विशेषांक कुछ इस प्रकार हैं:-

1. स्त्री-विमर्श केन्द्रित विशेषांक

- औरत उत्तरकथा अंक-1, नवम्बर-दिसंबर 1994.
- औरत उत्तरकथा अंक-2, जनवरी 1995.
- अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक-1, जनवरी-फरवरी 2000.
- अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक-2, मार्च 2000.
- स्त्री भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप, मार्च 2001.
- स्त्री विमर्श: अगला दौर (स्मृति प्रभा खेतान) नवम्बर 2009.

2. दलित विमर्श केन्द्रित विशेषांक

- सत्ता-विमर्श और दलित विशेषांक, अगस्त 2004.

3. अल्प संख्यक केन्द्रित विशेषांक

- भारतीय मुसलमान: वर्तमान और भविष्य, अगस्त 2003.

4. सिनेमा और टेलीविज़न केन्द्रित विशेषांक

- टेलीविज़न इतिहास में पहली बार, जनवरी 2007.
- हिन्दी सिनेमा के सौ साल, फरवरी 2013.

5. अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर केन्द्रित विशेषांक

- नयी नज़र का नया नज़रिया-1 अगस्त 2009.
- नयी नज़र का नया नज़रिया-2 सितंबर 2009.

- संघर्षशील आमजन की कहानियाँ अगस्त 2006.
- नैतिकताओं का टकराव-1 अगस्त 2005.
- नैतिकताओं का टकराव- 2 सितंबर 2005.
- हिन्दी उपन्यास: एक सदी, जनवरी 1999.
- स्वतंत्रता की अर्द्धशती विशेषांक, अगस्त-सितंबर 1997.
- स्वतंत्रता की अर्द्धशती विशेषांक, अक्तूबर 1997.
- राम कथा, जून-जुलाई 1988.

5.1 'हंस' के स्त्री मुक्ति केन्द्रित विशेषांक

प्रत्येक पत्रिका का यह दायित्व होता है कि वो अपने समय के आन्दोलनों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का दर्पण बनकर समाज को यथार्थ की पहचान करवाएँ तथा साथ ही उज्ज्वल भविष्य का मार्ग प्रशस्त करें। साहित्यिक पत्रिका को इस दायित्व का और भी गंभीरता से निर्वहन करना होता है। राजेंद्र यादव के संपादनत्व में 'हंस' ने सदैव समसामयिक विषयों को विमर्श का मुद्दा बनाया और महाविशेषांक प्रकाशित किए। 'हंस' पत्रिका ने स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को साहित्यिक मुद्दा बनाया उसे एक सशक्त वैचारिक बहस के लिए मंच प्रदान किया। 'हंस' के संपादकीय, लेख, कहानी, आलोचना के जरिए हिंदी साहित्य और समाज से लेकर पूरे देश की राजनीति में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को नई गति मिली। स्त्री की स्वतंत्रता, मुक्ति के लिए राजेन्द्र यादव ने सराहनीय पहल की। स्त्री ताउम्र पुरुष आश्रित रहती है, अपने पूरे जीवन में कहीं भी वह मुक्त नहीं है। अविवाहित होने तक स्त्री की रक्षा का दारोमदार पिता की ज़िम्मेदारी, विवाहोपरांत स्त्री पति पर आश्रित और बुढ़ापे में पुत्र पर। स्त्री कभी भी स्वतंत्रता के योग्य समझी ही नहीं जाती है। जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर उसकी रक्षा के लिए पुरुष किसी न किसी रूप में होता है। औरत उत्तरकथा की एक लघु कथा में जिसका शीर्षक 'आज़ादी' है जिसमें शबनम गिल इसी समस्या को उठाती हैं कि "औरत सदियों से मर्द की गुलाम रही है, वो पहले अपने बाप, भाई की, शादी के बाद पति की और फिर अपने ही पैदा किए बेटों की गुलाम रहती है।"¹ कहीं-न-कहीं पुरुष स्त्री की मुक्ति उसकी चेतना, उसकी शक्ति से भयभीत है। इस सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव का मत है कि....."सारे साहित्यिक और सांस्कृतिक गरिमामय शब्दजाल से आदमी ने स्त्री की जिस एक चीज को मारा, कुचला या पालतू बनाया है, वह है उसकी स्वतंत्रता। आदमी हमेशा से ही स्त्री की स्वतंत्रता से डरता है इसलिए उसने उसे ही बाकायदा अपने आक्रमण का केंद्र बनाया है। अपनी

¹ सं. राजेन्द्र यादव, हंस अंक औरत उत्तरकथा नवम्बर-दिसम्बर 1994 पृष्ठ. 26.

अखंडता और सम्पूर्णता में स्त्री दुर्जेय और अजेय है। वहाँ वह ऐसी शक्ति है जो स्वतंत्र और स्वच्छंद है ... इसलिए आदमी ने उसे ही तोड़ा।”¹

स्त्री मुक्ति केन्द्रित विशेषांक महिला सरोकारों पर केन्द्रित हैं। भारतीय समाज में स्त्री की मौजूदा स्थिति को हिंदी साहित्य ही नहीं पूरे राजनीतिक, सामाजिक विमर्श के केंद्र में लाने का श्रेय भी ‘हंस’ और राजेन्द्र यादव को ही जाता है। मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, अर्चना वर्मा, मृदुला गर्ग, क्षमा शर्मा, ममता कालिया, गीतांजलि, श्री सुरभि पाण्डेय, अलका सरावगी, अनामिका आदि कई लेखिकाओं की ख्याति ‘हंस’ के साथ जुड़ी है। स्त्री मुक्ति के सवाल को लेकर राजेन्द्र यादव जी को सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत रूप में यथास्थितिवादियों की कटु आलोचनाएं झेलनी पड़ी तथा उन्हें स्त्रियों की पक्षधरता को लेकर व्यक्तिगत हमलों का शिकार भी होना पड़ा, लेकिन इन आलोचनाओं की राजेन्द्र जी ने कभी परवाह नहीं की। आलोचनाओं का राजेन्द्र जी खुलकर स्वागत करते थे। स्त्री-विमर्श को स्वरूप, उद्देश्य और उसे व्यापकता प्रदान करने में सम्पूर्ण ‘हंस’ की (राजेन्द्र यादव संपादित) तथा स्त्री केन्द्रित विशेषांकों की भूमिका स्पष्ट रूप से दिखती है। अतः हम स्त्री विशेषांकों पर विस्तृत चर्चा करते हुए स्त्री मुक्ति के प्रश्न तथा ‘हंस’ भी भूमिका तथा ‘हंस’ के महत्व को समझने का प्रयास करेंगे:-

¹ राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ. 15.

5.1.1 औरत उत्तरकथा: अंक-1 (नवम्बर-दिसंबर 1994), औरत उत्तरकथा: अंक 2 (जनवरी 1995)

‘औरत उत्तरकथा’ 1994 ‘हंस’ का स्त्री-विमर्श पर केन्द्रित हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में पहला सर्वाधिक सामग्री वाला विशेषांक है। 1975 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष की घोषणा के लगभग दो दशकों बाद ‘हंस’ में पहला स्त्री-विमर्श केन्द्रित विशेषांक प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक से पूर्व भी ‘हंस’ में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को लेकर एक स्वस्थ वैचारिक दृष्टि देखने को मिलती है। इस विशेषांक को 2002 में पुस्तकाकार रूप में ‘औरत उत्तरकथा’ नाम से ही प्रकाशित किया गया। “इसमें स्त्रियों के अपने योगदान का अनुपात भी उल्लेखनीय है। यह दावा तो कुछ अधिक ही दंभी होगा और अनपेक्षित भी कि ‘हंस’ ने इसकी शुरुआत की।”¹ इस विशेषांक ने कई सैद्धांतिक तथा स्वीकृत मान्यताओं को चुनौती दी गयी है जैसे कि केवल स्त्रियाँ ही अपने निजानुभव को अभिव्यक्त कर सकती हैं और उनकी मार्मिक संवेदनाओं को केवल वाणी भी उन्हीं के द्वारा मिल सकती है। माना जाता है कि पुरुष ऐसा कर ही नहीं सकते क्योंकि जो वर्ग शोषक है, वो शोषितों की पीड़ा को क्या ही समझेगा? यह सत्य भी है कि जो पीड़ा झेलता है उसके जैसी अभिव्यक्ति शायद ही कोई और कर सके परंतु इस विशेषांक में पुरुषों ने अपने कृतित्व के माध्यम से स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को उठाया तथा समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए स्त्री मुक्ति को आवश्यक माना है। इन प्रश्नों को केंद्र में लाने वालों में राजेन्द्र यादव जी अग्रणी रहे हैं।

राजेन्द्र यादव ने इस विशेषांक के संपादकीय ‘मेरी तेरी उसकी बात’ में स्त्री मुक्ति के लिए महत्वपूर्ण विभिन्न आयामों पर चर्चा की है। ‘हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण’ शीर्षक से उन्होंने इस संपादकीय को लिखा है। इस संपादकीय में राजेन्द्र यादव भारतीय संस्कृति पर कटाक्ष करते हैं, जिसमें भारतीय संस्कृति की महानता की रक्षा करने के लिए समाज में वंचितों, शोषितों, दलितों, अस्पृश्य लोगों का बना रहना जरूरी माना गया है। बुद्धिजीवी चाहे जितना इस मान्यता को

¹ सं. राजेन्द्र यादव, औरत: उत्तरकथा, अर्चना वर्मा, भूमिका पृष्ठ- 7.

समाज के लिए कोढ़ और कर्स बताएं पर सामाजिक व्यवस्था में अन्य जनसुविधाओं की तरह वेश्याएँ भी जरूरी समझी जाती है। वहीं दूसरी तरफ नारी को महिमामंडित किया जाता है। समाज में स्त्रियों को केवल देह के मापदण्डों के रूप में देखा जाता है तथा स्त्रियों से ये भी आशा की जाती है कि वो मानव कल्याण के लिए मर्यादाओं का निर्वहन भी करें। सेक्स तथा शील में सामंजस्य बैठाने का बीड़ा भी स्त्रियों के मत्थे मढ़ दिया जाता है और यदि सामंजस्य नहीं बन पाता तो स्त्रियों को इसका खामयाजा भुगतना पड़ता है। समाज में स्त्री शोषित है परंतु यदि उन्हें दलित कह दिया जाता है तो कुछ प्रबुद्ध महिलाएं अपना आपा खो देती हैं अगर कभी ये प्रबुद्ध महिलाएं पुरुष निर्धारित मर्यादाओं को भंग करती हैं तो उन्हें भी उनकी हैसियत बता दी जाती है। पुरुष निर्धारित इन मान्यताओं के पालन करने पर ही स्त्रियाँ सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं। स्त्रियों ने इन मूल्यों और मान्यताओं को अपने जीवन में आत्मसात कर लिया है और वे जानती है कि इन्हें तोड़ने के परिणामस्वरूप उन्हें हत्या, आत्महत्या, निष्कासन, बहिष्कार जैसे नृशंस दंड झेलने पड़ेंगे। जिसके कारण स्त्रियाँ ये आरोपित मर्यादाओं को मानने पर विवश हैं।

राजेन्द्र यादव जी ने पवित्र ग्रन्थों की सूक्तियाँ जो समाज के लिए कल्याणकारी मानी जाती हैं जिन्हें पढ़कर मानव आत्मगौरवान्वित होता है, उन्हें मानव विकास में बाधक सिद्ध किया है क्योंकि इसमें स्त्रियों को इतना महिमामंडित कर दिया जाता है कि यह महानता स्त्रियों को यातना देती है तथा स्त्रियाँ इनसे स्वयं को छला हुआ महसूस करने लगती हैं। दैवी गुणों से युक्त इन सूक्तियों से स्त्री स्वयं को अंधकार के मार्ग पर खड़ा महसूस करती है। देवित्व गुणों का बोझ उन्हें स्वाभाविक जीवन जीने नहीं देता। ग्रन्थों में स्त्री विरोधी कार्यों जैसे अग्नि-परीक्षा, स्त्री शिक्षा का विरोध, वेदों का पाठ निषेध, सती प्रथा, डायन हत्या आदि का भी राजेन्द्र यादव विरोध करते हैं तथा साथ ही स्त्री मुक्ति के लिए पितृसत्ता द्वारा हजारों वर्षों से स्त्रियों पर किए जा रहे शोषण का भी राजेन्द्र यादव जी खुलकर विरोध करते रहे हैं।

राजेन्द्र यादव ने इस संपादकीय में माना कि आज का समय सत्ता के केन्द्रों के टूटने तथा वैकल्पिक केन्द्रों के उभरने का समय है। हाशिये के समाज ने अपनी मुक्ति के लिए बुलंद आवाज़ उठानी शुरू कर दी है। इन हाशियेकृत समाज में सबसे ताकतवर उभार स्त्री-विमर्श का ही है क्योंकि स्त्रियाँ हर जगह ऊपर नीचे, वर्टिकली और हारिजेंटली उपस्थित हैं। स्त्रियों में मुक्ति की कामना निरंतर घर कर रही है। उन्हें मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपने भीतर से असुरक्षा के भाव को खत्म करना होगा तथा संगठित होकर अपनी इस दयनीय दशा को नियति मानने की प्रवृत्ति को बदलना होगा। स्त्रियों को अपने अस्तित्व को स्थापित करने के लिए पुरुष निर्मित सभी अवरोधों को काटना होगा चाहे इसके लिए स्त्रियों को धर्म, परंपरा, संस्कार द्वारा आरोपित संस्कारों से मुठभेड़ ही क्यों न करनी पड़े। जो स्त्रियाँ सत्ता का स्वाद चख चुकी हैं उनको काफी हद तक सबसे पहले अपने स्त्रीत्व को ही स्वाहा करना पड़ा। सत्ता पर विराजमान होने के बाद भी वे महिलाएं स्त्रियों के हित संबंधी कुछ खास कदम नहीं उठा पाती क्योंकि उन्हें पक्षपाती होने के तमगे से खुद को बचाना होता है। उन्हें संतुलन बनाने का स्वांग भी रचना होता है। खैर अपने वर्ग के हितों के लिए कुछ खास ना करने के बाद भी उनका उस शीर्ष पद पर ही होना स्त्री-विमर्श को सबल जरूर देता है। बलात्कार जो आज की 21वीं सदी में स्त्रियों पर पुरुषों द्वारा किया गया सबसे जघन्य अपराध है। इस विषय पर भी 1994 के इस संपादकीय में राजेन्द्र जी ने लिखा है “बलात्कार औरत के खिलाफ पुरुष का सबसे कारगर हथियार रहा है, चाहे वह रात के अंधेरे में इंद्र बनकर अहल्या पर किया गया हो, या भरी कौरव- सभा में द्रौपदी को नंगा करके..... बलात्कार नया नहीं है।”¹, परंतु वर्तमान समय में इस अत्याचार के तरीके दिन-प्रतिदिन हैवानियत की सीमा भी लांघते दिख रहे हैं।

इस विशेषांक में स्त्री मुक्ति के अनेक स्वरों को मुखरित करती लघु कथाओं को शामिल किया गया है। इन लघु कथाओं पर कवि बिहारी के लिए प्रयुक्त की जाने वाली ‘देखन में छोटे लगे घाव करे गंभीर’ यह उक्ति बेहद सटीक लगती है। इन लघुकथाओं में गहरे अर्थ समाहित हैं। शबनम

¹ सं. राजेन्द्र यादव ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं 10.

गिल की लघुकथा ‘आज़ादी’ में शबनम गिल बताती है कि एक इंकलाबी जवान आदमी घर से भाग कर शादी करता है। रोज इंकलाब का झण्डा बुलंद करता है जोशीला है, भाग दौड़ में लगा रहता है। घर आकर पत्नी की गोद में सो जाता है, क्योंकि स्त्री मात्र शरीर ही समझी जाती हैं। स्त्री की आज़ादी को यहाँ व्यंग्यात्मक शैली में कठघरे में खड़ा किया है। शादी के काफी सालों बाद उस इंकलाबी को पत्नी की आज़ादी का ख्याल आता है और वो उसे उसकी आज़ादी देता है। अपनी पहचान बनाने को भी कहता है और खुद गौरवान्वित महसूस करता है क्योंकि स्त्री को आज़ादी जो दी है। परंतु वह स्त्री अब चार बच्चों की माँ है। इस मुकाम पर मिली आज़ादी को वो कैसे आत्मसात करे उसके सामने भूखे रोते बच्चे हैं। वह अब केवल अपने हित के बारे में नहीं सोच सकती। अपने सभी संबंधों की खातिर उसे खैरात में मिली आज़ादी को भी स्वाहा करना पड़ता है। यही हर भारतीय स्त्री की कहानी है। इस विशेषांक में रघुनंदन त्रिवेदी की तीन लघु कथाएँ शामिल हैं ‘माधुरी दीक्षित की नींद’ लघुकथा में रघुनंदन त्रिवेदी ने सिनेमाई जगत की चकाचौंध में अभिनेत्रियों में अपनी पहचान विलीन न होने के लिए लगी होड़ को चित्रित किया है। जहाँ पूरा दिन काम करके, थकी होने पर भी, उन्हें सोने तक की फुर्सत नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो उनके प्रशंसकों के सपनों में उनकी जगह लेने के लिए बहुत स्त्रियाँ कतार में हैं, इसीलिए अपनी नींद को त्यागकर अभिनेत्री अपने प्रशंसकों के सपनों में जाने के लिए खुद को तैयार करती हैं। ‘औचित्य’ में त्रिवेदी जी ने सत्य घटना को लिया है जिसमें ‘मैन ओनली’ पत्रिका ने पामेला की नग्न तस्वीरों के लिए उन्हें 7 लाख 50 हजार पौंड देने की बात रखी। ‘मैन ओनली’ के संपादक नेविल प्लेयर का कहना था कि “मेरा मानना है कि देश को उनका संपूर्ण सौंदर्य देखने का अधिकार है”¹ स्त्री को केवल देह मानना तथा उसके शरीर को बेचने की प्रवृत्ति को यहाँ दिखाया गया है। तीसरी लघुकथा ‘चोली के पीछे क्या है?’ में त्रिवेदी जी ने पुरुष की उस मानसिकता को दिखाया है जब पुरुष फिल्म

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 171,

<https://www.indiatoday.in/magazine/special-report/stroy/19890415-pamella-bordes-sexual-escapades-with-high-and-mighty-rock-british-establishment-815974-1989-04-15>.

में स्त्री को केवल एक वस्तु रूप में प्रोजेक्ट करते हैं। फिल्मों के गानों के शब्दों में स्त्री के अंगों का प्रयोग किया जाता है ताकि अधिक से अधिक लोग आकर्षित हों और मुनाफा कमाया जा सके। इस गाने के लिए प्रशंसक केवल अभिनेत्री का नृत्य, सेक्सी अंदाज़ देखने के लिए अनंत बार सिनेमा जाने को लालायित दिखते हैं। उसके पीछे के संघर्ष को केवल वो स्त्री ही जानती है जिसने ऊब, थकावट, दर्द सब त्यागकर पीरियड में भी, दुखती जांघों के साथ चेहरे से सब दुख नदारद करके बड़ी सी मुस्कान को चिपकाए हुए अपनी भूमिका निभाई है। रामकुमार अत्रेय की ‘आग-फूल और पानी’ में बाल-मनोविज्ञान के साथ-साथ स्त्री जीवन के यथार्थ देखने को मिलता है। घरेलू हिंसा का बच्चों पर जो गहरा प्रभाव पड़ता है उसे दिखाने की कोशिश की गयी है। अपनी माँ की मूर्ति बनाते समय बच्चे आंखों से आंसू निकालते हैं, क्योंकि उनका पिता माँ को पीटता है। माँ मार खाते-खाते भी मुस्कुराती है, इसीलिए बच्चे होंठ पर एक फूल लगाते हैं। अंत में बच्चों के विद्रोही मनोविज्ञान को दिखाया गया है जहां वे माँ की मूर्ति के सिर में आग भरना चाहते हैं ताकि उनकी माँ को कभी घरेलू हिंसा का शिकार ना होना पड़े। जरूरत पड़ने पर माँ आग से विद्रोह कर सके। “आग! आग का क्या करोगी?” रामू ने चौंकते हुए पूछा। “आग को मैं मम्मी की मूर्ति के दिमाग में भरूंगी.....फिर.....फिर मम्मी को कोई नहीं मारेगा.....यदि कोई मारेगा भी तो मम्मी रोएंगी नहीं.....उसे जलाकर राख कर डालेंगी!”¹

इस विशेषांक में हिन्दी तथा हिंदीतर भाषाओं से लेखिकाओं की आत्मकथाओं के अंश सम्मिलित हैं। रूढ़िवादी मानसिकता से मुक्त होकर स्त्रियों ने अपने निज की अभिव्यक्ति की तथा रूढ़िमुक्त जीवन जीने के लिए खुद को तथा पाठक को हिम्मत दी। इन आत्मकथा के माध्यम से महिलाओं की नयी सोच तथा उनके यथार्थ जीवन के राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, साहित्यिक पहलुओं के प्रश्न सामने आते हैं। 1. नटी विनोदिनी: ‘मेरी कहानी’, 2. दिलीप कौर टिवाणा : ‘पहली बार मैं’, 3. कुसुम अंचल: ‘तेरहवीं मंजिल से...’, 4. मलिका अमरशेख: ‘मैं खाक में मिल

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 163.

जाना चाहती हूँ.....’ 5. अनामिका: ‘होलडॉल के पहिए उर्फ एक औरत का जर्नल’, 6. लीडिया एविलोव: ‘मेरी ज़िंदगी में चेखव’। इन आत्मकथाओं में स्त्री ने अपने भीतर की आंतरिक पीड़ा को खोल कर, बिना किसी लोकलाज के निर्भीक होकर अपने जीवन के कटु यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। अपने जीवन के उन पलों को भी लिखा जो वो आज तक किसी से कह नहीं पायीं थी।

राजेन्द्र यादव को स्त्री मुक्ति के स्वर को वाणी देने के लिए इस विशेषांक की योजना के लिए अनेक कटाक्ष को सहना पड़ा। उन्हें कहा गया कि ‘हंस’ में स्त्री विशेषांक कि आखिर क्या जरूरत क्योंकि ‘हंस’ का प्रत्येक अंक ही स्त्री का होता है। अपने लेख “आखिर बो कौन सी चीज़ होवै हैं जिसै तुम ‘मौडर्न’ कहोगे?” में मनमोहन ठाकौर कहते हैं कि “अब जे भेंचो बैयरबानियों पै तुम्हें अंकड़ नई, बिसेस अंक निकालनै की ऐसी कौन सी जरूरत आन पड़ी थी? पर नई साब, तुम्हें तौ बो खुजली मचा करै है न- तमासा घुस कै देखने की। तौ भोगना भैया अपनै किये का नतीजा।”¹

एक पुरुषशासित समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति है? इस विषय को ‘नारी: उत्तरकथा: कुछ क्लास नोट्स’ में गौतम सान्याल स्पष्ट करते हैं। इसमें समाज में नारी को केवल शरीर समझे जाने की समस्या पर चिंता दिखाई देती है साथ ही पुरुष द्वारा खुद को सम्राट मानकर स्त्री के अस्तित्व को मिटाने की साजिश की भी आलोचना की है। “ठीक ठीक कहें तो नारी मांस की बोटी है- नारी वक्ष है, नितंब है, निर्वस्त्र स्कंध है, नंग-जंघ है। इसके अतिरिक्त नारी सेवा है। नारी वह जीव है जो आजीवन पुरुष की सेवा में लगी होती है, अवैतनिक वरना वह ‘नारी’ ही नहीं हो पाती। प्रेम का अर्थ नारी के लिए सेवा है पुरुष के लिए मेवा। प्रेम का अर्थ नारी के लिए तर्पण है, समर्पण है, त्याग है, वर्जन है जबकि पुरुष के लिए ग्रहण है, मात्र ग्रहण और ग्रहण है।”² पुरुष हर तरह से स्त्रियों को स्वाभाविक जीवन जीने नहीं देते। पुरुष स्त्री के अस्तित्व को अंधकार के गर्त में डालने की हर संभव कोशिश करता है।

¹ सं. राजेन्द्र यादव, अंक हंस’, - नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 11.

² सं. राजेन्द्र यादव, हंस’, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 223.

बाखबर कॉलम के 'स्त्री कितना डरायेगी' में कृष्ण कुमार जलगांव शहर की एक घटना का जिक्र करते हुए पूरे स्त्री वर्ग की स्थिति को सामने रखते हैं क्योंकि कोई भी शहर हो, गाँव हो देश हो या विदेश स्त्री के शोषण की दास्तां हर जगह मौजूद है। जलगांव की लड़कियों का शोषण कई वर्षों से इतने बड़े पैमाने पर हो रहा था कि वहाँ की स्कूल, कॉलेज जाने वाली लड़कियों को राजनैतिक ताकत रखने वाले लोग अपनी हिंसक वासना का शिकार बनाते हैं। हिंसक वासना शब्द अब मनुष्य को विचलित नहीं करता। मनुष्य अब इन सबका आदी होता जा रहा है। स्त्री की अमानुषीकरण की प्रक्रिया पूंजी को केंद्र में रखकर की गयी वीभत्स प्रक्रिया है। जो आजकल मनुष्य की दिनचर्या में शामिल होती जा रही है और इसका अभ्यास मनुष्य करता जा रहा है ना कि इसमें परिवर्तन करने की आवश्यक कोशिश। सामंती व्यवस्था से इस व्यवस्था की शुरुआत होती है और पूंजीवादी व्यवस्था में आकर विस्तार प्राप्त कर रही है। प्रेमचंद की 'मनोवृत्ति' कहानी का उदाहरण देते हुए कृष्ण कुमार जी यह स्पष्ट करते हैं कि स्त्रियों को बचपन से ही छोटे-छोटे सुखों से वंचित कर दिया जाता है। उन्हें अपने सुखों के प्रति उदासीन बना दिया जाता है। समाज ने स्त्रियों को अपनी गुलामी के खिलाफ खड़े न होना, इसे संजीदगी से न लेने का अभ्यस्त बना दिया है परंतु अब स्त्रियों को इस व्यवस्था को मानने से इंकार करना होगा जो उन्हें उनके सुखों से महरूम रखती है। मनोवृत्ति कहानी में बताया गया है कि कैसे सार्वजनिक स्थान पर जैसे पार्क, सड़क पर स्त्रियों की स्थिति नियंत्रित होती है। स्त्रियाँ पार्क में बेंचों पर लेट नहीं सकती सड़कों पर लड़कों की तरह खड़े होकर घंटों बातें नहीं कर सकती। अगर कोई स्त्री ऐसा करती है तो उसे संदेह और हेय की दृष्टि से देखा जाता है। लड़कियों के लिए सड़कें केवल आवागमन का माध्यम है। देर रात में तो लड़कियों की सड़क पर मौजूदगी सहज है ही नहीं। उन्हें शुरुआत से ही बलात्कार की दुर्घटना से आशंकित कर दिया जाता है जिससे वो ताउम्र मन में भय को पाले रखती हैं। जो चिंता उस समय प्रेमचंद की थी कि सार्वजनिक स्थान पर स्त्री की मौजूदगी को सहज बनाना वो आज भी जस की तस है बल्कि और अधिक वीभत्स रूप में। दिल्ली की निर्भया, उन्नाव, कठुआ, हैदराबाद आदि हर शहर में इसी

असहजता के कारण स्त्रियाँ, छोटी बच्चियाँ यौन उत्पीड़न, जला कर हत्या जैसी वारदातों का शिकार हो रही हैं। चंडीगढ़ के वर्णिका विवाद में कथित विवादित बयान जिसमें वर्णिका से ही सवाल किया गया कि देर रात घर से बाहर क्या कर रही थी? इस घटना से प्रेरित होकर 2017 में वर्णिका जैसी तमाम लड़कियों के लिए दिल्ली से सोशल मीडिया पर एक मुहिम की शुरुआत हुई ‘मेरी रात मेरी सड़क’¹ तथा सोशल मीडिया के माध्यम से देश के विभिन्न राज्यों की लड़कियाँ इस मुहिम का हिस्सा बनीं तथा लड़कियाँ घरों से निकल कर रात में सड़कों पर उतरीं। जिससे समाज लड़कियों को देर रात भी सड़क पर देखने का अभ्यस्थ हो सके, यह इसकी सफल पहल थी परंतु चाहे स्त्री अपने लिए कितनी ही कोशिशें कर लें जब तक पुरुषों की मानसिकता में परिवर्तन नहीं होगा, तबतक इन वारदातों के आँकड़ों में निरंतर वृद्धि ही देखी जाती रहेगी, क्योंकि रात के समय अकेली स्त्री पुरुषों के लिए निजी संपत्ति हो जाती है और बलात्कार का शिकार बनती हैं। इस धारणा को समाप्त करने के लिए कानून का भय होना जरूरी है, इसलिए इस विषय पर सख्त कानूनी संशोधनों की जरूरत है।

‘एक सफर—बसमतिया से भंवरी बाई तक’ एक महत्वपूर्ण लेख है। इसमें अलग-अलग समय पर पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर किए गए यौन शोषण तथा स्त्रियों का इसके लिए विरोध करने पर उनके साथ होने वाले सामाजिक बहिष्कार की घटनाओं को दिखाया गया है। इन घटनाओं में मुख्यतः इन समस्याओं को दिखाया गया है कि छोटी जाति की स्त्रियों के साथ पुरुषों द्वारा किया गया यौन शोषण, स्त्रियों को ही कुलटा कह दिया जाना, वो स्त्री बदनाम है इसीलिए गाँव की इज्जत को खतरा है, स्त्री का हुक्का पानी बंद करना। पुलिस द्वारा कोई मदद ना मिलना आदि। स्त्रियों के नाम गाँव दर गाँव, शहर दर शहर बदलते हैं। एक घटना में गाँव के पंचो ने फैसला लिया कि अपराधी की बहन के साथ पीड़िता का भाई बलात्कार करे। यह कैसा न्याय है? मध्यप्रदेश की एक घटना में एक लड़का अपनी माँ की उम्र की औरत के साथ बलात्कार करता है और माफी मांगता हुआ

¹ <https://www.indiamantra.com/meri-raat-meri-sadak-campaign/>.

समझौता करना चाहता है। क्या बलात्कार के मामले में कोई समझौता हो सकता है? अपराधी बच्चा कहता है कि “मासी तेरा एक बेटा है न, मेरी ही उम्र का। मेरी एक माँ है तेरी उम्र की समझौता कैसे नहीं हो सकता? अपने बेटे से कह की मेरी माँ के साथ वही करे जो मैंने तेरे साथ किया। यानी मेरी माँ पर तेरा बेटा बलात्कार कर ले। मामला बराबर हो जाएगा।”¹ यहाँ समाज की संकीर्ण मानसिकता का परिचय मिलता है और न्याय व्यवस्था पर भी गहरे प्रश्न खड़े होते हैं।

राजस्थान के करौली की घटना में बंसती के साथ महेश बलात्कार करता है और पंचों द्वारा यह मान भी लिया जाता है कि यौन हिंसा हुई है। पंच अपने द्वारा दिए गए फैसले पर गौरवान्वित है कि बंसती का पति अब महेश की बीवी के साथ भी बलात्कार करे ताकि बंसती को न्याय मिले। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बंसती को न्याय देने के लिए महेश की पत्नी को किस बात की सजा दी गयी? पंचों के अनुसार इससे कड़ी सजा कोई और हो नहीं सकती। “यहीं चक्रव्यूह है हमारे समाज का। जो अपराधी है उसे ही अधिकार मिलता है वहीं न्याय कर्ता है। अपने लिए इंसान और अपराध करने का हक़ आरक्षित कर लेता है। अपनी पत्नी को बेचने का हक़ पा लेता है। दूसरे की बीवी को भोगने का हक़ पा लेता है।”² इस लेख में स्त्रियों की इन घटनाओं को सामने रखा गया है जिसमें अनेक भंवरियाँ, अनेक बसमतिया और बंसती की कहानियाँ छिपी हुई हैं। जो लगातार संघर्ष कर अपने अधिकार को पाने की लिए व्यवस्था से दो हाथ करती हैं।

‘शकीला दर शकीला’ में सीमा मुस्तफा ने मुस्लिम समाज में स्त्रियों की जो दयनीय स्थिति है, उसको समाज के सामने लाकर खड़ा किया है। बालविवाह, स्त्री शिक्षा की अवहेलना, केवल पुत्र प्राप्ति की चाह, घरेलू हिंसा, तलाक की समस्या आदि इन सब समस्याओं से गुजरती प्रत्येक मुस्लिम स्त्री की कहानी शकीला-दर शकीला में कही गयी है। शकीला यहाँ समस्त मुस्लिम औरतों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 177.

² सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 178.

कम्युनिस्ट पार्टी में स्त्री की हाशिएकृत स्थिति का आंकलन अभय कुमार दुबे ने 'पार्टी के हाशिए से क्रांति की चौखट तक कम्युनिस्ट आंदोलनों में स्त्री' लेख में किया है। मार्क्सवाद और स्त्री मुक्ति को लेकर सिमोन द बोवुआर कहती हैं कि "मार्क्सवाद के पैरोकार समाजवाद की उस सीमा तक पहुँच ही नहीं सके, जहां पर संपूर्ण पुरुष-वर्ग की चेतना का रूपान्तरण संभव होता, जो मार्क्स का स्वप्न था। मार्क्सवाद सिद्धांतकारों ने जो किया, वह था पूंजी के निजी स्वामित्व की समाप्ति और उत्पादन-संबंधों में परिवर्तन, लेकिन समय के साथ यह तथ्य स्पष्ट होता गया कि सिर्फ उत्पादन-संबंधों को बदल देना ही काफी नहीं है और ऐसा करके मनुष्य और समाज के आंतरिक रूपान्तरण के लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सकता। अलग-अलग आर्थिक व्यवस्थाओं में भी सदियों से चले आ रहे मूल्य, संस्कार और स्त्री व पुरुष के बीच पारंपरिक भूमिकाओं का विभाजन बदस्तूर कायम रहेगा। इस वास्तविकता से संबद्ध एक कठोर सत्य यह भी है कि पुरुष-प्रभुत्व वाले समाज में पुरुषों के भीतर अपनी श्रेष्ठता और उच्चता का बोध कूट-कूटकर भरा हुआ है....."¹

कम्युनिस्टों ने स्त्री उत्थान में कुछ विशेष प्रयास नहीं किए इस विषय पर विचार किया गया है। ये लोग इसका कारण जैविक भिन्नता को मानते हैं। स्त्रियाँ पार्टी में हाशिए की स्थिति में हैं। राजेश्वर राव और उनके कॉमरेड स्त्रियों को संगठित करने को तैयार थे पर उन्हें लगता था कि रजाकारों के आगे स्त्रियाँ यौन-उत्पीड़न और बलात्कार का शिकार हो जाएंगी तथा इसी वजह से स्त्रियों को संगठित करने से कामरेड कतराते थे। यौन उत्पीड़न का तर्क देकर ये लोग स्त्रियों को अधिक सुरक्षित स्थान से महरूम रख रहे थे बेशक वो स्थान पार्टी का ही था। महिला कम्युनिस्ट और पुरुष कम्युनिस्ट दोनों की स्थितियों में काफी फर्क था। औरतों पर घर के कामों का अतिरिक्त भार होता है। अतिरिक्त काम को करते हुए भी उसे कमतर आँका जाता है। वीरांगना वृज रानी बड़ा वाजिब

¹ स्त्री के पास खोने के लिए कुछ नहीं है!, अनुवाद- मनीषा पांडेय, पृष्ठ सं. 38.

सवाल करती हैं “कितनी विचित्र बात है कि मार्क्स-एंगेल्स के अनुनायियों ने घर की देहरी लांघकर क्रांति में उतर आयीं औरतों को वापिस रसोईघर में भेज दिया”¹

‘औरत उत्तरकथा’ विशेषांक की प्राण उनमें छपी स्त्री मुक्ति के प्रत्येक आयाम को छूती कहानियाँ हैं, जिसमें स्त्री मुक्ति की ललक, स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, बाल-विधवा, विवाह के बाद भी स्त्री का अकेलापन, असंतुष्ट जीवन और नया जीवन साथी ना चुनने की स्वतन्त्रता का अभाव, स्त्री से प्रगतिशील विचारों की अपेक्षा ना करना, स्त्री को केवल प्रजनन तक सीमित करना, वेश्यावृत्ति की समस्या, दहेज-प्रथा, स्त्री के केवल गृहणी रूप को स्वीकारना, स्त्री-शोषण, अपने अस्तित्व और अपनी पहचान के लिए जूझती स्त्रियों के केंद्र में हैं।

स्त्री को पुरुष पहले शिक्षा के अधिकार से वंचित रखता है, फिर उसी अभाव के कारण उसे मानसिक गुलाम बना दिया जाता है तथा मूर्ख की संज्ञा दी जाती है क्योंकि पढ़ाई करने का सुख उन्हें नहीं पता क्या होता है। जयशंकर प्रसाद की ‘कलावती की शिक्षा’ कहानी इसका उदाहरण है। जिसमें कलावती अपने मन की वेदना तथा मुक्ति की चाह को एक गुड़िया के साथ बांटती है तथा उसे शिक्षा देती है कि साहसी बनो, लज्जा का त्याग करो पुरुष द्वारा लज्जा को स्त्रियों पर थोपा गया है तथा उसी से उसे कमजोर बनाया जाता है। अपनी मनोदशा तथा मुक्ति की ललक को कलावती यूँ व्यक्त करती है “पुतली! तुमने रूप का परिवर्तन भी छोड़ दिया है, यह और भी बुरा है। सोने के कोर की साड़ी तुम्हारे मस्तक को अभी भी ढंके है, तनिक इसे खिसका दो। बालों को लहरा दो। लोग लंगें पैर चूमने, प्यारी पुतली! समझी न?”² बाल-विवाह और बाल-विधवा स्त्रियों के जीवन को बचपन में ही समाप्त कर देता है। अबोध बच्ची को विवाह का अर्थ नहीं पता होता और उस पर गृहस्थी को संभालने का बोझ डाल दिया जाता है। कभी कभी गौने से पहले ही वो विधवा हो जाती है तथा ताउम्र वैधव्य जीवन जीना की यातना ही उसकी नियति बन जाती है। उसे सामान्य जीवन नहीं जीने दिया जाता। समाज उसे अपने अनुसार चलने को मजबूर करता है। उसके

¹ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 126.

² सं. राजेन्द्र यादव, अंक हंस, - नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 15.

लिए समाज तमाम मूल्यों को निर्धारित करता है। जब स्त्री दी गयी उस नई स्थिति को अपना लेती है तब फिर समाज को उससे परेशानी होने लगती है क्योंकि विधवा किसी भी स्थिति में सामान्य जीवन जीने की हकदार समझी ही नहीं जाती। बाल विवाह तथा बाल-विधवा के जीवन की समस्या को प्रेमचंद की 'नैराश्य लीला' कहानी में दिखाया गया है। विधवा के लिए समाज ने नियम कानून बनाए हुए हैं ये विचार किए बिना कि पति की मृत्यु में औरत का कोई दोष नहीं है। "विधवा के लिए पूजा-पाठ है, तीर्थ व्रत है, मोटा खाना है, मोटा पहनना है; उसे विनोद और विलास, राग और रंग की क्या जरूरत? विधाता ने उसके सुख के द्वार बंद कर दिए हैं लड़की प्यारी सही, लेकिन शर्म और हया भी तो कोई चीज़ है।"¹ स्त्रियों को धर्मनिष्ठा के कार्यों में लिप्त कर दिया जाता है। उसे समझाया जाता है कि धर्मनिष्ठा स्त्रियों का स्वाभाविक गुण होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि स्त्री क्यों पुरुष पर इतनी आश्रित है? पुरुष क्यों स्त्री के भाग्य का विधाता और विधायक है? स्त्रियों में आत्मविश्वास, अभिमान को क्यों उपेक्षित किया गया? क्यों पुरुषों को स्त्री-हृदय के कोमल भाव कुत्ते का दुम हिलाना मालूम होने लगा? आखिर क्यों स्त्री को केवल पुरुषों के अधीन, उसकी खुशामद करने, सेवा करने के लिए विवश किया जाता है? क्यों पुरुषों के बिना उनका जीवन निर्वाह मुश्किल समझा जाता है?

विधवा स्त्री को अपने अनुरूप सजने सँवारने का अधिकार नहीं होता क्योंकि ये धर्म के खिलाफ समझा जाता है। कहानी की मुख्य पात्र कैलाशकुमारी अंत में विधवा धर्म को मानने से इंकार करती है। निश्चय करती है कि वो कोई व्रत नहीं करेगी ना खुद को बिना किसी दोष के इस वैधव्य के दंश को झेलने देगी। अपनी आत्मा की रक्षा के सिवा कोई सच्चा धर्म नहीं होता और इसी के साथ वो खुद को मुक्ति देती है।

'व्यक्तित्व की भूख' कहानी एक ऐसी मेधावी लड़की के इर्द-गिर्द घूमती है जिसकी प्रतिभा को नज़रअंदाज़ किया जाता है और असमय विवाह के बंधन में उसको बांध दिया जाता है।

¹ सं. राजेन्द्र यादव, 'हंस', अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 17.

वैवाहिक जीवन में वो असंतुष्ट रहती है। एक अभाव का एहसास उसे हर पल रहता है। प्रेम के इस अभाव को वो शादी के बाद भी खोजती रहती है। पति से उसे कोई शिकायत नहीं है परंतु पति में वो पूर्णता को महसूस नहीं कर पाती। विवाहोपरांत वो कई पुरुषों में पूर्णता को देखती है तथा यह भी जानती है कि समाज के लिए यह स्वीकारना सहज नहीं होता कि स्त्री शादी के बाद किसी से प्रेम करें। “यह प्रेम अनुचित है, समाज इसे क्या कहेगा? विवाहिता नारी का प्रेम पति पर ही केन्द्रित होता है। उसे कोई अधिकार नहीं कि वह कोई और स्नेही, मित्र, सखा बनाकर प्यार लुटाती चले, लेकिन मन को वह अच्छा लगता है! जाने दो यह सब, ऊह! प्रेम ही तो जीवन है। इसकी अवहेलना क्यों? इसके बिना तो जीवन निर्जीव, निस्पंद, निरानंद हो जाता है, आखिर फिर क्यों समाज इसे पापाचार बतलाता है?”¹ स्त्री को अपने लिए इतने क्रांतिकारी कदम उठाने का साहस कम ही होता है कि वो पति का त्याग कर प्रेमी के साथ खुशी-खुशी अपना जीवनयापन करें क्योंकि उसे बचपन से ही केवल पति के चरणों से लिपटी रहने ही हिदायतें दी जाती हैं। जिस प्रेम के बारे में पति को जानकारी लगते ही वो उसे त्याग देता है। स्त्री का परिवार भी पति के त्यागने के बाद उसकी उपेक्षा करता है। जिस प्रेम की खातिर इला ने सब त्याग दिया यश-अपयश, लोक-लाज, वो प्रेमी उसके लिए केवल आर्थिक सहायता करने को तैयार होता है। इला को प्रेम तब भी नहीं मिल पाता गुस्से में इला कहती है “कायर। स्त्री को पालतू पशु से भी गिरा हुआ समझने वाले पुरुष, तुम अपने को समझते क्या हो?.....”² समाज के नियम विधि-विधानों की जंजीरों से जकड़ी स्त्रियों को स्वयं अपने लिए इन बंधनों को काटना होगा अन्यथा उसका सर्वनाश होने से कोई नहीं बचा सकता। पुरुषों के भीतर के इस दंभ को खत्म करना होगा कि स्त्री उनकी पैतृक संपत्ति है क्योंकि वह उन्हें आर्थिक संरक्षण देते हैं। स्त्री के विवाहोपरांत भी अधूरेपन को व्यक्त करती एक और कहानी ‘लाश-तलाश’ है। जिसमें निरुपमा घोष और लतिका दो स्त्री पात्र हैं, दोनों ही अपने-अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट हैं। निरुपमा नर्स तथा डॉ. रविशंकर दोनों विवाहेतर संबंधों में हैं परंतु

¹ सं. राजेन्द्र यादव, हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 23.

² सं. राजेन्द्र यादव, हंस’, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 26.

समाज द्वारा अनैतिक होने का लांछन केवल स्त्री पर ही लगाया जाता है। निरुपमा की गुमशुदगी की धुरी पर कहानी का पूरा फ़लक घूमता है। लतिका की शादी भी परिवार द्वारा जबरन करवा दी जाती है, क्योंकि उसके इंकार की अहमियत ही क्या होती ? “शादी के लिए मैंने न नहीं कही, कह भी नहीं सकती थी। लेकिन यह स्वीकार नहीं कर पाती थी कि शादी के बिना औरत अधूरी रहती है। माँ शुरू से समझाती थी कि स्त्री की मुक्ति पति में है। मुक्ति भी और पूर्णता भी।”¹ यहाँ सोचने वाली बात यह है कि जब विवाह के बाद भी स्त्रियों को वही अकेलापन मिले तो विवाह में खुद को क्यों बांधे? लतिका तलाक़शुदा है तथा अकेलेपन का सहारा मदन में पाती है। अपनी शर्तों पर जीने वाली औरतें समाज को रास नहीं आती। पुरुष भले ही उसका शोषण करता रहे पर उससे अपेक्षा रखी जाती है कि वो चुपचाप सब सहें। प्रगतिशील स्त्रियों का यहीं हथ्र होता है जो लतिका और निरुपमा के साथ होता है। “निरुपमा का चरित-पुराण था, कुल मिलाकर आशय यह कि निरुपमा घोष छिनाल है, उसकी जैसी औरतें समाज को गंदा करती हैं। पारिवारिक ज़िंदगी में जहर घोलती हैं। प्यार के रिश्तों को व्यवसाय में बदल देती हैं।”² लतिका निरुपमा की तलाश में लग जाती है। साथ ही कुछ स्त्रियों को प्रेरित करती है कि घर से निकलें और सच्चाई को सामने लाएँ, पर उन स्त्रियों को उनके पति से जान से मारने की धमकी मिलती है और वे लतिका का साथ नहीं दे पाती। समाज उन्हें गाली देता है “रखैल की खोज में रंडियों की फ़ौज”³ स्त्री यदि वैवाहिक जीवन में खुश नहीं है और वो तलाक़ ले लेती है तो समाज उस पर अनेक प्रकार के आक्षेप लगाता है जैसा लतिका को समाज से गालियाँ सुनने को मिली “रस्साली, रंडी, दरवाजा खोल.... अपना मर्द छोड़कर रंडीबाजी करती है और दरवाजा खोल....मर्द फँसाने वाली औरत की तरफ़दारी का मज़ा तुझे भी चखा दूँगा।”⁴ अंत में निरुपमा की लाश मिलती है जिसे उसके प्रेमी ने ही मारा था क्योंकि वह अक्यूट सेक्स मोनिया बीमारी से ग्रस्त था जो एक दो स्त्रियों से अपनी हवस को शांत

¹ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 149.

² सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 153.

³ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 153.

⁴ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक - नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 154.

नहीं कर सकता और नित नए शिकार की तलाश में लगा रहता है। कहानी के माध्यम से समाज का असली चेहरा सामने आता है जो अपराधी पुरुष को बचाने की तथा प्रगतिशील विचार रखने वाली स्त्रियों को कुचलने की हर संभव कोशिश करता है।

वेश्यावृत्ति स्त्रियों के जीवन का एक ऐसा सच है जिसमें पुरुष स्त्रियों की देह पर गिद्ध दृष्टि रखता है तथा स्त्री देह को चील कौवों की तरह नोंच डालता है। उस स्त्री की मानसिक स्थिति का अंदाज़ा भी लगाना मुश्किल है। “वेश्यावृत्ति का धंधा तो पुराना है, लेकिन अब उसका यह रूप नया और तड़क-भड़क वाला है। भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री बाज़ार में खड़ी है- वस्तु की तरह अपनी देह पर कीमत का ‘टैग’ चिपकाए। यह सच है कि भूमंडलीकरण ने व्यापार को अहम बना दिया है, इसमें स्त्री का देह-व्यापार भी शामिल हो गया है। यह व्यवस्था एक नई तरह की दैहिक गुलामी, नए विध्वंस को उभार रही है।”¹ वेश्यावृत्ति के कारण जिस मानसिक तनाव को स्त्रियाँ भोगती हैं उस समस्या को इस विशेषांक में ‘.शि’ कहानी के द्वारा चित्रित किया गया है। कहानी में स्त्री की मनः स्थिति का बखूबी चित्रण किया है जहाँ स्त्री को केवल देह से बढ़कर कुछ नहीं समझा जाता। स्त्री अपने जीवन के इस दंश को इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है “इस देह के पीछे जिसे पसीना, दस्त और खून के लोथड़े आते हैं। इन चूतियों के लिए वह जादू है, और वह इससे ऊब गयी है, अब वह देह को ग्राहक के साथ बिस्तर पर छोड़ कहीं एक कोने में बैठ जाती है और इन चुटकुला सिकंदरों को देख-देख हंसती रहती है। ये सिकंदर और चमड़े की इनकी तोपें और लिसलिसे फुस्स पटाखे! सोचते हैं कि दागा और फ़तह कर लिया”² वेश्या की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति दोनों को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है साथ ही केवल व्यापार को महत्वपूर्ण मानते हुए एक ग्राहक के जाते ही अगले ग्राहक के लिए उसे ‘गो एंड गेट रेडी’ कहकर मूर्ति के समान बैठा दिया जाता है।

¹ गीताश्री, स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, , पृष्ठ सं. 55.

² सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं 157.

एक तो स्त्री को शादी के बाद अपना घर त्यागकर पराये घर जाना होता है। वहाँ जाकर भी उसे मानवीय सम्मान नहीं मिलता। उसे सिर्फ बच्चा पैदा करने की मशीन समझा जाता है। जैसे स्त्री का जन्म ही इसी उद्देश्य के लिए हुआ हो कि वो शादी के बाद पति के वंशबेली बढ़ाए। यदि किसी कारणवश वे गर्भवती नहीं हो पाती तो सारा दोष स्त्री के मत्थे मढ़ दिया जाता है और उसे वापिस उसके घर भेजने की तैयारी शुरू कर दी जाती है। जैसे वो एक वस्तु थी जिसे वो लोग खरीद लाए थे तथा कोई खामी मिलने पर उसे वापिस कर सकते हैं। बच्चे के जन्म न होने के लिए क्यों केवल स्त्री को ही इसका जिम्मेदार समझा जाता है? जबकि वैज्ञानिकता के स्तर पर देखें तो पुरुष भी इसका जिम्मेदार है। ‘अकारण तो नहीं’ कहानी की कथावस्तु स्त्री की इसी समस्या को लेकर लिखी गयी है। जहाँ दीपाली की भी यही समस्या है कि वो शादी के 6 साल बाद भी बच्चे को जन्म नहीं दे पाती और रोजाना सास के ताने सुन कर परेशान है पर फिर डॉक्टरी जांच के बाद यथार्थ स्थिति सामने आती है कि खामी दीपाली में नहीं बल्कि उसके पति सुधाकर में है। इसके बाद भी सुधाकर इस सच्चाई को अपनी माँ के समक्ष भी नहीं आने देता तथा दीपाली को भी चुप रहने के लिए कहता है। दीपाली का आक्रोश कुछ इस तरह अभिव्यक्त होता है “खाविंद की मर्दानगी ने भी उसकी आड़ ली। छिप गया कायर, छिप ले। मेरे सामने तो तू सदा से ही नंगा है, नंगा ही रहेगा।”¹ निसंतान होने का कलंक, सास के ताने, अनावश्यक देसी उपचार, पति की सेवा, सास द्वारा दीपाली को वापिस मायके भेजने का षड्यंत्र ताकि सुधाकर की दूसरी शादी करवाई जा सके। दीपाली सोचती है “यानी कि मैं कोई स्त्री नहीं, नांद हूँ जिसमें तुम्हारी पुश्टों का चारा धरा रहे। एक निर्जीव वस्तु, जो भेजी और लायी जाती रहे जिस हिसाब से जिस किसी को जरूरत हो।”²

¹ सं. राजेन्द्र यादव हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 138.

² सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 142.

दहेज प्रथा हमारे समाज की ऐसी कुरीति है जिसके कारण आज भी रोजाना स्त्रियों को ज़िंदा तक जला दिया जाता है, गोली मार दी जाती है।¹ इस कुरीति को लेकर इस विशेषांक में ‘युयुत्सा’ कहानी लिखी गयी है।

गृहस्थी में स्त्री का न कोई मोल समझा जाता है न कोई उसे सम्मान देने की जरूरत समझी जाती है। स्त्री की यह स्थिति न केवल अनपढ़ों तक सीमित है बल्कि पढ़े लिखे पुरुषों में भी वर्चस्व बनाए रखने की प्रवृत्ति बनी हुई है। स्त्रियों पर हिंसा होना आम बात हो गयी है। पति के निर्णयों की अवज्ञा का अधिकार उन्हें होता ही नहीं। स्त्रियों को पुरुषों द्वारा अपने पैर की जूती समझा जाता है तथा उसी जूती से उसको पीटा भी जाता है। यदि शिक्षित व्यक्ति भी ऐसा पाशविक व्यवहार करता है तो शिक्षा का क्या ही महत्व है? ऐसी स्थिति को ‘पूर्णाहुति’ कहानी की नायिका दीप्ति के माध्यम से दिखाया गया है जो समाज की बहुलांश स्त्रियों के नंगे यथार्थ को पाठक के समक्ष रखती है। “क्या कर रहे हो? इतना पढ़े- लिखे जिम्मेदार व्यक्ति का ऐसी कंजरो की तरह मार-पिटवाई करना? कम से कम नौकर- चाकरो का तो लिहाज करो।”² दीप्ति के माध्यम से सरयू शर्मा स्त्री के भीतर की मुक्ति की चाह को व्यक्त करते हैं जहां वो स्वयं को केवल पति के मनोरंजन की वस्तु तथा अपनी हैसियत केवल बिस्तर और रसोई तक सीमित होते नहीं देख पाती तथा विद्रोह करती है। धर्म शास्त्र पर भी प्रश्न चिन्ह लगते हुए दीप्ति कहती है “क्या धर्म है? क्या अधर्म इसको तय करने में पत्नी के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती? बस तय कर दीये गये धर्म का पालन करने के लिए ही बताते हैं, आपके एकतरफा शास्त्र?”³ मुक्ति आकांक्षी दीप्ति पति को छोड़ स्वालंबी होने के लिए नौकरी करने का निर्णय लेती है तब पति का अहंकार सामने आता है और वो दीप्ति को नीचा दिखाते हुए कहता है कि तुम्हें कौन नौकरी देगा और फिर वो दीप्ति को केवल शरीर होने का आभास करवाते हुए कहता है कि “वैसे यार तुम हो बड़ी खूबसूरत इस वजह से कोई नौकरी.....।”⁴ आखिर में

¹ <http://youtu.be/U3dFs4XVgnU> , <https://youtu.be/jMKiGSJPTIs> , https://youtu.be/RtQihR3oR_k

² सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 207.

³ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 207.

⁴ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 210.

दीप्ति सब बंधन को पूर्णाहुति दे मुक्ति की चाह में अकेले सफर पर बिना किसी दुख और भय के निकाल जाती है।

हमेशा से प्रत्येक स्त्री की यह इच्छा होती है कि वो अपनी जिंदगी अपनी शर्तों पर जिए बिना किसी रोक-टोक के अपनी मर्जी के अनुसार खुलकर जीवन व्यतीत करें। वो पिंजरे से निकाल कर मुक्त हवा में सांस लेने की इच्छुक होती हैं। पिंजरे से तो स्त्री निकल जाती है पर उसके बाद सीधा नर्क में पहुँच जाती है यह ही स्त्री की जीवन गाथा है। घर की देहरी पार करते ही पुरुषों द्वारा उसकी देह का एक्सरे होने लगता है। उसे प्रत्येक वर्ग के पुरुषों से हमबिस्तर होने के प्रस्ताव मिलने लगते हैं। ‘कयामत का दिन उर्फ कब्र से बाहर’ कहानी की कथावस्तु मुक्ति की आकांक्षी स्त्री सुनीता नागपाल की कहानी है जो प्रतिष्ठित परिवार की बहू है। उच्च वर्ग की स्त्रियों को भी मुक्ति कहाँ मिलती है वहाँ स्त्रियाँ सोने के पिंजरे में डाल दी जाती हैं। स्त्री को मनुष्य कहीं नहीं समझी जाता। सुनीता नागपाल एक दिन अपनी इच्छानुसार जीने के लिए घर से भाग जाती है और बाद में उसके साथ समाज में जैसा व्यवहार होता है उसका चित्रण कहानी में इतना उम्दा है कि कहानी को अलग ही स्तर पर ले जाता है। “यह सब अपनी-अपनी कब्रों में सोयी हुई औरतें हैं- सदियों से अपने से बेखबर, अनपढ़, पत्थर, किसी ने पूजना चाहा, पूज लिया। किसी ने हरना चाहा, हर लिया, किसी ने बेचना चाहा, बेच लिया, किसी ने पटाना चाहा, पटा लिया, जो भी ‘मेकर’ होना चाहता है, हो सकता है। ‘मल्टी परपज’ जिस्म लिये वह हर हाल में खुश है। तकलीफ सिर्फ तभी होती है, जब वह अपनी कब्र से जग जाती है।”¹ स्त्री को अपने जीवन से संबंधी किसी भी निर्णय को लेने का अधिकार नहीं मिलता चाहे वो स्त्री किसी भी वर्ग से संबंध रखती हो। कब्र से बाहर निकलकर अपने लिए एक दिन जीने की इच्छा रखना भी स्त्रियों को मुहैया नहीं है। हारकर स्त्री वापिस घसीटकर उसी पिंजरे में डाल दी जाती है।

¹ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 213-214.

‘मैं निशा नहीं’ कहानी एक महत्वपूर्ण मुद्दे को सामने रखती है जो स्त्री की अपनी पहचान, उसके अस्तित्व से जुड़े प्रश्नों को रहस्यमयी रूप में सामने रखती है। यह माधवी नाम की एक औरत की कहानी है जिसको हर कोई निशा नाम से संबोधित करता है। कोई भी उसको पहचानता नहीं है। उसके मित्र हो या कामवाली हर कोई उसको निशा नाम से बुलाते हैं। यहाँ तक की बैंक में माधवी का अकाउंट नंबर भी किसी निशा नाम की लड़की के नाम होता है। पूरी कहानी में माधवी की मनःस्थिति बहुत क्षीण होती चली जाती है, जब-जब उसको निशा नाम का सम्बोधन सुनने को मिलता है। वह व्याकुल हो चीखती है ‘मैं निशा नहीं हूँ’ पर हर कोई बार-बार उसे निशा नाम से ही संबोधित कर रहा है। अंत में रहस्य से पर्दा उठता है कि माधवी यह एक सपना देख रही थी क्योंकि प्रेमी ने उसे शादी से पहले अपना नाम बदलने के लिए कहा था इसी मानसिक तनाव के चलते माधवी ने ऐसा सपना देखा। स्त्रियों को उसकी पहचान जिसके साथ वो अभी तक जीती आई है, क्यों उसको बदलने के लिए मजबूर किया जाता है? स्त्री की अस्मिता, उसके अस्तित्व से जुड़े सवालों को कहानी के माध्यम से उठाया गया है जो सवाल आज भी हमारे सामने मुंह ताके खड़े हैं।

औरत उत्तरकथा विशेषांक में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों पर केन्द्रित कविताओं का भी अपना अन्यतम स्थान है। जिसमें कवयित्री अनामिका ने ‘मुक्ति’ नाम की कविता से स्त्री के जीवन में मुक्ति के महत्व को बताया है। कवयित्री को सबके पास अलग-अलग रूप में मुक्ति दिखाई देती है परंतु उसे अपनी मुक्ति कहीं नज़र नहीं आती। ऐसी ही मुक्ति की चाह समाज की प्रत्येक स्त्री रखती है। केदारनाथ सिंह की ‘नमक’ कविता में गृहस्थ जीवन की त्रासदी को चित्रित किया गया है। घर में अशांत माहौल रहता है, जिसमें किसी भी छोटी-छोटी बात पर पति युद्ध करने को आतुर है। घर में स्त्री की स्थिति दरकिनार है। दाल में नमक कम होना ही उस माहौल को इतना गंभीर बना देता है। दाल में नमक कम हो तो उसे सही किया जा सकता है परंतु गृहस्थी के तनावग्रस्त वातावरण में जो जहर घुलता जा रहा है उसे कैसे समाप्त किया जाए? बच्चों पर इन घटनाओं का दुष्प्रभाव पड़ता है। स्त्री

की स्थिति बिल्कुल हाशिएकृत है। इस परिस्थिति को केदारनाथ जी ने कविता के माध्यम से दर्शाया है। ज्योत्स्ना चौधरी ने 'स्त्री की फिराक में' कविता के माध्यम से स्त्री जीवन की संघर्ष यात्रा को वर्णित किया है। जिसमें पुरुष स्त्री पर पूर्णतः वर्चस्व स्थापित करता है। वह रोज स्त्री की देह से खेलता है। उसे केवल प्रजनन मशीन मानता है। वह उन स्त्रियों को नापसंद करता है जो शारीरिक रूप से कुरूप होती जाती हैं। जिसका शरीर ढीला, वक्ष ढीले पड़ गए हो। पुरुष स्त्रियों को समर्थ नहीं बनने देता ताकि पुरुष सत्ता केंद्र में ही रहे। वे रोज स्त्रियों की योजनाओं और उम्मीदों को धराशाही कर देते हैं। वे स्त्री को केवल देह मानकर उनकी जांघों के बीच इतिहास रचकर बहुत गौरवान्वित महसूस करते हैं। पुरुषों द्वारा स्त्री को देह तक सीमित करना उनको समर्थ न बनने देने की कहानी को चुनौती देना इस कविता के मूल में है। स्त्री के जीवन में अठारहवां साल बालपन से थोपी गयी जकड़न को और अधिक कंस देता है। स्त्रियाँ माँ-बाप की चिंता का विषय बन जाती है। माँ द्वारा हर बात पर उसे हिदायतें मिलने लगती है। क्या और कैसे खाना है, क्या कपड़े पहनने हैं, किस किस से बात करनी है। लड़की के मुँह पर ताला लगा दिया जाता है या मुँह पर लगी कंटीली तारें उसे कुछ बोलने ही नहीं देती। हम उम्र भाई के साथ तक सोने से मना कर दिया जाता है। स्त्री ऐसी स्थिति से कहीं दूर भाग जाना चाहती है क्योंकि हर कोई उससे किसी न किसी बात को लेकर सवाल पर सवाल करता रहता है। अठारहवें वर्ष में स्त्रियाँ अतिरिक्त गुलामी के बंधन में बांध दी जाती हैं, जिससे वो स्वाभाविक जीवन नहीं जी सकती, इन स्त्री मुक्ति में बाधक नियमों को अनामिका शिव ने अपनी कविता 'अठारहवां साल' में चित्रित किया है, इन बंधनों से मुक्ति ही वास्तविक स्त्री मुक्ति है।

‘उसकी अपनी बात’ कॉलम में स्त्री मुक्ति पर केन्द्रित अत्यंत सारगर्भित लेख हैं। मैनेजर पांडेय जी के ‘अश्लीलता के बहाने नारी के प्रश्न पर विचार’ लेख के माध्यम से अनेक प्रश्न हमारे सामने आते हैं जैसे समाज में जो चीज़ स्वीकार्य है साहित्य में उसको अश्लील क्यों बना दिया जाता है? जैसे बलात्कार जैसे अपराध से समाज में उतना हँगामा नहीं होता जितना साहित्य में इसको

अश्लील मानकर आलोचना की जाती है। “साहित्य में अश्लीलता पर विचार करते समय उसे सामाजिक जीवन में मौजूद अश्लीलता से जोड़कर न देखना एक दोहरे मानदंड और पाखंड का प्रमाण होगा।”¹

धर्म में भी जिस चीज़ को श्लील माना जाता है उसे साहित्य में अश्लील घोषित कर दिया जाता है तथा सामाजिक नैतिकता के हनन के आरोप लगाकर ‘फतवा’ जारी कर दिया जाता है। साहित्य हो या समाज पुरुषों को सब कुछ करने की स्वतन्त्रता होती है परंतु स्त्रियों को केवल वही करने की इजाज़त होती है जो पुरुष वर्ग उनके लिए निर्धारित करता आया है। महादेवी वर्मा ने ‘शृंखला की कड़ियों’ में लिखा है कि “बड़े से बड़ा दुराचारी व्यक्ति भी परम सती स्त्री का न केवल आलोचक ही बल्कि न्यायकर्ता भी होता है। दूसरी तरफ वही दुराचारी व्यक्ति दुराचार के कारण धर्म से लेकर राजनीति में ऊंचे से ऊंचे पद तक पहुँचने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता है लेकिन किसी स्त्री के आचार के बारे में संदेह मात्र प्रकट करने पर धर्म या राजनीति तो क्या उसका घर में रहना हराम हो जाता है।” ‘हंस’ पर भी कई बार अश्लील साहित्य को लेकर आरोप लगे क्योंकि ‘हंस’ समाज का कुरूप चेहरा सामने लाता रहा। पांडेय जी ने ‘हंस’ का इस आलोचना से बचाव किया है। स्त्री को केवल प्रजनन की वस्तु मानना, स्त्री की स्वतंत्र कामेच्छा का अवमूल्यन, विवाह में स्त्रियों को गौरवान्वित, मर्यादित पत्नी बने रहने की हिदायतें, स्त्रियों को दिये जाने वाले आशीर्वाद जो मूलतः पुरुषों के लिए होते हैं सौभाग्यवती भव, चिरंजीवी, स्त्रियों का पुरुषों के लिए शृंगार सिंदूर, मंगलसूत्र इन सभी प्रकार के बंधनों पर मैनेजर पांडेय जी ने अपने इस लेख में कटाक्ष किया है। समाज में जितनी गालियां बनी हैं वो स्त्रियों के लिए ही हैं। जो दी तो पुरुषों को जाती है परंतु इन गालियों के मूल में स्त्री को ही अपमानित किया जाता है। समाज की इस धारणा को कि स्त्री पुरुष के बिना निरर्थक है। उसका अस्तित्व तभी माना जाएगा जब उसे पुरुष संरक्षण प्राप्त हो अन्यथा वह खोखली और व्यर्थ होती हैं। यह धारणा समाज की संकीर्ण मानसिकता का परिचायक है।

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 28.

उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्री पराधीनता के शिकंजे को और मजबूत किया। ‘त्वचा में और उसके परे’ लेख में राजकिशोर ने माना है कि अपनी मुक्ति के लिए स्त्रियों को अपने शरीर पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है तभी वह त्वचा के माध्यम से ही उससे आगे बढ़ अनेकानेक संघर्षों से मुठभेड़ कर सकती हैं। स्वानुभूति और सहानुभूति के प्रश्न को राजकिशोर ने ये कहते हुए उठाया है कि “सच्चाई यह है कि पुरुष लेखक कितनी भी संवेदनशीलता दिखाये, वह स्त्री का अपना वृत्तांत नहीं लिख सकता। स्त्री के पक्ष में लेखन पुरुष का आदर्शवाद है। जबकि अपने पक्ष में स्त्री का लेखन उसका यथार्थवाद है।”¹ स्त्रियों को साहित्य लिखने के लिए न तो वैसी सामाजिक स्वीकृति मिलती थी ना उन्हें लिखने के लिए अनुकूल वातावरण ही प्राप्त होता था। वर्जीनिया वुल्फ़ ने एक काल्पनिक स्थिति के माध्यम से समाज के दोहरे मानदंडों को सामने रखा है। वुल्फ़ कल्पना करती हैं कि यदि शेक्सपियर की बहन होती जो प्रतिभा में उनकी ही तरह निपुण होती तब क्या उस लड़की को भी ऐसा माहौल मिलता? क्या उनके शिक्षा, लेखन को उतना ही प्रोत्साहन और स्वीकृति मिलती? “शेक्सपियर ने स्कूली शिक्षा प्राप्त की, पर उसकी बहन को स्कूल नहीं भेजा जाता। वह कभी कोई किताब उठा लेती शायद अपने भाई की ही, तो उसके माँ-बाप उसको डांट देते कि किताब छोड़ो-मोजों की मरम्मत करो। अगर वह कुछ लिखती भी, तो उसे छिपाकर रखना पड़ता।”²

‘ऐसा जो मर्द नहीं लिख सकते’ लेख में सुधीश पचौरी ने स्त्री मुक्ति के लिए आवश्यक तथ्यों को सामने रखा है। विज्ञापन से स्त्री के जीवन में कितना बदलाव आया। पूंजीवाद ने कैसे स्त्री को चौके और बाथरूम से निकाल कर बाज़ार में ला खड़ा किया? सुधीश पचौरी ने निजानुभावों की अभिव्यक्ति पर ज़ोर दिया है। मर्द स्त्री को केवल पवित्र योनि मानते आए हैं इस धारणा को प्रश्नांकित किया जाना अत्यंत आवश्यक है। आलोचना के क्षेत्र में स्त्रियों का नितांत अभाव देखने को मिलता है जिस स्थिति में बदलाव की दरकार समाज को है। पुरुष समाज इस बात से वाकिफ़ है

¹ सं. राजेन्द्र यादव हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 31.

² सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 32.

और बिना आपत्ति के मान भी लेते हैं कि स्त्रियों के अपने विशिष्ट अनुभव होते हैं परंतु जब स्त्रियों पर उनके द्वारा कसा शिकंजा कमजोर पड़ने लगे या यूँ कहें कि स्त्रियाँ मुखर हो अपनी बात अपने विचार को सशक्त रूप में रखने लगे तो वे स्त्रियाँ पुरुषों की नज़र में खटकने लगती हैं क्योंकि पुरुष कभी नहीं चाहता कि स्त्री उनकी जकड़ से कभी मुक्त हो सके। ‘बाहर और भीतर की दुनिया’ लेख में प्रभा खेतान ने स्त्री को माँ के गर्भ से मिली अस्वीकृति, तकनीकी जांच के द्वारा कन्या भ्रूण हत्या, वंश परंपरा को पोषित करती परंपराएं जैसे आवश्यक मुद्दों पर कलम चलाई है। पहले से ही धर्म के सहारे पितृसत्ता खुद को मजबूत और स्त्रियों को नियंत्रित करती आई है और अब विज्ञान और तकनीक के द्वारा स्त्री से जन्म भी लेने का अधिकार छीन लिया जाता है। पुरुष स्त्री को नियंत्रित इसलिए रखता है क्योंकि दरअसल वह स्त्री की शक्ति से भयभीत रहता है। स्त्री को देवी स्वरूपा बनाया जाता है, पर देव समाज में भी स्त्री की स्थिति अधीनस्थ ही थी। तसलीमा नसरीन, मेधा पाटकर, किरण बेदी, फूलन देवी जैसे कुछ उदाहरणों से स्त्री की स्थिति में बदलाव नहीं आएगा। समाज की प्रत्येक स्त्री को अपने अस्तित्व की लड़ाई के लिए स्वयं संघर्ष करना है। स्त्रीसुलभ गुणों को स्त्रियाँ ही अपनाने में संकोच करती हैं। अक्सर सुनने को मिलता है कि ‘क्या लड़कियों जैसी बात कर रही हो’ लड़की होकर पुरुष मूल्यों को क्यों अपनाना? और ये किसने तय किया कि पुरुष मूल्य स्त्रियों से श्रेष्ठ हैं? मेधा पाटकर भी ऐसा ही कहती हैं “ वे औरतों के पचड़े से दूर रहना चाहती हैं। बहुतेरी स्त्रियाँ ऐसा ही कहेंगी। क्या यह अपने स्वरूप को भूलने की प्रक्रिया नहीं है?..... अपना स्वरूप भी तो हम अन्य हजारों-लाखों स्त्रियों के माध्यम से ही स्वीकारते और समझते हैं।”¹ उपभोक्तावादी संस्कृति को भी प्रभा खेतान स्त्री मुक्ति की राह में बाधक मानती हैं। स्त्री मुक्ति का प्रश्न इसलिए कमजोर है क्योंकि स्त्रियों ने स्वयं उपभोक्तावादी संस्कृति को आत्मसात कर रखा है।

‘और मत रखो अंधेरे में, देखने दो मुझे’ इस लेख में स्त्री मुक्ति के लिए तसलीमा नसरीन ऐसे स्वच्छंद, बेखौफ वातावरण की तलाश में हैं, जहां स्त्री बिना किसी भय के, किसी भी समय घूमने

¹ सं. राजेन्द्र यादव, हंस, अंक- नवम्बर-दिसंबर 1994 पृष्ठ सं. 71.

निकल सकें। ना उस पर समय का बंधन हो और, ना उसका पीछा करती कोई कुत्सित निगाह। स्वच्छंद नारी को समाज में अवमानना का शिकार भी होना पड़ता है। उसको वेश्या तक मान लिया जाता है। स्त्री जब बलात्कार, अपहरण, हत्या, धोखेधड़ी जैसे हादसों के भय से मुक्त हो समाज में बेखौफ निकल सकेंगी तभी वास्तविक मुक्ति को प्राप्त कर सकती हैं। स्त्री को पक्षी की तरह कैद में रखा जाता है और स्त्री खुले वातावरण में जीने के आनंद से वंचित रह जाती हैं। स्त्री को शारीरिक रूप में कमजोर साबित कर उसको समाज में कमतर आँका जाता है। शृंगारिक प्रसाधन स्त्रियाँ केवल पुरुषों को लुभाने के लिए उपयोग करती हैं ऐसी भ्रांति समाज में फैली हुई है। चाहे स्त्री किसी भी देश, वर्ग जाति से जुड़ी क्यों न हो। शोषण सहने के लिए हर दिन हर कदम पर अभिशप्त हैं।

औरत-उत्तरकथा : अंक-2

औरत उत्तरकथा : अंक 2 जनवरी 1995 का अंक है। इस अंक से भी स्त्री मुक्ति के स्वर्णों स्वर की गूंज समाज में फैलती नज़र आती है। औरत उत्तरकथा विशेषांकों के दोनों अंकों में संकलित संपादकीय, कहानियाँ, लेखों, कविताओं में ऐसे अनेक सवाल, समस्याओं को मुद्दा बनाया गया है जिसके निवारण से स्त्री मुक्ति की राह को नयी दिशा प्राप्त हुई। स्त्री मुक्ति संघर्ष के क्रम में इन अंकों का अध्ययन और हंस का महत्व तब और भी बढ़ जाता है जब वर्तमान समय में भी ये लेख, कहानियाँ, कविताएं उतने ही प्रासंगिक साबित होते हैं। मेरी तेरी उसकी बात जो राजेन्द्र यादव का संपादकीय कॉलम है। इस कॉलम में इस अंक के लिए उन्होंने 'विकल्पों से कौन डरता है.....' नाम से अपना संपादकीय लिखा। 'हंस' ने नयी प्रतिभाओं को प्रोत्साहित कर उन्हें एक मंच प्रदान किया। 'हंस' के माध्यम से नव युवकों में नयी संभावनाओं की तलाश की गयी। लेखिकाओं को भी 'हंस' में पर्याप्त स्थान मिलता है जो उन्हें लिखने तथा अपने अनुभवों को रचनात्मक स्वरूप प्रदान करने को प्रेरित करता है। "हंस ने यौवन और ऊर्जा के लिए युवा और संभावनाओं वाली अनजान प्रतिभाओं को अपना केंद्र बनाया है। सही है कि वहाँ सिद्ध रचनाकारों जैसी तराश, कलात्मक सिद्धि, अनुभव का आत्म-विश्वास, अभिव्यक्ति की बारीकियाँ दूर तक मार करने वाली सांकेतिकता और भाषा की नवोन्मेषी भंगिमाएं इत्यादि नहीं हैं। मगर जो चीज़ वहाँ सबसे ऊपर रही है वह है ऊर्जा और आगा।"¹ औरत उत्तरकथा अंक 2 में दो लघु कथाएं हैं। इन दोनों ही लघुकथाओं में समाज की स्त्रियों के प्रति जो कुत्सित मानसिकता है जिससे स्त्रियाँ हर क्षण असहज महसूस करती हैं, का बेहद सटीक चित्रण हुआ है। 'जहां से हम देखते हैं' रघुनंदन त्रिवेदी की मात्र दो पंक्तियों की कथा है परंतु इससे निकालने वाले अर्थ का विस्तार ही विस्तार है।

¹ सं. राजेन्द्र यादव, 'हंस', अंक- जनवरी 1995 पृष्ठ सं 4.

“अगर कुछ बनना ही है तो मैं मेधा पाटकर बनना चाहूंगी” एक ने कहा

क्यों, क्या वह सुष्मिता सेन से भी ज्यादा खूबसूरत है?” दूसरी ने पूछा”।

समाज की विकृत मानसिकता पर यह जोरदार कटाक्ष है कि औरत केवल उसकी सुंदरता से ही महान बन सकती है और इस मानसिकता से न केवल पुरुषों का बल्कि स्त्रियों का भी सामाजिक अनुकूलन किया जा चुका है। मेधा पाटकर हो या फूलन देवी इन जैसी वैचारिक रूप से सक्रिय और प्रतिरोध करती स्त्रियाँ को समाज स्वीकार नहीं करता। स्त्री की गुणवत्ता का पैमाना उसके शरीर को निर्धारित कर दिया जाता है। ‘छुटकारा’ रामनारायण उपाध्याय की लघुकथा है जिसमें बताया गया है कि समाज में स्त्रियाँ कितनी असुरक्षित हैं। स्त्रियों को अपनी आत्मरक्षा के लिए हमेशा तत्पर रहना पड़ता है। हमारे समाज के उस यथार्थ को यह लघुकथा सामने रखती है जिसमें स्त्रियाँ जंगली जानवर से तो मुठभेड़ कर अपना बचाव फिर भी कर सकती हैं परंतु पुरुष वर्ग पर वह बिल्कुल विश्वास करने का साहस नहीं जुटा पाती। पुरुषों की पाशविक वृत्ति से स्त्री हमेशा आतंकित रहती है।

नवरंग जायसवाल की कहानी ‘तुम अपना बयान जारी रखो’ स्त्री संवेदना की एक उत्कृष्ट कहानी है। कहानी की शुरुआत एक लड़की पर लगे उन आरोपों से होती है जो बेहद असामाजिक हैं। बताया जा रहा है कि वह लड़की नग्न प्रदर्शन करती है। नग्न फोटोग्राफ, वीडियो जैसे अनैतिक कार्यों में संलग्न है, इस जुर्म के कारण उसकी गिरफ्तारी हुई है। लड़की अपनी इस स्थिति के पीछे की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए कहती है कि यह नग्नता उसने स्वयं नहीं अपनाई है। समाज द्वारा समय समय पर उसे दी गयी है। समाज ने कई दफा उसको तमाशबीन बनाया है, उसे भरे बाज़ार में, बीच सड़क पर एक बार नहीं कई बार नंगा किया है। समाज अनेक धर्मों, जातियों में विभाजित है। एक पक्ष को यदि दूसरे धर्म या जाति से बदला लेना होता है तब वे उस पक्ष की स्त्रियों को ही लक्ष्य बनाते हैं। वे स्त्रियों का बलात्कार करते हैं और अपने धर्म को चिन्ह स्त्री के शरीर पर अंकित भी कर देते हैं। “हिन्दू लड़की है, बदला लो” मुझे घेरकर नंगा कर दिया और अपने मजहब की जीत की

यादगार में मेरी छाती पर चाँद-सितारे गोद दिए।”¹ स्त्रियों को यह भी कहा जाता है कि इन बातों को अधिक तूल नहीं देना चाहिए क्योंकि यह आम बात है और इसे बढ़ाने से समाज की इज्जत को नुकसान होगा। “इस घटना को अधिक तूल नहीं दिया जाए। इससे नगर की इज्जत को बढ़ा लगेगा। कितनी लड़कियों के साथ बलात्कार होता है, पर परिवार वाले उस पर पर्दा डाल देते हैं, परिवार की इज्जत बचाने के लिए, फिर नगर की इज्जत के सामने एक लड़की की इज्जत की क्या कीमत?”² यदि स्त्री अपने खिलाफ हुए दुष्कर्मों की शिकायत करने थाने जाती है तो पुलिसकर्मी भी उसके नंगेपन को ही देखते हैं। हमारे समाज में बलात्कार जैसे जघन्य अपराध के लिए कानून इतना पस्त है कि ये घटनाएँ इतनी आम हो गयी हैं। दशकों तक मामलों में कोई न्याय नहीं मिल पाता। इस कालावधि में स्त्री को रोज मानसिक रूप से भी बलात्कृत किया जाता है। स्त्रियों को जबरन नग्नता के दलदल में झोंक दिया जाता है। कहानी में कई बार द्रौपदी को समाज नंगा करता है। इसलिए वह अंत में खुद नंग अवस्था में आ जाती है और कोर्ट में अपना नाम दिगंबरता बताती है। वह कहती है कि पाँच लड़कों द्वारा जो प्रतिष्ठित परिवार से आते हैं उन्होंने उसे बीच रास्ते पर नंगा किया और उन्हें अब जमानत भी मिल चुकी है। “मैं द्रौपदी ही हूँ, पर अब द्रौपदी की रक्षा करने वाला कृष्ण नहीं है। भीष्म, द्रोण, विदुर, धृतराष्ट्र तब भी चुप थे और आज भी चुप हैं। शिव मर चुका है और शिव के शव पर अब दिगंबरता महाकाली के प्रादुर्भाव को रोका नहीं जा सकता। इसलिए अब मुझे वस्त्र नहीं, अस्त्र और शस्त्र चाहिए। मैं दिगंबरता हूँ।”³

‘अंधेरी सुरंग का मुहाना’ यह कहानी स्त्री के साथ होने वाली यौन हिंसा तथा उसके बाद स्त्री द्वारा झेली जाने वाली प्रताड़ना की गाथा है। जिसमें बलात्कृत लड़की को मुंह बंद रखने की सलाह दी जाती है। परिवार द्वारा इज्जत नीलाम हो जाने का भय जताया जाता है। यह कहानी उन तमाम लड़कियों के लिए संबल साबित होती है जो अपने साथ हुए ऐसे अपराध के खिलाफ

¹ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’, अंक- जनवरी 1995 पृष्ठ सं 16.

² सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’, अंक- जनवरी 1995 पृष्ठ सं.17.

³ सं. राजेन्द्र यादव, ‘हंस’ अंक- जनवरी 1995 पृष्ठ सं.21.

आवाज़ उठाने का साहस रखती हैं और न्याय पाने के लिए हर किसी से लड़ने को तैयार रहती हैं। पीड़िता के विवाह की चिंता माँ बाप को रहती है कि अब कौन इसका हाथ थामेगा। पीड़िता घरवालों के लिए बोझ बन जाती है। कहानी में जब अपराधी का अपराध लगभग साबित हो जाता और सज़ा भी नियत कर दी जाती है तब अपराधी के बचाव का एक नया उपाय निकाला जाता है कि उसकी शादी पीड़िता से करवा दी जाए। लड़की की माँ उसे समझाते हुए कहती है कि “भरद औरत के बीच यही सब हुआ करता है बिटिया.... पति तन से खेले तो गिरस्थी कोई दूसरा छुए तो इज्जत की माटी। अब इज्जत लूटने वाले से ही भांवरे फिर जायें तो काहे का पाप काहे का संताप, तेरे ही भले को कह रही हूँ बच्ची.....”¹

¹ सं. राजेन्द्र यादव , ‘हंस’, अंक- जनवरी 1995 पृष्ठ सं.49.

5.1.2 अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक

(अंक-1 जनवरी-फरवरी 2000, अंक-2 मार्च 2000)

‘अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य’ विशेषांक ‘हंस’ जनवरी-फरवरी 2000 तथा मार्च 2000 के दो खंडों में प्रकाशित विशेषांक हैं। इन विशेषांकों में अतीत होती सदी और स्त्री के भविष्य के संदर्भों को लिया गया है। बीती सदी में किन स्त्रियों की स्थिति में क्या-क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन आए? तथा किन-किन परिवर्तनों की दरकार अभी भी समाज के लिए अपेक्षित है? इन प्रश्नों को विशेषांकों के माध्यम से उठाया गया है तथा विशेषांक में संकलित स्त्री-मुक्ति की विशद सामग्री इन प्रश्नों को समाधान तक पहुँचाने की भी आवश्यक पहल करती है। विशेषांक के दोनों अंकों में प्रकाशित संपादकीय, कहानियाँ, लेखों, कविताओं में अनेक सवाल, समस्याओं, चुनौतियों के माध्यम से स्त्री मुक्ति की राह तलाश करने की कोशिश की गयी है। वर्तमान समय में भी ये लेख, कहानियाँ, कविताएं उतने ही प्रासंगिक हैं। अर्चना वर्मा अपने संपादकीय ‘स्त्री का भविष्य’ में लिखती हैं “अतीत सदी ने अपने आरंभ से ही आरंभ करके सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण, लगभग युगांतरधर्मी जो परिवर्तन घटित किया वह स्त्री की दशा में है। कौन-सी स्त्री की? मूल्य, मर्यादा, शील इत्यादि को लेकर अपने यहाँ सब टंटा मध्यवर्ग का ही है”¹ सदी के एक छोर पर श्रद्धाराम फिल्लौरी का ‘भाग्यवती’ उपन्यास है जो भाग्यवती स्त्री शिक्षा के पक्ष का एक आदर्श बन जाती है और सदी एक दूसरे छोर पर स्त्री की पराधीनता के प्रमाण समाज में बिखरे पड़े हैं- “आर्थिक आत्मनिर्भरता, व्यावसायिक उपलब्धियाँ, सूचना संचार माध्यमों पर स्त्री छवियों का आधिपत्य, सौंदर्य उद्योग का चमकीला संसार और स्वेच्छा से संबंधों का चुनाव, लेकिन यह पैमाने का अंतिम छोर है-विशिष्ट वर्ग की विशिष्ट स्त्री के लिए सुरक्षित”² स्त्रियों को किससे विद्रोह करना है और उसे किससे स्वाधीनता चाहिए? इस प्रश्न पर अर्चना वर्मा ने विचारों को अभिव्यक्त

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 4.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 5.

किया है। स्त्रियों की स्वेच्छा कहाँ है? उन्होंने स्वयं पितृसत्ता के नियमों, मूल्यों को स्वयं आत्मसात कर खुद को पराधीन बनाया। पितृसत्ता द्वारा निर्धारित मूल्यों के अनुसार ही स्त्रियाँ खुद को संचालित करती आई हैं। स्त्री को इस बात को समझना होगा कि उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति पर स्वयं लगाम लगाई है। स्त्री को अपने शरीर पर अपने अधिकार के निहितार्थ को समझना होगा क्योंकि पुरुष ने कभी स्त्री को अपनी ही देह के प्रति सहज नहीं होने दिया। अब सदी के अंत तक स्त्रियाँ जितनी सहज हुई हैं पहले नहीं थीं। अपने मासिक धर्म, अपने उन्मद रति भाव तथा अपने दैहिक ऐश्वर्य के विषय में स्त्री अब पहले से अधिक उन्नत विचार रखती हैं और इन विषयों पर बातचीत करने में काफी सहज हुई है। “यदि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही स्वाधीनता की कुंजी है तो जब तक स्त्री के पास देह है और संसार के पास पुरुष तब तक स्त्री को चिंता की क्या जरूरत? जरूरत है तो देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त करके अपने अधिकार में लेने की क्योंकि यौन शुचिता, पतिव्रत, सतीत्व जैसे मूल्य स्त्री के सम्मान का नहीं, पुरुष के अहंकार की दीनता और असुरक्षा का पैमाना है, पितृसत्ता के मूल्य है और स्त्री की बेड़ियाँ हैं।”¹ स्वाधीनता की स्त्रियों में ललक है, बैचेनी है परंतु उनमें हिम्मत का अभाव है। स्वाधीनता का चुनाव अपने साथ अकेलापन लेकर आया इस अकेलेपन की कल्पना मात्र से स्त्रियाँ भयभीत रहती हैं। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ सोचती हैं कि पढ़ने के बाद भी क्या अब हम घर संभालने, बच्चों की देखभाल के लिए, पति का बिस्तर गर्म करने के लिए समझी जाती रहेंगी?

मार्च 2000 अंक 2 के संपादकीय ‘स्वाधीनता का सवाल’ में अर्चना वर्मा ने समाज के कुछ उदाहरणों का जिक्र किया है जिनमें एक पिता (जिसकी पुत्री विवाहित है), अब उम्र के इस पड़ाव पर आकर पुत्र मोह के चलते तीसरी बार विवाह करता है, बांदा जिले में एक पिता अपनी ही ग्यारह साल की बच्ची के साथ यौन उत्पीड़न करता है। कहीं कोई स्त्री को सरे आम रंडी नाम से संबोधित कर रहा है। आखिर स्त्री को किससे मुक्ति चाहिए? “स्त्री की देह जितनी स्वयं स्त्री के लिए, उससे

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, , हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 5.

कई सौ गुनी ज्यादा बड़ी समस्या पुरुष के लिए है। बंधी क्योंकि स्त्री थी इसीलिए मुक्ति के सारे वरदान भी उसी के लिए ही है। तथाकथित शील और मर्यादा की दहलीज लांघ आने और पारंपरिकता के चंगुल से छूट निकालने के बाद आर्थिक स्वावलंबन की मदद से वह इस मानसिकता के निकट पहुँचती जा रही है कि स्वकीया से 'स्व' का अर्थ वह अस्मिता कर ले और नफ़ा नुकसान तोल कर परकीया होना ही चुने। पुरुष के लिए नहीं अपने लाभ के लिए! वह दिन भी शायद दूर न हो जब अर्थान्तर द्वारा वह 'रंडी' को स्वाधीनता सूचक, सम्मानजनक उपाधि में बदल ले। अगर यह खिताब उसे मिलना ही मिलना हो तो क्यों नहीं?"¹ पुरुष यह जान गया है कि वो स्त्री के आगे हर क्षण अपनी सभी दुर्बलताओं के साथ निर्वस्त्र है। उसे हर समय खुद को साबित करना पड़ता है। पुरुष स्वाधीनता को पितृसत्ता के रूप के प्राप्त विरासत मानने लगता है। यह सोच सम्पूर्ण समाज के लिए अहितकर होती है। भारतीय स्त्री की यही अभिलाषा है कि उसे संबंधों में मुक्ति चाहिए संबंधों से नहीं, पुरुष से मुक्ति नहीं बल्कि पुरुष की मुक्ति चाहिए जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे की मुक्ति का सम्मान करें ताकि पुरुष वर्चस्व से स्त्री दमित और शोषित न हो।

इन विशेषांकों को 2001 में 'अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य' शीर्षक से ही पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया गया। विशेषांक के दोनों अंकों में जिन-जिन लेखिकाओं के आत्मवृत्त संगृहीत किए गए हैं, सभी ने बीती सदी के दौरान स्त्रियों के जीवन की जद्दोजहद तथा पितृसत्ता की स्त्री को गुलाम रखने की प्रवृत्ति को बेपर्दा किया है। इन लेखिकाओं के जीवन की घटनाएँ समाज की अनेक स्त्रियों की अनकही कहानी है, जिनको अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी। अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक 1 तथा 2 में जनम-पत्री, वंश-परंपरा, आत्मवृत्त कॉलम के अंतर्गत महिला आत्मकथाकारों की आत्मकथा के अंशों को प्रकाशित किया गया है। जन्मपत्री में मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' के आत्मकथान्श में मन्नू भंडारी ने अपने बचपन से लेकर विवाह तक की घटनाओं का जिक्र करते हुए यह बात सामने रखी है कि कैसे विवाह के बाद

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, , हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 5.

एक लेखिका के जीवन में परिवर्तन आता है? कैसे नई दुनिया में प्रवेश करते ही लिखना उसकी प्राथमिकता नहीं समझा गया और गृहस्थी का सारा दारोमदार लेखिका (जो अब केवल गृहणी बन कर रह जाती है) के ऊपर थोप दिया जाता है। मन्नू भंडारी जी के मामलों में तो जीवन साथी भी समरूचि रखने वाले थे। एक ही रूचि, पेशे वाले जोड़े का जीवन सामान्यतः सुगम समझा जाता है क्योंकि वहाँ एक दूसरे के काम और इच्छा के प्रति सम्मान की उम्मीद अपेक्षित होती ही है परंतु राजेन्द्र यादव की लेखकीय अनिवार्यता तथा मन्नू भंडारी की अपेक्षाओं के बीच गहरा अंतर था। मन्नू भंडारी लिखती हैं कि “राजेन्द्र ने तो लिखने के नाम पर अपने को सभी प्रकार की जिम्मेदारियों से एकदम मुक्त कर लिया। घर की कोई समस्या होती- आर्थिक या पारिवारिक उसे मेरी समस्या बताकर ये निश्चित रहते.... अपनी ही दुनिया में। अपने ही सरोकारों के साथ थोड़ी सी निश्चितता, थोड़ा सा लगाव और सरोकार भरा सहयोग, थोड़ा सा तनाव-मुक्त और बेफिक्री-भरा समय तो मुझे भी अपने लिए चाहिए ही था।”¹ स्त्री की नियति है कि उसकी पहली जिम्मेदारी उसका परिवार समझी जाती है उसका अस्तित्व बाद में आता है। मन्नू भंडारी के लिए यही नियति निर्धारित थी कि पहले परिवार बाद में लेखन जबकि राजेन्द्र यादव के लिए लेखन कार्य हमेशा प्राथमिकता पर रहा। औरत हमेशा ‘मेरे परिवार’ के लिए जीती है तथा पुरुष में “मैं” स्वर अधिक हावी रहता है।

मराठी से सुधा अरोड़ा द्वारा हिन्दी अनूदित ‘मेरे चार दुश्मन’ उर्मिला पवार की आत्मकथा है जिसमें उर्मिला ने चार पात्रों के माध्यम से अपनी कहानी बताई है। इन चार व्यक्तियों में इनके माता, पिता, भाई और शिक्षक हैं। पिछड़ी जाति के लोगों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार को भी पवार जी ने अपनी इस आत्मकथा में अभिव्यक्ति दी है। उनके बचपन की घटना जिसमें उन्होंने बताया है कि “बहुत देर इंतजार करने के बाद दरवाजा खुला और कोम्बाती (दलितों की एक निचली जाति) की लड़की उलगावा बाहर निकली। वह बेतरह डरी हुई थी और रो रही थी। ठीक उसके पीछे पुजारी

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं.22.

आया और बिना प्रसाद दिए हमें भगा दिया, पता नहीं क्यों, पर उस दिन के बाद से मुझे पुजारी से डर लगने लगा। उलगाव्वा रो क्यों रही थी?”¹ इस घटना की यदि आज के समाज से तुलना की जाए तो हमारे सामने स्थिति और अधिक वीभत्स रूप में सामने आती है। उर्मिला पवार की स्मृतियों में उलगाव्वा की घटना का विस्तार हमें 10 जनवरी 2018 के कटुआ बलात्कार और हत्याकांड² में देखने को मिलता है। जहां पीड़िता को अब ज़िंदा भी नहीं छोड़ा जाता।

‘शक्लों वाली ज़िंदगी: अकेली स्त्री का सच’ में जयंती ने अकेले जीवन व्यतीत करने का निर्णय लेने वाली स्त्रियों के जीवन की चुनौतियों को पाठकों के सम्मुख रखा है। जहां ऐसी स्त्रियों को प्रत्येक क्षण अपने इस निर्णय को प्रमाणित करना पड़ता है। इस प्रश्न के इर्द-गिर्द ही उनका जीवन घूमता है कि ‘तुम शादी कब कर रही हो? या तुमने अभी तक शादी क्यों नहीं की? जैसे शादी के बिना स्त्री का कोई अस्तित्व ही न हो। अपने इसी निर्णय को जयंती ने इस आत्मकथान्श में वाणी दी तथा इस निर्णय के साथ आई चुनौतियों को भी स्वीकारा है।

‘ऊपर टंगी लाश का आत्मकथ्य’ में स्नेहमयी चौधरी ने विफल दांपत्य जीवन का कटु सत्य तथा पुरुष का अपनी पत्नी पर इतना अधिकार माना जाता है कि पत्नी सांस तक भी पति की आज्ञा के बाद लें। क्या ऐसे दांपत्य जीवन को ढोना चाहिए जहां पत्नी को गुलाम समझा जाता हो? “निरंतर जड़ होती मैं जब भी अपनी ही जीवनी से उठ खड़ी होती- उसका जीवन असह्य हो जाता। वह साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनाकर जब तक मुझे बिलबिलाता हुआ बच्चा न बना डालता, उसे चैन कहाँ। सदा अपनी कहने को आतुर, दूसरे को मौन करने का कार्य करता हुआ वह, निर्द्वंद रूप से, समाज में यह दिखाता, मैं तो सब ठीक ही करता हूँ। ठीक कहता हूँ और ठीक हूँ। उसी को तर्क-संगत मूल्य मानो। केवल तर्क! तर्क! तर्क! उसके लिए मुझे प्रताड़ित करने का एक

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, , हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 25.

² <https://www.bbc.com/hindi/india-43741075>.

औजार था। शारीरिक प्रताड़ना से बढ़कर यह प्रताड़ना कि लगातार उसके मुंह से झरते वाक्यों को ही सही मानो, उचित मानो।”¹

वंश-परंपरा के अंतर्गत मैत्रेयी पुष्पा की ‘कस्तूरी कुंडल बसै’, मेरी रॉय की ‘पीढ़ी-दर-पीढ़ी’, नवनीता देवसेन की ‘पंखो तले की हवा’ के अंतर्गत तीनों लेखिकाओं ने अपने जीवन के साथ-साथ अपनी माताओं की जिंदगी के पहलुओं को भी सामने रखा है जिससे स्त्री की त्रासद स्थिति का अनुमान होता है कि स्त्री प्रत्येक दौर में शोषित ही रही हैं। मैत्रेयी पुष्पा ने बचपन में अपने साथ हुए कुछ अप्रिय प्रसंगों को भी लिखा जो उस समय वे अपनी माँ तक से कहने में असमर्थ थीं। “एक दिन वह तब आया, जब भाभी भी नहीं थी। उसकी हरकत संयोजिका के लड़के की हरकत से मिलती-जुलती आगे और आगे गयी। मैत्रेयी हांफती हुई देर रात तक घर के दरवाजे पर खड़ी रही थी, वह बुलाता रहा, बुलाता रहा, फिर चला गया। घर में वह नहीं था, फिर भी घर से डर लग रहा था।”² आज भी घर परिवार में ही कितने ऐसे लोग होते हैं जो स्त्रियों का, खासकर छोटी बच्चियों के साथ यौन हिंसा करते हैं तथा वे मासूम बच्चियाँ किसी से कुछ भी कहने में असमर्थ रहती हैं। बचपन के इस आंतरिक घाव जिसे केवल उसने अकेले महसूस किया है, इस यौन हिंसा की टीस ताउम्र बच्चियों के जेहन में रहती है। बाद में भले ही स्त्रियों में ग्लानिबोध भी पैदा हो कि क्यों हमने उस समय अपनी माँ से कुछ क्यों नहीं कहा परंतु इसके पीछे भी सामाजिक पेचीदगियाँ ही हैं जो बच्चों को ऐसा माहौल ही नहीं देती कि वो यौन शिक्षा प्राप्त करें और अपने स्वयं के साथ हुए यौन शोषण के लेकर अपने माता-पिता से कुछ भी कह सकें। समाज को जरूरत है कि शुरुआत से ही अपनी बेटियों में इस बात की समझ पैदा की जाए, कि कौन सा स्पर्श बच्चियों के लिए अपनों द्वारा प्यार, दुलार देने के लिए है तथा कौन सा स्पर्श विकृत मानसिकता की आड़ में किया जा रहा है। माता-पिता का बच्चों से ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि बच्चे बेझिजक अपनी समस्याओं को सामने ला सकें।

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 32.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 204.

‘पीढ़ी दर पीढ़ी’ मेरी रॉय ने अपने जीवन के उतार चढ़ाव जिसमें उन्होंने माँ के साथ हुई घरेलू हिंसा को सामने रखा तथा अपने दांपत्य जीवन की कहानी भी कही जिसकी परिणति अलगाव के रूप में हुई। दो बच्चों के साथ आगे का जीवन व्यतीत करने के लिए मेरी रॉय ने संघर्ष किया तथा अपने पिता की संपत्ति में अपने अधिकार की लड़ाई लड़ी। एक तो अकेली औरतों का जीवन कितना दारुण होता है इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। बच्चों की ज़िम्मेदारी को तो वह बखूबी निभा लेती है परंतु समाज हर पल उसको नीचा दिखाने की हर भरसक कोशिश करता है। “इस्तेमाल की गई औरतें- इनके मर्दों ने पान की तरह चबाकर थूक दिया इन्हें”¹ मेरी रॉय की बेटी अरुंधति रॉय भी अपने विचारों से क्रांतिकारी हैं तथा मेरी रॉय ने पीढ़ी दर पीढ़ी के माध्यम से तीन पीढ़ियों की स्त्रियों के जीवन को अपनी इस आत्मकथा में अंग्रेजी में लिखा जिसे हिंदी में रंजना श्रीवास्तव ने अनूदित किया।

‘पंखों तले की हवा’ नवनीता देवसेन का आत्मवृत्त है जिसे अंग्रेजी से हिंदी में प्रभा दीक्षित ने अनुवादित किया है। नवनीता देवसेन ने अपनी नानी, माँ के जीवन से गुजरते हुए अपने जीवन के संघर्षों को ‘पंखो तले की हवा’ में पूरी निष्पक्षता से साथ सामने रखा है। अमर्त्य सेन के साथ अपने दांपत्य जीवन तथा अलगाव को भी नवनीता देवसेन ने मुखरित किया है।

विशेषांक के दूसरे अंक के आत्मवृत्त स्तम्भ में अंग्रेजी के तीन आत्मवृत्तों के अंशों को प्रकाशित किया गया है जिनका अनुवाद सुधा अरोड़ा द्वारा किया गया है। ‘तीन इंच के स्वर्ण फूल’ में युंग चांग ने तथा झरते हुए पत्ते: एक अनचाही चीनी बेटी की सच्ची कहानी में एडेलीन येन माह ने चीनी समाज में व्याप्त एक कुप्रथा को ‘वाइल्ड स्वान्स’(युंग चांग) तथा फ़ालिंग लीव्स-द मेमोयर्स ऑफ़ एन अनवांटेड चाइनीज डॉक्टर’(एडेलीन येन माह) आत्मकथा के माध्यम से व्यक्त किया है। युंग चांग की आत्मकथा के पहले अध्याय ‘थ्री इंच गोल्डेन लिलीज़’ के अनूदित पाठ को इस अंक का हिस्सा बनाया गया है जो ‘तीन इंच के स्वर्ण फूल’ नाम से प्रसिद्ध है। इस परंपरा

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 213.

के अंतर्गत¹ चीन की महिलाओं के पैरों को कस कर बांध दिया जाता था ताकि महिलाओं के पैर छोटे रहे इसके लिए कई औजारों का इस्तेमाल किया जाता था तथा महिलाओं को उनके पैर के नाप से छोटे जूते पहनने पड़ते थे। छोटे पैर खूबसूरती का पैमाना बना दिया गया था परंतु स्त्रियों के लिए यह अत्यंत कष्टदायी स्थिति होती थी। स्त्रियों में यह अक्षमता पैदा करती थी। इस प्रथा के कारण स्त्रियों के पैरों में असहनीय पीड़ा होती थी जिसके कारण औरतें दर्द से कराहती रहती थी। बड़े पैरों वाली लड़कियों की शादी होने में कठिनाई होती थी। इस परंपरा पर 1912 में कानूनी प्रतिबंध लगा दिया गया था। इस कुप्रथा को अपनी दादियों जिन्होंने इस प्रथा की झेला है, के माध्यम से लेखिका युंग चांग तथा एडेलीन येन माह ने व्यक्त किया है।

‘हव्वा का पर्दानशीन चेहरा’ (अरब देश की औरतें) जो ‘द हिडेन फ़ेस ऑफ़ ईव - वीमेन इन द अरब वर्ल्ड’ का हिन्दी अनुवाद है। यह नवल अल् सादवी (मिस्र) का आत्मकथ्य है जिसमें उन्होंने बचपन में स्त्रियों के साथ होने वाली उस घटना को सामने रखा है जिसे पढ़ने मात्र से ही पाठकों का दिल खौफ से सिहर उठता है। महिला खतना या सुन्नत प्रथा²(FGM-female genital mutilation) जिसमें छोटी उम्र में ही स्त्रियों की योनि का ऊपरी हिस्सा काट दिया जाता है जिसके कारण महीनों तक लड़कियों को बेतहाशा दर्द सहना पड़ता है। लड़कियों को ये कहकर इस क्रिया को सम्पन्न किया जाता था कि यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो उसका विवाह नहीं होगा और यदि हुआ भी तो पति उसे गंदी और नापाक मानकर छोड़ देंगे। नवल अल् सादवी ने सूडान की स्त्रियों के साथ होने वाली इस प्रथा को मिस्र से और अधिक क्रूर और बर्बर बताया है। “इस आपरेशन में जननेन्द्रिय के सभी बाहरी हिस्सों को निकाल दिया जाता है। योनि के ऊपरी हिस्सा तो वे काट ही देते हैं, साथ ही बाहरी पटल (LABIA MAJORA) और भीतरी पटल (LABIA

¹ <https://hindi.scoopwhoop.com/chinese-women-who-walk-with-deformed-feet/>
<https://youtu.be/nNuuloJGPjBA>, ITV NEWS, PUBLISHED ON 3 JAN, 2019.

² <https://youtu.be/aQPSksjSceM> What is female genital mutilation (BBC HINDI), PUBLISHED ON 6 FEB 2019.
<https://youtu.be/BBhFjs5OrhY>, ODD NARI PUBLISHED ON FEB 19, 2018.

MINORA) को भी काट दिया जाता है। फिर उस घाव को सिला जाता है। इस दौरान सिर्फ योनि के छिद्र ही छोड़ दिया जाता है जो घाव की मरम्मत के दौरान कुछ अतिरिक्त टांकों से छोटा कर दिया जाता है।”¹ इस सुन्नत से स्त्रियों के जीवन में अनेक दुष्प्रभाव पड़ते हैं। इससे कुछ लड़कियां सुन्नत के समय ही मर जाती हैं और कई गंभीर इन्फेक्शन और सेप्टिक से ग्रस्त हो जाती हैं। ऐसी बर्बर क्रिया से स्त्रियाँ मानसिक और यौन विक्षिप्ति का शिकार हो जाती हैं। स्त्रियों के लिए इसका एक हानिकारक परिणाम यह है कि सुन्नत से स्त्रियों की कामवासना कुंद हो जाती है तथा वे सहवास के दौरान आनंद महसूस नहीं करती। “1994 में काहिरा में सम्पन्न अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया कि महिला सुन्नत मानवाधिकार का उल्लंघन है और इससे महिलाओं के स्वास्थ्य व जीवन को खतरा है।”² इसी सुन्नत प्रथा का नवल अल् सादवी ने दिल दहला देने वाला वर्णन किया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की ताजा रिपोर्ट³ (6 फरवरी 2020) के अनुसार खतना होने के कारण महिलाओं और बच्चियों की सेहत पर बहुत गंभीर असर होते हैं, और इसके इलाज पर सालाना \$1.4 अरब(9.970 करोड़) खर्च होते हैं। एक अनुमान के मुताबिक सांस्कृतिक या गैर-चिकित्सकीय कारणों से 20 करोड़ से अधिक महिलाएं और लड़कियां सुन्नत(खतने) की इस नृशंस प्रक्रिया का शिकार हो चुकी हैं।

अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य विशेषांकों में स्त्री मुक्ति के लिए मुख्यतः स्वयं स्त्रियों द्वारा ही अपनी आवाज़ उठाते देखा गया। विशेषांक में गंभीर मुद्दों को कहानियों के माध्यम से लेखिकाओं ने ही अभिव्यक्ति दी है और अभिव्यक्ति ही वो क्षण होता है जिससे बाद विद्रोह का मार्ग प्रशस्त होता है। समाज की मान्यता है कि स्त्री को अपने जीवन को सुखमय व्यतीत करने के लिए शादी के बंधन में बंधना ही होता है, बिना शादी के उसका जीवन बोझ समझा जाता है। बिना शादी के स्त्री समाज में असुरक्षित होती हैं। “आखिर औरत जात है घर तो बसाएगी। सलीम न सही

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 81.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 80.

³ https://repository.inshorts.com/articles/hi/PTI/d36c878c-6985-42f4-9e71-e55ce8849c0c?utm_campaign=fullarticle&utm_medium=referral&utm_source=inshorts

Published on 6 feb 2020.

तो बरकत और बरकत न सही तो कोई लूला, लंगड़ा आखिर मर्द का बच्चा औरत के लिए बड़ा मायने रखता है। एक सहारा होना चाहिए। टूटे किवाड़ जैसा ही सही! उसी के भरोसे पूरी उम्र औरत गर्दन अकड़ा कर गुजार लेती है वरना तो.....”¹ ‘वहीं पुराना झूठ’ नासिरा शर्मा की कहानी है जो जाहिदा नाम की लड़की की कहानी है, जो अपने निकाह के लिए दूसरे शहर पहुँचती है परंतु उन्हें स्टेशन लेने कोई नहीं पहुँचता। नए शहर में दर दर भटकते हुए रज्जो बी जाहिदा का निकाह किसी से भी करवाने कोई तैयार है बस लड़का होना चाहिए जो जाहिदा को सुरक्षा दे सके और रज्जो बी की आफत कम हो सके। रज्जो बी जब एक बुढ़े आदमी से जाहिदा की शादी करवाने को तैयार हो जाती है तब जाहिदा खुद विद्रोह करके वहाँ से भाग जाती है। ‘आधी आबादी’ सुधा अरोड़ा की महत्वपूर्ण कहानी है जिसमें सुधा जी ने गृहस्थ जीवन में मशरूफ स्त्रियों के जीवन को अभिव्यक्त किया है। स्त्रियाँ कैसे अपने स्व को भूलकर घर को ही अपना केंद्र बना लेती हैं। स्त्रियों के अवचेतन मन में कहीं न कहीं कोई न कोई जिम्मेदारी हावी रहती है। अपने अस्तित्व को स्त्रियाँ गृहस्थी के बोझ तले कहीं खो देती हैं। इसी अस्तित्व की पहचान की खोज के लिए सुधा अरोड़ा की आधी आबादी कहानी एक आदर्श है। ‘चीख’ उर्मिला शिरीष की कहानी है जिसमें लेखिका ने बलात्कार जैसी नृशंस घटना का चित्रण किया है। कहानी हमें यह सोचने पर विवश करती है कि बलात्कार के बाद समाज क्यों स्त्री के सम्पूर्ण अस्तित्व को भूल जाता है? और केवल इसी घटना को स्त्री के साथ जोड़कर देखते हैं? क्यों बोला जाता है कि बेचारी! जिंदगी बर्बाद हो गयी इसकी तो।”² क्यों बलात्कार का दोष स्त्रियों पर ही मढ़ दिया जाता है? “आजकल की लड़कियाँ भी तो सुनती नहीं है। कहीं भी चल देती हैं”³ क्यों घटना के बाद दोषी सरेआम बेखौफ घूमता है और पीड़िता को घर की चारदीवारी में कैद होने पर विवश किया जाता है? समाज उसे उस घटना को भूलने ही नहीं देता, हर पल स्त्री को उसी नृशंस घटना की याद दिला दिला कर जीते जी मार दिया

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 56.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 82.

³ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 82.

जाता है। “महसूस हो रहा है उसे कि उसकी देह के साथ तो एक ही बार बलात्कार किया गया था मगर आत्मा के साथ तो....हजारों बार ये लोग बलात्कार कर रहे हैं...इसीलिए तो आत्मा छटपटा रही है....हृदय में हाहाकार मचा है.....”¹ यही हमारे समाज की धिनौनी सच्चाई है कि उत्पीड़ित व्यक्ति को ही दुगुना शोषित किया जाता है तथा अपराधी खुले जानवर की तरह अपने अगले शिकार की तलाश में लालायित रहता है। ‘बहुस्यामि’ कहानी स्त्री मुक्ति संबंधी अनेक पक्षों को हमारे सामने रखती है। एक शादीशुदा औरत कैसे अपनी गृहस्थी को संभालने के चक्कर में छोटे छोटे सुखों से वंचित रहती है। जिंदगी में बड़े सुखों के इंतजार में औरतें छोटे-छोटे सुखों के आनंद से महरूम रहती हैं। संबंधविच्छेद से औरतें डरती हैं क्योंकि समाज में फिर वह सभी के लिए सुलभ समझी जाने लगती है, हर कोई उसे अपनी निजी संपत्ति समझने लगते हैं। इसी डर के चलते अधिकांश स्त्रियाँ पति से अलग न होकर समझौते का जीवन व्यतीत करने लगती हैं। एक तलाकशुदा औरत की स्वतन्त्रता सभी की आँख की किरकिरी बन जाती है। कहानी की नायिका स्पष्ट शब्दों में कहती है “औरतों के लिए सेक्स फॉर द सेक आफ सेक्स कभी नहीं होता। हम औरतें प्रेम के लिए जीती हैं, प्रेम के लिए मरती हैं, क्योंकि हम प्रेम के लिए तड़पती हैं। अपनी सेक्सुएल्टी के संधान के लिए प्रयोग तो करने ही पड़ते हैं, लेकिन पुरुष की यह वृत्ति ओकेजनल फ्लटेर्शन, उसके लिए उसकी मर्दानगी की परिपक्वता मानी जाती है और अनुभवी परिपक्व औरत ‘स्लट’ कहलाती है।”² औरतों को अब अपनी स्थिति का भान होने लगा है, इसीलिए अपनी स्थिति में बदलाव के लिए वे विचार करने लगी हैं और परिवर्तन के लिए स्वयं प्रयासरत भी हैं “हम औरतें घर बनाती हैं, बच्चे पैदा करती हैं, उन्हें पालती हैं, बड़ा करती हैं, वीर्य नाम का जामन लेने से पूरा दही उनका नहीं हो जाता। सृजन की शक्ति हम में है। हमें समान समझ वाले स्त्री-पुरुषों से समभाव

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 88.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 92.

से मित्रताकर अपने-अपने लिए निजी समाज बनाना चाहिए जो इस बाहरी व्यापक समाज का विकल्प बन सके शायद.....हाँ..... शायद ”¹

‘चकरी गिरह’ कहानी एक आत्मनिर्भर स्त्री की कहानी है जो नौकरी के कारण पति से दूर अपने बच्चे के साथ अलग शहर में रहती है परंतु पति दवाब बनाता है और पत्नी को नौकरी छोड़कर अपने साथ ले जाने आता है परंतु नायिका रमा इसका प्रतिरोध करती है तथा अपनी नौकरी त्यागने से इंकार कर देती है। इस तरह प्रत्येक स्त्री को अपने स्वावलंबी बने रहने की हर संभव कोशिश करनी चाहिए और खुद से यह सवाल पूछना चाहिए कि क्यों हमेशा स्त्रियों से ही यह अपेक्षा की जाती है कि सुखद गृहस्थी चलाने के लिए हमेशा वे ही त्याग करें? सुशीला टाकभौरे की ‘साक्षात्कार’ एक अत्यंत महत्वपूर्ण कहानी है जिसमें प्रतिभा नाम की पात्र समाज सेविका है और नारी-पुरुष समानता, नारी के आत्मविश्वास (जो सुप्तावस्था में है) को जगाने के लिए, स्त्रियों को अपने अस्तित्व, अपनी अस्मिता की पहचान के लिए अनेक कार्यक्रमों में भाषण देती हैं। एक पत्रकार उनका साक्षात्कार लेने उनके घर जाता है तो उनका सामना अलग ही व्यक्तित्व से होता है। जो प्रतिभा मंचों पर दहाड़ मारती स्त्री सशक्तीकरण के लंबे-लंबे भाषण देती हैं, घर में उसकी स्थिति ऐसी है जैसी आम घरेलू औरत की होती है। बच्चों और पति के कामों में लिप्त, अपने लिए समय का न होना, अपने विषय में कुछ भी बात कहने और समझने तक का समयाभाव। “मंचो पर गरजने और चमकने वाली प्रतिभा अपने घर और परिवार के बीच पुनः कुंठित और विचलित हो उठी।”²

क्षमा शर्मा की ‘दादी मां का बटुआ’ एक व्यंग्यात्मक शैली में लिखी कहानी है, जिसमें व्यंग्य के प्रखर बाणों से मादा भ्रूण हत्या को उचित ठहराते हुए ऐसे अनेक उपाय बताए गए हैं जिसका प्रयोग कर लोग इस अपराध को अंजाम देते हैं। दरअसल इस कहानी के माध्यम से समाज को अपराधबोध के गर्त में डालने का काम किया जा रहा है। ताकि स्त्रियों के साथ होने वाले शोषण

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 94.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 114.

पर लगाम लगाई जा सके और साथ ही कोई भी माँ बाप कन्या को जन्म देने के लिए इतना ना हिचकिचाए। “इसीलिए कि कौन-सी माँ है जो लड़कियां ही लड़कियां जनना चाहें। जब से ‘कम्पलीट फैमिली’ वाली बात चली है तब से तो जिसकी पहली छोरी है वो दूसरा छोरा ही चाहे है। मैंने सोचा कि जब छोरियों को कोई चाहे ही नहीं तो वे धरती पर आएँ ही क्यों? बड़े होकर कोई दहेज के लिए मार दे या इज्जत लूटकर कत्ल कर दे, तो बेहतर ही है, पैदा होने से पहले ही मरना।”¹ गर्भधारण पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक अधिनियम, 1994² के तहत गर्भधारण पूर्व या बाद चयन और जन्म से पहले कन्या भ्रूण हत्या के लिए लिंग परीक्षण करना एक जघन्य अपराध की श्रेणी में आता है फिर भी सरकार इस अपराध की रोकथाम करने में असफल ही रही है।

स्त्री अपने गृहस्थ जीवन को सफल बनाने के लिए क्या कुछ नहीं करती। वह जब तक पति की आज्ञानुसार चले तब तक वह इस भ्रम में रहती हैं कि उसका पति उससे कितना स्नेह रखता है उसकी हर बात का सम्मान करता है परंतु जिस दिन स्त्री ने अपने लिए कोई निर्णय लिया उसी दिन उसका यह भ्रम शीशे की तरह अनेक टुकड़ों में टूटकर बिखर जाता है। इस सच्चाई को प्रतिभा कटियार ने अपनी कहानी ‘अभिनय’ के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। “क्या परिवार की शांति औरतों की इच्छाओं की कुर्बानी की नींव पर ही टिकी है? कितनी खोखली है यह शांति।” कहानी की नायिका उज्ज्वला एक सुखद गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रही थी, उसे जीवन के एक बिन्दु पर आकर अपनी मित्र सुषमा के जरिए इस बात की अनुभूति होती है कि उसके जीवन में सब होते हुए भी वह संतुष्टि नहीं है और वह स्वयं से ही असंतुष्ट है क्योंकि उसने अपने आप को अपने जीवन की सबसे बड़ी खुशी को जो उसे अभिनय से मिलती थी उस खुशी को उसने शादी के बाद खुद से अलग कर लिया और वह सोचती है कि उसे अब अपने भीतर की अभिनय क्षमता को निखारना है

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं.123.

² लिंग चयन प्रतिषेध अधिनियम, 1994- विकिपीडिया, (hi.wikipedia.org).

कन्या भ्रूण हत्या- विकिपीडिया, (hi.wikipedia.org).

और अपने अधूरे सपने को पूरा करने के लिए जीना है क्योंकि उसे भ्रम था कि पति उसका हमेशा की तरह साथ देगा जैसे वो आजतक पति के प्रत्येक फैसले की साझीदार रही है। परंतु आजतक उज्ज्वला ने अपने लिए कोई निर्णय लिया ही कहाँ था, जिससे भ्रम के बादल पहले कभी छटते। “इस उम्र में तुम्हें यह नाटक- नौटंकी का कौन-सा भूत चढ़ा है, मेरी तो समझ में ही नहीं आ रहा है। तुम अपने सर से ये अभिनय का भूत उतार दो। मुझे यह सब बिल्कुल पसंद नहीं। आज के बाद इस विषय पर कोई बात नहीं होगी समझी।”¹ उज्ज्वला की ही तरह ऐसी असंख्य स्त्रियाँ हैं। जिन्होंने अपने सुखद गृहस्थ जीवन की नींव अपने सपनों के बलिदान की शर्तों पर रखी।

‘आशंका’ दूर्वा सहाय की कहानी है, जिसमें स्त्री केन्द्रित समस्याओं के साथ अल्पसंख्यक समाज की समस्याओं पर भी पाठक वर्ग का ध्यान केन्द्रित किया गया है। इसमें पुरुष कैसे स्त्री को प्यार का झांसा देता है, उसके साथ जीवन व्यतीत करने की कसमें खाता है और उसके साथ अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ समाप्त होते ही, उसे गर्भवती कर समाज के सामने जलील होने के लिए छोड़ देता है। इस विषय को कहानी का केंद्र बनाया गया है। अल्पसंख्यक समाज की स्त्रियों को बहुसंख्यक वर्ग अपनी बपौती समझते हैं “फिर करें क्या, यहाँ साथ देने के लिए कौन है.....क्रिश्चियन हैं कितने.... कमबख्त कहता है कि एक रात सो लेगी तो क्या हो जाएगा..... तुम क्रिश्चियन लड़कियों के लिए इज्जत क्या है.....।”²

सामान्यतः पुरुष वर्ग स्वयं को स्त्रियों का रक्षक, संरक्षक मानता है क्योंकि पुरुष के पास आर्थिक सबलता है और वो स्त्रियों को इसे मुहैया करवाता है परंतु स्त्री के आर्थिक गुलामी के पीछे के इतिहास को देखा जाए तो इसमें स्त्रियों की कहीं कोई खामी नहीं बल्कि पुरुष वर्ग स्त्रियों की आर्थिक सबलता से स्वयं आशंकित और भयभीत रहता है। पुरुष के इसी वर्चस्ववादी रवैये को ‘शूरीर’ कहानी के माध्यम से विभा खरे ने व्यक्त किया है। “दहू भी कह रहे थे कि ‘लड़कियों से नौकरी करवाओ’। मैंने उनसे भी साफ कह दिया कि हमारे खानदान में लड़कियाँ बाहर जाकर

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 129.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 137.

नौकरी नहीं करती।”¹ यह कैसी मर्यादा बना दी गयी है कि चाहे घर में अकाल पड़ जाए, बच्चें भूखे मरें, पर बहू बेटियों को नौकरी कर अपने घर की स्थिति सुधारने की मनाही है। “ससुरी नौकरी करेगी, बहुत भूत सवार है लौंडों से नज़रें मिलने का।”²

‘एंटीक’ उषा महाजन तथा ‘सड़क की लय’ सुषम बेदी की कहानियाँ हैं। जिनमें दो पीढ़ियों (माँ-बेटी) के बीच प्रेम, विवाह और सहवास (लिव इन रिलेशनशिप) संबंधी विचारों को लेकर विरोधाभास सा दिखाई प्रतीत होता है। बेटी द्वारा अपने ‘शरीर पर अपने अधिकार’ के वाक्य को सुनकर माँ स्तब्ध रह जाती है। “पर यहाँ तो ‘लिव इन’ का मूल मंत्र ही यह है कि अपनी-अपनी ‘इंडिविडुएलिटी’ बचाए रखो, एक दूसरे की ज़िंदगी में दखल न देते हुए ही एक-दूसरे के साथ का आनंद उठाओ।”³ बेटी के स्थायी भविष्य को लेकर दोनों कहानियों में माँ के मन में उधेड़बुन चलती रहती है। ‘अपने-अपने कुरुक्षेत्र’ कहानी में एक युवा विधवा स्त्री का चित्रण किया गया है। युवा विधवा स्त्री का भविष्य कितना दारुण होता है। दूसरी शादी करना चाहती है पर “थे देखिये.....भला जब कुंवारी लड़कियों को लड़के मिलते नहीं तब विधवा को कहाँ से वर मिलेगा?”⁴ विधवा स्त्री के जीवन में व्याप्त नितांत अकेलापन उसे अन्य पुरुष के पास ले जाता है तथा विवाहित पुरुष के साथ विवाहेत्तर संबंध बनाने पर विवश करता है। कहानी की पात्र विजया बाप और बेटे दोनों से शारीरिक संबंध स्थापित करती है क्योंकि कहीं आर्थिक सहयोग की उम्मीद होती है तो कहीं असुरक्षा से बेफिक्री। “मुझे आप पसंद हो। पाप-पुण्य छोड़िए। हमें अपनी दबी ख्वाहिशें को पूरा करने में कोई अपराधबोध नहीं होना चाहिए। जवान को चुनो, उसके इशारों पर नाचो, उसकी बेईमानी पर मातम मनाओ, सुरक्षित स्थान न होने पर पकड़े जाओ। गर्भ ठहरने का खतरा अलग मंडराये। आप क्या दावे से कह सकते हैं कि आपको वह अच्छा नहीं लगा? जो अच्छा लगे उसके लिए इतनी सीमाएं, बंधन क्यों? यहाँ शांति से बिना किसी टेंशन के आनंद

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं.143.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं.143

³ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 23.

⁴ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 26.

मिलता है। किसी को शक भी नहीं। तब मैं क्यों न वर्तमान में जिऊँ?¹ यदि विजया को विधवा होने पर या तो ससुराल वालों का साथ मिलता या उसका पुनर्विवाह होता तो शायद ही वो ऐसे क्षणिक आनंद के लिए इस मार्ग का चयन करती।

‘तुम कितने दूर हो’ में रानु मुखर्जी ने अविवाहित स्त्री-पुरुष संबंधों को सामने रखा है। जिसमें सुधाकर और माया अविवाहित जोड़ा है जो अब चालीस की उम्र में आ गए हैं। हमेशा से एक दूसरे के साथ रहे हैं। घर की जिम्मेदारियों के कारण अभी तक शादी नहीं हुई परंतु दोनों एक दूसरे से अभी तक युवावस्था जैसा ही प्रेम करते हैं। विवाह चाहे ना हुआ हो परंतु स्त्री के मन से कोई भी ममत्व के भाव को कभी भी नदारद नहीं कर सकता। माया की भी हर स्त्री की तरह माँ बनने की इच्छा है चाहे शादी के बंधन में वे लोग बाद में बंधे। “बस एक बच्चा दे दो, उसे मैं पालना चाहती हूँ, हमारी शादी होने तक वह समझदार हो जाएगा। जब तुम ठीक समझो उसे अपना नाम दे देना। नहीं तो वह माँ का ही बच्चा बन कर रहेगा। मैं उसे पालूंगी, तुम्हें परेशान नहीं करूंगी।”²

‘पालूशन मानिट्रिंग’ में पूनम सिंह ने बचपन में हुए यौन शोषण का स्त्रियों पर कितना गहरा असर होता है जिसके कारण स्त्रियों का समूल पुरुष जाति से ही छत्तीस का आंकड़ा बन जाता है। स्त्रियाँ मानसिक रूप से विकलांग हो जाती हैं। ऐसा ही कहानी की पात्र अमृता के साथ हुआ। “खिलौने से खेलने वाले मेरे सुकुमार बचपन को जिस पुरुष जाति ने नोंच-खसोट कर लहलुहान किया। बड़ी होकर उस पूरे वर्ग को अपने जूते की नोंक पर फुटबाल की तरह किक आउट करती रहूँगी मैं। पतंग की तरह अपनी डोर में बांध कर निस्सीम आकाश में भटकने के लिए छोड़ती रहूँगी उन्हें। मैं संकल्पबद्ध हूँ अल्का, मुझे इससे कोई नहीं डिगा सकता।”³ ‘यानी छुट्टी का दिन’ में मंजु शर्मा ने गृहस्थी की बागडोर संभालती स्त्री का चित्रण किया है। घरेलू औरतों के लिए कोई छुट्टी का दिन नहीं होता बल्कि रविवार उनके लिए दुगुना काम का दिन होता है। उसके पास अपने लिए

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 26.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 47.

³ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 62.

तसल्ली से बैठकर खाने पीने तक का अवकाश नहीं होता। पूरा दिन चूल्हे चौके में, बच्चों, पति की फरमाइशों में ही निकल जाता है। फिर भी स्त्रियों के घरेलू कार्यों को सम्मान से नहीं देखा जाता तथा बड़ी आसानी से उसे यह कह दिया जाता है कि आखिर तुम करती ही क्या हो? सारा दिन पड़ी रहती हो। घरेलू कार्यों को भी उतना ही सम्मान मिलना चाहिए जितना अन्य कार्यों को दिया जाता है क्योंकि यह नौकरी कुछ घंटे नहीं बल्कि पूरे चौबीस घंटे चलती है परंतु फिर भी इस अवेतनिक कार्य को समाज ने हमेशा उपेक्षित ही किया गया है। इसी कार्य की महत्ता को मंजु शर्मा ने अपनी कहानी के माध्यम से सामने रखा है।

‘संदर्भ और विचार’ में प्रभा खेतान और अनामिका के दो महत्वपूर्ण लेखों को प्रकाशित किया गया है। ‘स्त्री-विमर्श : इतिहास में अपनी जगह’ में प्रभा खेतान ने समकालीन स्त्री चिंतन में स्त्री का जीवन और स्त्री जीवन की मुख्य समस्याओं पर विचार विमर्श को प्रमुख माना। नारीवाद का उद्देश्य स्त्री दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति को माना गया है। दार्शनिक विचारधारा का स्त्री पर प्रभाव तो रहा परंतु ये वैचारिक परंपरा पुरुष केन्द्रित है। स्त्रियों के लिए अमानवीय है। नारीवादियों ने इस पारंपरिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती दी। इस दर्शन में स्त्री की बौद्धिकता का अवमूल्यन हुआ। प्रभा खेतान ने पश्चिमी दार्शनिकों के हवालों के माध्यम से पश्चिमी नारीवाद को स्पष्ट किया। उदारवादी, उग्रवादी, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषक, अराजक, सामाजिक नारीवादी विचारों के मतभेद तथा विचारों के विस्तार को प्रभा खेतान ने इस लेख में स्पष्ट किया है। प्रभा खेतान स्त्री मुक्ति की संकल्पना को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं “नारीवाद के आदर्श इन पुरुषों के आदर्श से अलग हैं, इन पुरुषों ने व्यक्तिगत स्तर पर निजी क्षेत्र में दलन को नहीं झेला है। इन्हें पता नहीं है शारीरिक असुरक्षा किसे कहते हैं, बलात्कार की त्रासदी क्या है? दलित पति भी अपनी पत्नी से वही अपेक्षा रखता है। जो कि सवर्ण रखता है। अतः सारी समस्या को एक वृहत्तर प्रसंग में देखना उचित होगा।”¹ एक समतामूलक समाज की स्थापना करने के लिए नारीवादियों को अपना

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 42.

इतिहास टटोलने की आवश्यकता है, क्योंकि वर्चस्ववादियों ने स्त्रियों को इतिहास से नदारद रखा है। स्त्रियों का इतिहास बनने ही नहीं दिया। स्त्रियों का अस्तित्व केवल देह के कारण नहीं हैं बल्कि संस्कृति, वर्ग जाति आदि से स्त्री की निर्मिती होती है परंतु पुरुष स्त्रियों को केवल देह के रूप में देखते हैं। स्त्रियों को पितृसत्ता ने आज भी प्रत्येक क्षेत्र में दमित कर रखा है। स्त्रियों को यह समझने की आवश्यकता है कि उनका मसीहा केवल वे स्वयं हैं।

‘हम ‘पुरबिया’ औरतें और ‘हमारा’ स्त्री-विमर्श’ में अनामिका ने स्त्री-विमर्श के विभिन्न पक्षों को उदाहरण सहित सामने रखा है। इस लेख में इन महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर चर्चा की गयी है कि स्त्री आंदोलन में स्त्री अपने अधिकारों के लिए लड़ती है न कि किसी प्रतिशोध की आग में। स्त्री आंदोलन प्रतिशोध पीड़ित मानसिकता की उपज कतई नहीं है। स्त्री मुक्ति का अर्थ पुरुष हो जाना नहीं है। स्त्री आंदोलन के माध्यम से स्त्रियाँ अपने अस्तित्व की खोज करना चाहती है न कि पुरुष बनना। स्त्री पुरुष के बीच की लड़ाई बाकी अन्य लड़ाइयों (दो वर्ग, दो नस्लों, दो जातियों, दो दलों, दो राष्ट्रों) से भिन्न है क्योंकि उनमें दोनों के हित-निकाय अलग-अलग होते हैं जबकि स्त्री-पुरुष में हित-निकाय एक ही होता है- परिवार। स्त्री आंदोलन स्त्री दलन का कारण पुरुष को नहीं बल्कि पितृसत्ता को मानता है क्योंकि पितृसत्ता के पूर्वग्रह का उसके ऊपर प्रभाव पड़ता है जिसमें जन्म से ही स्त्रियों को हीन और कमतर होना बताया और सिखाया जाता है। स्त्री आंदोलन सुखिया बटोरने के उद्देश्य हेतु नहीं काम करता। यह आंदोलन सार्वभौम भगिनीवाद (यूनिवर्सल सिस्टरहुड) के नारे को मूलमंत्र मानता है। पर्सनल इज पालिटिकल, समाज को समता, स्वतन्त्रता, ग्रन्थों, लोक कला, रीति-रिवाज, मिथक, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, मनोविज्ञान, नृशास्त्र आदि विषयों का स्त्री संबंधी दृष्टिकोण से नया मूल्यांकन अपेक्षित है। स्त्रियों की स्वतंत्र यौन-इच्छा के सवाल, स्त्री समलैंगिकता के सवाल क्योंकि पुरुष के अनुसार स्त्रियों को चयन का अधिकार ही नहीं होता और स्त्रियाँ केवल पैसिव पार्टनर और लदा हुआ गर्भ ही समझी जाती हैं। पुरुषों का वाई फेक्टर जो पुरुष को उग्र, विध्वंसक बनाता है। समाज के लिए जेंडर-सेंसिटाइजेशन की आवश्यकता को भी अनामिका ने

इस लेख में महत्वपूर्ण माना है। अनामिका ने आर्ष-ग्रन्थों के अनेक उदाहरणों से समाज में स्त्री की स्थिति पर विशद चर्चा और टिप्पणियाँ की हैं।

पितृसत्ता के षड्यंत्र और स्त्री की छवि शीर्षक के अंतर्गत संग्रहीत लेखों में स्त्री की प्रकृति को देह के रूप में परिभाषित करना, मातृत्व का कर्मकांड आरोपित करना, देह का वस्तुकरण, स्त्रियों के प्रति उपभोगतावादी दृष्टि, यौन शुचिता, सती और वैधव्य, सौंदर्यकरण का उपभोग आदि विषयों को विमर्श का मुद्दा बनाया गया है। इस विशेषांक के इसी खंड में पुरुष लेखकों का योगदान है, क्योंकि मुद्दा आखिर पितृसत्ता और उसके लिए रचे षड्यंत्रों की खोज का है। ‘मार्क्सवाद और नारी-मुक्ति’ अभय कुमार दुबे का यह एक महत्वपूर्ण लेख है, जिसमें उन्होंने मार्क्सवाद का स्त्री-मुक्ति के प्रति दृष्टिकोण सामने रखा है। मार्क्स ने ‘इकनॉमिक एंड फिलासफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट’ में मानव मुक्ति की बात की है मार्क्स का यह ‘मानव’ अघोषित पुरुष है क्योंकि उन्होंने स्त्री नामक संस्था की धारणा को न स्पष्ट किया और न इसको विकसित किया। शीला रोबाथम लिखती हैं- “मैं यह नहीं कहना चाहती कि अगर वे (मार्क्स और एंगेल्स) औरत होते तो वे नारी-मुक्ति की समस्या का अंतिम हल पेश कर देते। लेकिन, यह एक तथ्य है कि वे औरतों को पुरुष की आँखों से देखने के लिए मजबूर थे। वे मजबूर वर्ग की औरतों को एक मध्य वर्गीय पुरुष की निगाह से देखते थे। इसका असर पड़ना ही था। उन्होंने जिस तरह देखा और जहां देखा। उस पर उनके पुरुष होने का प्रभाव पड़ा।”¹ 1844 की ‘मैन्यूस्क्रिप्ट’ और 1847 में ‘कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र’ तथा ‘द होली फेमिली’ में मार्क्स ने पूंजीवादी पुरुष द्वारा स्त्री पर होने वाले शोषण के पाखंड का पर्दाफाश किया। ‘द जर्मन आइडियालोजी’ में मार्क्स और एंगेल्स ने स्त्री की भौतिक परिस्थिति के ऐतिहासिक स्वरूप के बदलते पहलुओं का गंभीर अध्ययन किया। मार्क्स ने ‘प्रजनन के सामाजिक संबंधों’ के अध्ययन पर ध्यान देने के बजाय ‘उत्पादन के सामाजिक संबंधों’ के अध्ययन को विशेष महत्व दिया। सिमोन द बोउवार जो प्रतिष्ठित नारीवादी लेखिका हैं, वे मार्क्सवाद के विषय में कहती हैं कि

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 154.

“मार्क्सवाद स्त्री की पुरुष से जैविक भिन्नता के तथ्य की उपेक्षा करता है। एंगेल्स यह स्पष्ट नहीं करते कि व्यक्तिगत संपत्ति की संस्था क्यों अनिवार्यतः औरत की गुलामी का कारण बनती है। संपत्ति की अवधारणा औरत की दलित अवस्था के व्यक्तिगत आधारों को स्पष्ट नहीं करती। एंगेल्स ने औरत की कमजोरी को केवल ताम्र और लौह औजारों के विनियोजन के संबंध से उपजी परिघटना माना।”¹ रूसी साम्यवाद का मानना था कि क्रांति को केवल कारखानों के स्तर पर ही प्रभावी नहीं होना चाहिए बल्कि घर-परिवार के स्तर पर भी प्रभावी होना होगा। घरेलू कामकाज से मुक्ति का विचार अत्यंत क्रांतिकारी था। आर्थिक समृद्धि स्त्री मुक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण मानी जाने लगी। कम्युनिस्ट पार्टी के सामने एक समस्या यह भी थी कि मार्क्सवाद के पास निजी जीवन और यौन जीवन के लिए कोई कारगर सिद्धान्त नहीं था। सिद्धान्त के रूप में पार्टी ने परिवार संस्था को तिरोहित तो कर दिया परंतु व्यावहारिक रूप से पार्टी ‘परिवार संस्था’ का विकल्प के रूप में मुक्त समागम को स्थापित करने में नितांत विफल रही। मार्क्सवाद के पास यौन व्यवहार से संबंधी मनोवैज्ञानिक चिंताओं से लिए कोई आवश्यक समाधान मौजूद नहीं था। तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली स्त्रियों को संघर्ष के बाद पार्टी ने बंदूक वाले हाथों को फिर से चूल्हा-चक्की में वापसी के लिए मजबूर कर दिया। नए समाज को बनाने में मार्क्सवाद की स्त्री मुक्ति के लिए बनाई गयी योजना एक स्तर पर ही कामयाब रही जिसमें मार्क्सवाद से स्त्री को श्रमिक वर्ग में समान अधिकार प्राप्त हुआ परंतु साथ ही मार्क्सवाद को व्यापक यौन व निजी जीवन को लेकर भी खुलकर सामने आना चाहिए।

‘स्त्रीत्ववाद में मर्दों की जगह’ में सुधीश पचौरी ने मैगज़ीन फेमिनिज्म से ‘मेल फेमिनिज्म’ लेख के माध्यम से नारीवाद में पुरुषों की क्या जगह है इस प्रश्न को उठाया है। क्या केवल स्त्रियाँ ही नारीवादी हो सकती हैं? क्या पुरुष स्त्रियों के विषय में कुछ भी कहने के हकदार नहीं? स्टीफन हीथ कहते हैं कि “स्त्रीत्ववाद ऐसा मसला भी है जो जरूरी विशिष्टतावादी है क्योंकि एक बिन्दु के बाद

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 155.

यह औरतों का ही विशेष मसला बन जाता है, कि उनकी वाणी और उनके काम में परिवर्तन और पुनर्व्याख्या को तय करेंगे। ध्यान करें: उनकी वाणी, उनकी कार्रवाई! हमारी नहीं। हम चाहें कितने भी 'ईमानदार' हों और उनके कितने 'हमदर्द' हों, हम हमेशा एक पुरुष-स्थिति में ही होंगे जिसके साथ पुरुष-वर्चस्व और आत्मसातीकरण होता रहेगा। यानी वही सब जिसे बदलने की वह ठाने है।¹ अपनी देह के प्रति स्त्री की सजगता स्त्रीवाद के लिए अनिवार्य तत्व है। सुधीश पचौरी कहते हैं कि दैहिक विमर्श को बिना समझे स्त्रीत्ववाद को समझा नहीं जा सकता। हीथ नारीवाद में पुरुष की स्थिति की तलाश तो करते ही है साथ ही यह भी कबूलते हैं कि पुरुष का स्त्रीत्ववाद अंततः एक मर्दाना काम ही है क्योंकि मर्दानेपन के खत्म होते ही औरतानापन भी खत्म हो जाता है। “हीथ के लिए मर्द के लिए स्त्रीत्ववाद होना एक मिथ भर है। वह आत्मसातीकरण का मर्दवादी तरीका है। वह सामने से नहीं तो पीछे से वर्चस्व कायम रखने का तरीका है”² मर्दवादी यौनिकता को श्रेष्ठ समझे जाने का ही परिमाण है कि फ्रायड के पूछने पर कि स्त्रियाँ आखिर चाहती क्या हैं? महान बादलेयर ने जबाब दिया कि औरत गरम होती है और ‘फक’ होना चाहती है। जो मर्द फेमिनिज्म के प्रति सचेत है आखिर वो अपनी पहचान बनाने के लिए अधिक उत्सुक है न कि औरतों की समानता के बारे में प्रयासरत। औरत के विषय में बात करना, चर्चा कर निर्णय देना आसान काम है, मुख्यतः स्त्री की देह के बारे में बोलते समय गिद्ध दृष्टि से स्त्री देह को बेधकर देह का एक्सरे करना पुरुषों के लिए बेहद सरल और परम संतुष्टि देने वाला कार्य होता है। लेकिन स्त्री के विषय में स्त्री की तरह बोलना आसान कार्य नहीं है। मर्द की स्थिति दयनीय हमदर्द की अवश्य हो सकती है परंतु विमर्श का विपर्यय नहीं।

‘स्त्री और सदी का अवसान लेख’ के अंतर्गत मृणाल पांडे ने कन्या भ्रूण हत्या जैसे गंभीर मुद्दे पर अपनी बात रखी है। जनगणना के स्त्री-पुरुष आंकड़ों में बढ़ते अंतर को चिंता का विषय बनाया गया है। दहेज, ब्यूटी-पेजेंटों की जकड़बंदी में फँसती स्त्री को मुक्ति के लिए अग्रसर करने में लेख

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 159.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, , हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 160.

महत्वपूर्ण है। बाजारवाद के इस समय में औरतों के लिए देह व्यापार ही ऐसा कार्यक्षेत्र है जो विस्तार पाता जा रहा है। औरतों को केवल बच्चे पैदा करने की इकाई माना जाना। इस तरह की विसंगतियों की जड़ यही है कि न केवल राज्य स्तर पर बल्कि अकादमिक स्तर पर भी समाज स्त्री को केवल भौतिक स्तर पर ही व्याख्यायित करने पर आमादा रहता है।

‘प्रज्ञा और गर्भाशय के बीच’ मृदुला गर्ग ने स्त्री के अनचाहे गर्भ धारण करने की विवशता, पूर्वग्रहों के कारण मातृत्व को महिमामंडित करना, जो स्त्रियों के लिए पैरों में बेड़ियों के जैसा ही था। गर्भपात के अधिकार को स्त्री मुक्ति के पर्याय के रूप में माना जाने लगा जबकि यह मुक्ति नहीं बल्कि एक श्राप के समान था क्योंकि भारतीय स्त्रियों को गर्भ धारण करने की छूट भले ही ना हो परंतु उसे गिरने का अधिकार मिल गया जिससे कन्या भ्रूण हत्या को बढ़ावा मिला। परिवार नियोजन के लिए गर्भपात का इस्तेमाल होता है जिससे स्त्री के स्वास्थ्य को अनेक हानिकारक परिणामों को झेलना पड़ता है। मृदुला गर्ग गर्भपात को एक स्त्री विरोधी प्रतिक्रिया बताती हैं।

समरेन्द्र सिंह ने ‘नाच गौरी नाच, मुझे मिलेगा पैसा’ में स्त्री और मुक्ति की त्रासद स्थिति और इनके बीच फैलते अंधकार को लेख में बताया गया है कि कैसे स्त्री अपनी मुक्ति की चाह से दिन प्रति दिन दूर होती जा रही हैं और सौंदर्य मिथकों के जाल में फँसती जा रही हैं। ‘डाएटिंग इंडस्ट्री’, ‘कॉस्मेटिक इंडस्ट्री’, एवं ‘कॉस्मेटिक सर्जरी इंडस्ट्री’ के उद्योग दिन दुगुनी रात चौगुनी तरक्की कर रहे हैं और उसी रफ्तार से स्त्री इस उद्योग की चकाचौंध में लिप्त होती, अपनी अस्मिता को खोती जा रही है। “स्त्री-मुक्ति एवं स्त्री-सौंदर्य के बीच एक गहरा विरोधी रिश्ता है। रिश्ता जिससे स्त्री-मुक्ति के लिए वर्षों का आंदोलन कमजोर पड़ गया है। आज स्त्री अपनी देह मात्र में सिमट गयी है।”¹ साँवलेपन को स्त्रियों की कमजोरी माना जाता है। बचपन से ही साँवली लड़कियों को हीन भाव से गुजरना पड़ता है। बाज़ार में अनेक व्यापारिक कंपनियाँ गोरेपन के लिए अनेक उत्पाद बेचती हैं और साँवली लड़कियों को भ्रमित करके उनकी भावनाओं से खिलवाड़ कर बेशुमार मुनाफा

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 170.

कमाती है। यहाँ यह कहना भी सही नहीं है कि समाज द्वारा स्थापित सुंदरता के पैमाने पर खरी उतरने वाली स्त्री समाज में सुरक्षित है। ऐसी स्त्रियों पर तो खतरा दुगुना होता है। खुद को लोगों की नज़रों से बचाना उनके लिए मुश्किल होता है। उनकी सुंदरता पर एसिड फेंक दिया जाता है या यौन शोषण का शिकार होना पड़ता है। ऐसी ही दर्दनाक स्थिति को ‘सुपर मॉडल ऑफ द इयर 2019’¹ रियलिटी शो में एक प्रतिभागी ने अपना दर्द बयां किया कि बचपन से ही सब उसे सुंदर-सुंदर कहते हैं पर इसी सुंदरता के कारण ही उसे बचपन में उसी के घर में अपनों द्वारा यौन शोषित किया गया, और यही सुंदरता स्त्रियों के लिए ताउम्र का श्राप बन जाती है। साथ ही उम्र के साथ अपनी सुंदरता को कायम रखने के लिए कॉस्मेटिक सर्जरी आदि का प्रचलन भी समाज में बढ़ गया है। सौंदर्य प्रतियोगिता में स्त्रियों के अर्धनग्न शरीर की नुमाइश की जाती है। पत्र-पत्रिकाएँ, फिल्म, फिल्मी गाने, मीडिया हर जगह स्त्री को देह तक सीमित करने का षड्यंत्र रचा जा रहा है। “राजनीतिक पहलू यह कि स्त्री की स्वतन्त्रता को देह मात्र तक सीमित कर उन्हें उसी में उलझाए रखो एवं आर्थिक पहलू यह कि भारत विश्व का सबसे बड़ा बाज़ार है।”²

‘यौन हिंसा और न्याय की भाषा’ अरविंद जैन का विशद सामग्री लिए एक बड़ा लेख है। स्त्री यौन शोषण के अनेक मुद्दों की चर्चा की गयी है जो देश के अलग-अलग राज्यों से संबंधित हैं। इन मुद्दों पर उच्च न्यायालयों के फैसले बेहद पक्षपातपूर्ण रहें। कहीं उम्र का हवाला देकर पुरुष बच जाता है कहीं पीड़िता को ही अनैतिक आचरण की महिला सिद्ध कर दिया जाता है। पितृसत्ता ने जानबूझ कर ऐसा षड्यंत्र रचा है जिससे बलात्कारी किसी न किसी चोर दरवाजे से फरार हो जाता है। दरअसल इस विषय पर थोड़ा गंभीरता से विचार किया जाए तो यह पितृसत्ता की उपज से अधिक विकृत, विक्षिप्त और बीमार मानसिकता के व्यक्ति का व्यक्तिगत अपराध मात्र है। हर बार अपराधी को न्यायालयों से सजा कम करने के लिए, कोई न कोई ‘विशेष परिस्थिति’ के चलते

¹ <https://www.republicworld.com/entertainment-news/television-news/supermodel-of-the-year-february-9-written-update.html>. (#no more tears).

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस जनवरी- फरवरी 2000, पृष्ठ सं. 172.

मोहलत मिलती रहती है। स्त्री का न्यायालयों में बार बार प्रश्नों से पुनः बलात्कार होता है। उससे उसका चरित्र प्रमाण पत्र मांगा जाता है। वक्ष, जांघ, नितंब, पीठ पर चोट के निशान दिखाने के लिए मजबूर किया जाता है। बलात्कारी को मृत्यु दंड जैसे कानून का होना निष्प्रभावी ही साबित होता है क्योंकि जहां अपराध की सभी जांच हो गयी हो, बलात्कारी का अपराध सिद्ध हो गया हो तब भी क्यों उन्हें रियायत मिलती रहती है? क्यों उनकी दया याचिकाओं के लिए बार-बार उच्चतम न्यायालयों में बहस होती हैं? 2012 निर्भया बलात्कार कांड के अपराधियों को क्यों अभी तक फांसी के तख्ते पर चढ़ाने में क्यों इतना लंबा इंतजार करना पड़ा? क्यों निर्भया की माँ को बलात्कारियों को जल्द से जल्द सजा दिलवाने के लिए इतने प्रदर्शन करना पड़े।¹ स्त्रियों को स्वयं अपनी रक्षा के लिए हथियार उठाने की जरूरत है। बलात्कारी कानूनी प्रक्रिया से सालों साल सजा से बचता रहता है और जेल में मुफ्त की रोटियाँ तोड़ता है परंतु जिस दिन स्त्रियों से स्वयं हथियार उठा लिए उस दिन कोई कानून उन्हें सजा में रियायत नहीं दे सकता। स्त्रियों को इस भेड़िया समाज से रक्षा के लिए स्वयं मजबूत बनने की जरूरत है।

असहमति शीर्षक से ‘मुझे आपत्ति है.....’ लेख में कृष्णा सोबती ने इस समस्या पर चर्चा की है कि कैसे और क्यों स्त्री लेखन को समाज में उतनी तरजीह प्राप्त नहीं हो पाती जितनी पुरुष लेखक को प्राप्त है। “साहित्य मात्र पुरुष का एकालाप नहीं। इस लोक में स्त्री और पुरुष दोनों का सांझा संवाद है। कोई भी अच्छी रचनात्मक कृति स्त्री ने लिखी हो या पुरुष द्वारा लिखी गयी हो। दोनों ही अपनी-अपनी निजता व्यक्त करती है।”² कृष्णा सोबती प्रश्न करती हैं कि स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर चल रही हैं और स्त्री की प्रजनन-प्रक्रिया अब उसकी विवशता से नहीं, चुनाव के सामर्थ्य से उभर रही है। लोकतंत्र में उन्हें पुरुषों के समान ही सारे अधिकार प्राप्त हैं तो क्यों साहित्य में उनके साथ अलगाव की स्थिति बनी हुई है।

¹ <https://www.jagran.com/delhi/new-delhi-city-ncr-nirbhayas-mother-protest-outside-court-over-delay-in-hanging-of-convicts-20024030.html>.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, हंस मार्च 2000, पृष्ठ सं. 13.

‘अभिव्यक्ति पर अंकुश यानी स्त्री एक लेखक’ का (रेतघड़ी) में राजी सेठ भी स्त्री के लेखकीय क्षमता को प्रश्नांकित किए जाने, उनकी अभिव्यक्तियों पर अंकुश लगाने के विरुद्ध है, क्योंकि स्त्रियों के अनुभव के दायरों के क्षेत्र को समाज द्वारा ही निर्धारित तथा सीमित किया गया है। अब यदि स्त्री उन अनुभवों को अभिव्यक्त कर रही हैं तो इससे भी क्यों उन्हें हीन भावना से ग्रसित कर अंकुश लगा कर वंचित किया जाता है। लेखिका की अभिव्यक्ति से उसे अपनी अस्मिता, अपना आत्मसम्मान भी हासिल होता है। यह संघर्ष उनके लिए बहुत निजी और संतुष्टि देने वाला होता है।

स्त्री-छवि शीर्षक के अंतर्गत ‘स्त्री: सृजन और अस्मिताबोध’ (राजी सेठ), ‘स्त्री-छवि बरक्स सार्थक सिनेमा’ (कविता), कुछ सवाल ‘द फायर’ और..... (सुमन केशरी) लेख प्रकाशित हैं। राजी सेठ ने साहित्य में स्त्री लेखिकाओं की स्वीकृति के प्रश्न को उठाया गया है। स्त्री लेखन पर अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि उनका लेखन संभावनापूर्ण नहीं होता है। उनके अनुभव का दायरा सीमित होता है और सीमित अनुभवों को ही वे साहित्य में अभिव्यक्त करती हैं। पिछले कुछ वर्षों पर यदि नज़र डालें तो इन स्थितियों में काफी अंतर देखने को मिलता है, फिर भी स्त्रियाँ अभी भी अतीत और भविष्य के बीच संघर्षशील और आशान्वित वर्तमान को रचने को उत्सुक हैं। वास्तव में स्त्री का प्रमुख संकट उसकी अपनी अस्मिता, अपनी पहचान को पाने का संकट है। दरअसल मात्र दफ्तरों, दुकानों में काम करना भर स्त्री-मुक्ति नहीं है। मुक्ति का एहसास आंतरिक अनुभूति होती है। स्त्री मुक्ति के लिए स्त्री-आत्मनिर्भरता, स्त्री आत्म-संपन्नता आवश्यक है। इससे उनकी सामाजिक स्थिति में भी सुधार आता है और स्त्रियों को इस अतिक्रमण से उस पराधीन मानसिकता से मुक्ति मिलती है जिसके कारण समाज उन्हें हीन बनाता था। इस अतिक्रमण से ही स्त्रियाँ स्वतन्त्रता, मुक्ति के अनुभवों से एकाकार स्थापित कर पाती हैं और जिसके माध्यम से स्त्री लेखन को एक नयी दिशा और नए आयाम का मार्ग प्रशस्त होता है। कविता और सुमन केशरी ने अपने लेखों में फिल्मी दुनिया में स्त्री छवियों की स्थिति पर चर्चा की है। फिल्मों में स्त्री के यथार्थ जीवन, उसके यौन-संबंधी और पुरुषवादी व्यवस्था के खिलाफ हिंसक विद्रोह, जिसमें अपने अस्तित्व

रक्षा की वास्तविक लड़ाई, सामाजिक और राजनैतिक मोर्चे पर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती स्त्रियों की चर्चा 'सती', 'कमला की मौत', 'मैं जिंदा हूँ', 'दृष्टि', 'फायर', 'बैडिट क्वीन', 'गाडमदर', 'अर्थ -47' आदि फिल्मों के माध्यम से स्त्री मुक्ति के प्रश्नों पर चर्चा की गयी है। आज के समय में यदि हम स्त्री मुक्ति और स्त्री केन्द्रित फिल्मों की बात करें तो चाँदनी बार(2001), लज्जा(2001), फैशन(2008), द डर्ट पिच्चर(2011), नो वन किल्लड जेसिका(2011), इंग्लिश विंग्लिश(2012), मेरी कॉम(2014), क्वीन(2014), मर्दानी(2014) एन एच10(2015) द कलेंडर गर्ल (2015), पर्चेड(2016) नील बट्टे सन्नाटा(2016), नीरजा(2016), पिक(2016), लिपस्टिक अंडर माय बुर्खा(2017), मॉम(2017), अनारकली को आरा(2017), राज़ी(2018), मर्दानी2 (2019) थप्पड़ (2020) आदि अनेक ऐसी महत्वपूर्ण फिल्में हैं जिसके द्वारा स्त्री-विमर्श को आगे कदम बढ़ाने में आवश्यक सहयोग मिला।

5.1.3 स्त्री-भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप (मार्च 2001)

‘स्त्री-भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’ विशेषांक मार्च, 2001 में प्रकाशित हुआ था। इस अंक का संपादन विशेष संपादक प्रभा खेतान तथा सौजन्य संपादक अभय कुमार दुबे के सहयोग से संभव हुआ। मेरी-तेरी उसकी बात संपादकीय कॉलम में संपादक राजेन्द्र यादव ने ‘बहसें चलती रहेंगी’ नाम से अपना संपादकीय लिखा। इस संपादकीय को पढ़कर यादव जी की लोकतान्त्रिक छवि हमें देखने को मिलती है जिसमें वे विशेष संपादक को अंक की सामग्री चयन का पूर्ण अधिकार देते हैं तथा कोई दखल नहीं देते। ‘हंस’ पत्रिका के आलोचकों को राजेन्द्र यादव दो टूक जवाब देते हैं क्योंकि आलोचकों की चिंता का विषय है ‘हंस’ का निर्बाध गति से बढ़ना। आलोचकों के लिए राजेन्द्र जी कहते हैं कि “श्मशान में बैठे गिद्ध भूख से बेचैन है कि अभी तक ‘हंस’ की लाश क्यों नहीं आ रही”। राजेन्द्र जी ‘हंस’ की गुणवत्ता को लेकर अति सचेत रहें। उसे बनाए रखने के लिए विचारों के साथ कभी समझौता नहीं किया जिससे कुछ लेखक ‘हंस’ के स्थायी शत्रु तक बन गए।

‘प्रभा की चिट्ठी – ‘हंस’ की नारीवादी उड़ान’ संपादकीय में प्रभा खेतान ने स्त्री मुक्ति के विषय में हंस और संपादक राजेन्द्र यादव की महत्ता को स्पष्ट किया है। प्रभा खेतान लिखती हैं कि “उसके बिना न तो मेरी नारीवादी बौद्धिकता और न ही हंस और मेरी यह संयुक्त परियोजना संभव थी।”¹ मुक्ति के लिए दमित समाज को अपने आपको इतिहास में दर्ज कराने का दायित्व स्वयं ही उठाना होता है। आत्मानुभावों के ब्योरो से ही व्यवस्थित इतिहास की नींव डाली जा सकती है। स्त्रियों के पास भी उनके निजी अंतरंग अनुभव ही उनके अस्त्र हैं। इन अनुभवों की प्रामाणिकता ही इतिहास के पन्नों में दर्द की चीत्कार के साथ दर्ज होती है। अपने संपादकीय में प्रभा खेतान स्त्री मुक्ति को लेकर महादेवी वर्मा के कला मंदिर के प्रांगण में दिये भाषण को याद करती हैं। “न जाने इन महलों की नींव में कितनी मीराएँ सोई पड़ी हैं। उनसे यदि कोई एक भी अंगारा दहक उठे तो आप समझिए,

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’ मार्च 2001, पृष्ठ सं. 7.

स्त्री- समाज आमूल रूप से परिवर्तित हो जाएगा। राख के ढेर में यदि एक अंगारा ही बचा हो तो वह सौ दीयों को जलाने की क्षमता रखता है।” महादेवी वर्मा के विद्रोही भाषण में सामंती समाज में स्त्रियों की दबी चीखों को वाणी मिली परंतु सामंती समाज इस विद्रोही आलोचनात्मक रवैये को जड़ से उखाड़कर फेंकने की हर मुमकिन कोशिश करता रहा क्योंकि स्त्रियों से समाज अस्वीकृति की अपेक्षा ही नहीं करता उनका स्वभाव हर पीड़ा को बिना किसी शिकायत के सहना बना दिया गया है, इसीलिए महादेवी का भाषण सत्ताधारी पुरुषों को अपने घर की औरतों को हवा देने वाला और अपने वर्चस्व पर ग्रहण पड़ता दिखाई देता है क्योंकि स्त्रियाँ अब अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार नहीं है बल्कि स्त्रियाँ अपने अधिकारों को समझने लगी हैं। सबसे महत्वपूर्ण है स्त्रियों का अपनी वैयक्तिक पहचान को लेकर सजग होना। राजेन्द्र यादव जी का स्त्री मुक्ति को लेकर जो दृष्टिकोण था उसे प्रभा खेतान तब समझ पाई जब राजेन्द्र जी के कहने पर प्रभा जी ने “सेकंड सेक्स” को पढ़ा और उसका अनुवाद किया। “स्त्री उपेक्षिता” नाम से इस पुस्तक का अनुवाद हुआ। समाज में सेक्स को लेकर किस प्रकार की हीन मानसिकता है, इसका उदाहरण हमें देखने को मिलता है जब प्रभा खेतान की अनुवादित पुस्तक “सेकंड सेक्स” का विज्ञापन यौन समस्याओं वाले विज्ञापनों के साथ छपता है। स्त्रियों को समाज में केवल उसकी देह तक ही सीमित कर दिया जाता है। स्त्रियों की यौनिकता को पुरुष समाज देह और देह के उपयोग तक बांध देता है। यहाँ जरूरी है ये समझना की सेक्स और जेंडर दो अलग अलग चीज़ें हैं। सेक्स उसकी जैविकता से तथा जेंडर उसके लैंगिकता (जिसमें समाज स्त्रियों की सामाजिक भूमिका उसकी अवस्थिति निर्धारित करता है) से संबंधित है।

समाज में अधिकतर लोग स्त्रियों की मुक्ति को यौन-उच्छृंखलता का पर्याय मानते हैं। स्त्रियों के आंदोलन का मुख्य पक्ष है वर्चस्वविहीन समाज की स्थापना, जहां स्त्रियों को भी समानता का अधिकार प्राप्त हो। पुरुष समाज द्वारा स्त्रियों की स्वायत्ता और स्वतन्त्रता को महत्वपूर्ण ही नहीं माना गया। लिंग के आधार पर उसका हमेशा से ही दमन होता आया है। नारीवाद स्त्रियों को मुक्ति

दिलाने के लिए तथा स्त्री समाज में सामूहिक चेतना उत्पन्न करने के लिए प्रयासरत है। स्त्रियों को इन परम्पराओं की अंधेरी गुफाओं से निकलने के लिए संघर्ष करने से कतराना नहीं है क्योंकि यदि स्त्रियाँ स्वयं संघर्ष नहीं करेंगी तो इन अंधेरी गुफाओं से निकालना उनके लिए संभव नहीं हो सकेगा और स्त्रियाँ ताउम्र रोशनी की तलाश में उसी गुफा के भीतर भटकती रह जाएंगी। भूमंडलीकरण से स्त्री की स्थिति में बदलाव आया है वह बाज़ार का हिस्सा बन गयी है। स्त्रियाँ ने हमेशा पुरुषों से बराबर का हक़ मांगा है अब जरूरी है मिले हुए अधिकारों को संभालने का क्योंकि सिद्धांत और व्यवहार की जमीनी हक़ीक़त बेहद विचलित कर देने वाली है। केवल अपनी दोयम स्थिति को लेकर प्रलाप और विलाप करने से ना तो समस्या का समाधान होगा और ना इस क्रूर व्यवस्था को कमजोर किया जा सकेगा, परिवर्तन के लिए इस अमानवीय व्यवस्था का विरोध करना आवश्यक है, जहां स्त्रियों को मानवीय रूप में स्वीकारा ही नहीं जाता। स्त्रियाँ पुरुषों के खिलाफ नहीं हैं, न ही वे पुरुषविहीन समाज की कल्पना करती हैं। उनका विरोध पुरुष-सत्ता के खिलाफ है। प्रभा खेतान होल्डरनीन के शब्दों के लिखती हैं कि “इस भयानक समय में प्रतिरोध का यह आखिरी क्षण है। यदि अभी नहीं तो कभी नहीं। खामोशी का अर्थ हुआ हमेशा के लिए चूक जाना।”¹ प्रभा जी स्त्री समस्याओं की तह में जाकर यह जानने, समझने की कोशिश करती हैं कि आखिरकार स्त्रियाँ इतना शोषण और दमन कैसे झेलती हैं। इतना सब दमन झेलने के बाद भी कैसे स्त्रियाँ अपने स्वत्व, अपने स्वाभिमान को, अपने जीवन मूल्यों को बनाए रखने की कोशिश करती हैं? आर्थिक स्वतन्त्रता स्त्रियों की स्वतन्त्रता की पहली सीढ़ी और पहली शर्त मानी जाती है। सिमोन ने इस विषय की गंभीरता को समझते हुए लिखा है कि “औरत की पहली लड़ाई अर्थ की दुनिया से शुरू होती है। मैंने भी जीवन जीते हुए यही सीखा है कि पैसे कमाने से स्त्री निर्णय लेना सीखती है और निर्णय की क्षमता उसके संघर्ष को मजबूत करती है।”² स्त्रियों के साथ कार्यक्षेत्र में होने वाले शोषण पर भी

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 11.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 12.

प्रभा खेतान जी लिखती हैं कि क्यों अधिकतर प्रतिष्ठित पदों पर पुरुष ही आसीन होते हैं? क्यों स्त्रियों को काम अधिक और वेतन कम दिया जाता है? भूमंडलीकरण भी इस नारी-विरोधी स्थिति में कुछ खास बदलाव नहीं कर सका है। बल्कि भूमंडलीकरण ने भी स्त्रियों की स्थिति से लाभ ही उठाया है। कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को भी प्रभा खेतान अपने इस संपादकीय में उठाती हैं जो स्त्री मुक्ति के लिए महत्वपूर्ण है और इनका समाधान होना अति आवश्यक है। जैसे मुफ्त श्रम की मांग और अपेक्षा केवल स्त्रियों से ही क्यों की जाती है? क्यों अपने ही परिवार में भी स्त्रियों की स्थिति भी शोचनीय होती है जबकि स्त्री के बिना एक परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती, फिर ये नियम किसने बनाए कि परिवार के सब सदस्यों के खाने के बाद ही स्त्री खाने की हकदार है? प्रत्येक समाज के इतिहास भूगोल की सीमाओं से हटकर देखा जाए तो स्त्रियाँ प्रत्येक समाज में प्रताड़ित होती आयी हैं। नब्बे के दशक में स्त्री मुक्ति सामग्री और लेखिकाओं को प्रोत्साहित करने के लिए हंस ने एक सशक्त मंच प्रदान किया। स्त्री मुक्ति के लिए ‘हंस’ ने अविस्मरणीय भूमिका निभाई है।

“भूमंडलीकरण और स्त्री का मुक्ति-प्रसंग (वामपंथी आलोचना का समय)” में सौजन्य संपादक अभय कुमार दुबे भूमंडलीकरण द्वारा स्त्री मुक्ति की दिशा में किए गए दावे की खुलकर आलोचना करते हैं। वे लिखते हैं कि “स्त्री की दुनिया में भूमंडलीकरण और भूमंडलीकरण की दुनिया में स्त्री की अवस्थिति कुछ ऐसे प्रश्नों, कुछ ऐसी दुविधाओं और कुछ ऐसे संघर्षों की ज़मीन पर बदल गयी है। जिनकी शिकायत करना आज की सबसे बड़ी जरूरत है।”¹ भूमंडलीकरण खुद को स्त्री का हितैषी बताता है, लैंगिक रूप से तटस्थ होने का दम भरता है जबकि नारीवाद से इसका कोई ताल्लुक नहीं है फिर भी स्त्री मुक्ति संघर्ष में भूमंडलीकरण अपनी भूमिका अवश्य मानता है। अभय कुमार दुबे अपने इस संपादकीय में भूमंडलीकरण के दावों पर कटाक्ष करते हुए सीधे ये सवाल करते हैं कि “परिवार, विवाह की संस्था, धर्म और परंपरा को कोई क्षति पहुंचाने का कार्यक्रम अपनाये बिना यह चमत्कार कैसे हुआ? स्त्री को प्रजनन करने या न करने का अधिकार

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’ मार्च 2001, पृष्ठ सं. 13.

नहीं मिला, न ही उसके प्रति लैंगिक पूर्वाग्रहों का शमन हुआ, न ही उसे इतरलिंगी सहवास की अनिवार्यताओं से मुक्ति मिली और न ही उसकी देह का शोषण खत्म हुआ- फिर बाज़ार ने यह सबलीकरण कैसे कर दिखाया?¹ आज भी ये सभी प्रश्न समाधान की तलाश में समाज के सामने खड़े हैं। इस अंक में प्रकाशित लेख भूमंडलीकरण और स्त्री मुक्ति के संबंधों की शिनाख्त करता है कि भूमंडलीकरण स्त्री मुक्ति के लिए कितना सहायक है या वह स्त्री के सबलीकरण करने की आड़ में स्त्रियों की उपेक्षा करता है। भूमंडलीकरण में स्त्री कितनी प्रतिशत व्यक्ति के रूप में स्वीकारी गयी और इस प्रक्रिया के दौरान वह कितनी वस्तु समझी गयी। इन सभी प्रासंगिक मुद्दों को इस अंक के समाहित किया गया है।

‘सबल स्त्री का शास्त्र’ में अशोक झा ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को आधार बनाकर स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले कमतर आँकने को निराधार साबित किया है। पुरुष श्रेष्ठता का विचार विज्ञान की दृष्टि में निर्मूल है। स्त्री की शारीरिक कमजोरी को महत्व देकर उसके व्यक्तित्व को सीमित कर दिया जाता है। स्त्रियों की विशेषताओं को उनकी कमजोरी बना दिया जाता है। उनके मासिक धर्म को अपवित्रता की श्रेणी में डाल दिया गया है। स्त्रियों का जीवन केवल संतान प्राप्ति तक ही सीमित कर दिया गया है। अशोक झा ने अपने इस लेख में कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का जिक्र किया है जिनमें नैताली एंजियर की ‘वूमेन : एन इंटिमेट जियोग्राफी’, डियान हेल की ‘जस्ट लाइफ अ वूमेन : हाउ जेंडर साइन्स इज रिडिफाइनिंग फीमेल’ हेलन फिशर की ‘द फ़र्स्ट सेक्स : द नेचुरल टलेंट्स ऑफ वीमेन एंड हाउ दे विल चेंज द वर्ल्ड’ इन पुस्तकों द्वारा वैज्ञानिक तथ्यों से स्त्री को कमतर मानने की प्रवृत्ति को खारिज किया गया है। हेल्स के शब्दों में ‘‘स्त्री एवं पुरुष के बीच जो अंतर है वह वास्तव में एक अंतर-भर है, न कि किसी तरह की गड़बड़ी, क्षति या बीमारी का कोई संकेत। महिलाएं ‘अन्या’ नहीं, बस एक अलग लिंग हैं।² अलग लिंग होने से स्त्री समाज पुरुष के अधीन रहे या यूँ कहें कि इन वास्तविक भिन्नताओं के चलते पुरुष वर्ग स्त्री का शासक बन जाए, ये अधिकार

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 13.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 184.

आखिर उन्हें कैसे प्राप्त हुआ? जबकि वैज्ञानिक रूप से ये बात साबित हो चुकी है कि ये भिन्नताएँ हैं न कि स्त्रियों की कमजोरी। बचपन से ही स्त्रियों को हर पल ये आभास कराया जाता है कि ये लड़कियाँ हैं उन्हें ये करना है ये नहीं करना है। अध्ययन से ये साबित भी हुआ है कि 3 साल तक के दोनों लिंग के बच्चों में समान आक्रामकता होती है परंतु लड़कियों को इसी समय से ही लड़की होने का आभास करा दिया जाता है। उनकी ऐसी कंडीशनिंग कर दी जाती है कि वो दबना शुरू कर देती हैं। स्त्रियों की कामेच्छा को महत्व नहीं दिया जाता उसको भी दबा दिया जाता है। इस प्रश्न को भी लेख भी उठाया गया है। पुरुष चाहे कितनी ही स्त्रियों के साथ संबंध रखे समाज को इस बात से फर्क नहीं पड़ता परंतु स्त्रियों की कामेच्छा को अपराध माना जाता है। इसके पीछे ये कुत्सित मानसिकता काम करती है कि स्त्रियाँ तो केवल एक पुरुष की बनकर रहे, पर पुरुषों पर यह नियम लागू नहीं होता। स्त्रियों की इस अन्या बना दी गयी स्थिति को अशोक झा ने वैज्ञानिक तथ्यों से नेस्तनाबूद कर दिया है।

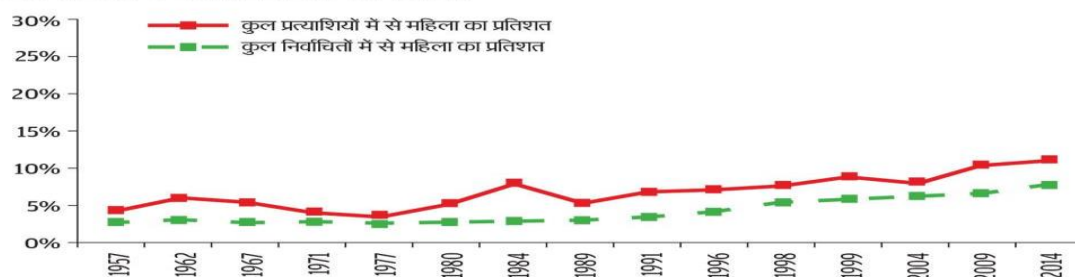
महिला आरक्षण 'मांग और अधिकार के बीच' लेख में विजय शर्मा ने महिला आरक्षण विधेयक' के मुद्दे को उठाया है। इस विधेयक के अंतर्गत लोकसभा और राज्य विधान सभाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान है। इस बिल को सबसे पहले 12 सितंबर 1996 में एच. डी. देवगौड़ा सरकार ने 81वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में संसद में पेश किया गया था। उसके बाद कई बार इस विधेयक को पेश किया गया परंतु संसद में यह विधेयक पारित नहीं हो सका। 2010 में तमाम राजनीतिक अवरोधों को दरकिनार करते हुए इस विधेयक को राज्यसभा में पास कर दिया गया, परंतु अबतक इस विधेयक को लोकसभा में पास नहीं किया गया है और यह अभी तक लंबित है। महिलाओं का राजनीति में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए इस विधेयक का पास होना जरूरी है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के दशकों बाद भी महिलाओं की राजनीति के क्षेत्र में भागीदारी नगण्य स्थिति में है। महिला विधेयक बिल का इतना विरोध और

¹ https://www.bbc.com/hindi/news/010910_womenbill.shtml

उपेक्षा के पीछे कौन सी मानसिकता काम करती है? इस विषय पर शीरीन एम. राय और कैरोल स्पैरी की पुस्तक वुमेन मेम्बर इन द इंडियन पार्लियामेंट (women member in the Indian parliament) में लिखते हैं “महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व का कारण विभिन्न दलों में राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी तथा पुरुषवादी मानसिकता को बताया गया है”¹ लोकसभा में महिलाओं के प्रतिनिधित्व को इन आंकड़ों से समझा जा सकता है कि महिलाओं के हित के लिए महिला आरक्षण विधेयक कितना आवश्यक है। चित्र:- ²

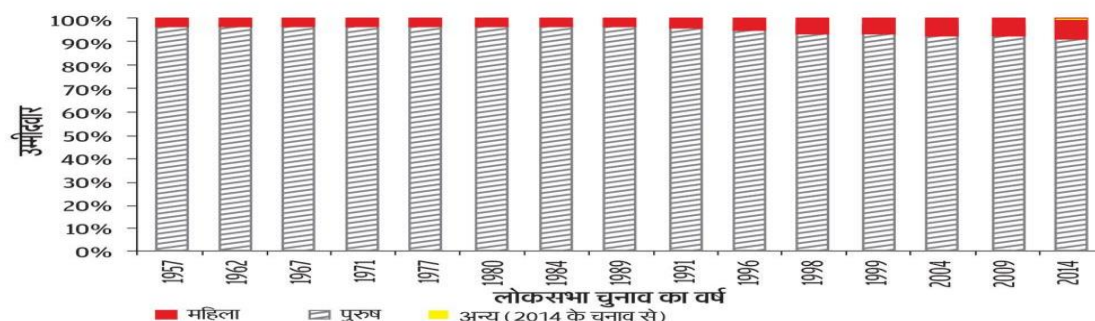
लोकसभा में महिलाएं

1957 से 2014 के बीच लोकसभा चुनावों में प्रदर्शन



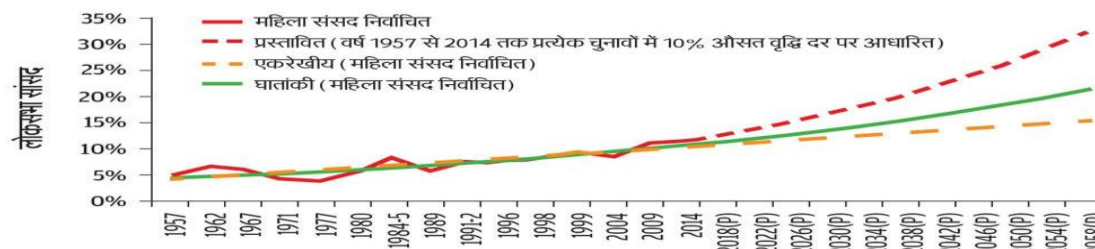
महिला बनाम पुरुष

चुनावों में महिला उम्मीदवार बढ़ने की गति बेहद सुस्त है



2050 तक 33% महिलाएं संसद में

वर्तमान परिदृश्य में आरक्षण के बिना लोकसभा में महिलाओं की उपस्थिति का आकलन



स्रोत : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित “परफार्मिंग रिप्रेजेंटेशन : विमन मेम्बर्स इन द इंडियन पार्लियामेंट” पुस्तक। आंकड़ों का विश्लेषण लेखकों ने भारतीय निर्वाचन आयोग की रिपोर्ट्स के आधार पर किया है

¹ महिलाओं के आरक्षण और समानता का मुद्दा- <https://www.drishtiias.com/hindi/burning-issues-of-the-month/women-reservation-still-eluding>

² <https://images.app.goo.gl/EXjPqHHTjaq91Xh78>

महिला आरक्षण विधेयक पुरुषों को अपने राजनीतिक एकाधिकार पर खतरा मालूम होता है इसीलिए वे इस विधेयक में कुछ न कुछ खामिया ढूंढ कर इसे पारित नहीं होने देते। समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष मुलायम सिंह यादव, बसपा की उपाध्यक्ष मायावती राष्ट्रीय जनता दल के अध्यक्ष लालू प्रसाद यादव इस विधेयक के धुर विरोधी थे। शरद यादव ने इस विधेयक का विरोध यह कहकर किया था कि इससे ‘बालकटी-परकटी’ महिलाओं का प्रभुत्व बढ़ जाएगा। ऐसा भी देखा जाता है कि जब महिला उम्मीदवार की सीट आरक्षित होती है तब पूर्व विधायक अपनी पत्नी को चुनाव में खड़ा कर देते हैं। चुनाव जीतने के बाद पत्नी अपनी गृहस्थी में वापिस भेज दी जाती है और विधायकी के सारे निर्णय विधायक के पति ही लेते हैं। 3 अप्रैल 2020 को इसी समस्या को लेकर दीपक कुमार निर्देशित “पंचायत” नाम की वेब सीरीज आई थी। इसकी पटकथा से समझ आता है कि समाज कैसे महिला का राजनीति से अलगाव स्थापित करता है। उसकी भूमिका को सीमित कर देता है और आखिर इस विधेयक का विरोध क्यों है? और इसका पारित होना महिलाओं के लिए आवश्यक क्यों है? यह लेख आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना अपने लिखे जाने के समय था।

‘मुसलमान स्त्रियाँ: दुख और आँसू’ लेख में क्षमा शर्मा ने मुस्लिम महिलाओं के जीवन की दारुण अवस्था की कहानी को उन्हीं की जुबानी कह सुनाई है। अनेक महिलाओं ने अपनी दयनीय स्थिति को सामने रखा है। “वायस आफ द वायसलैस” एक रिपोर्ट का भी क्षमा जी जिक्र करती हैं जिसके माध्यम से भारत में रहने वाले मुस्लिम महिला वर्ग की दारुण सामाजिक अवस्था का आंकलन किया जा सकता है। बालविवाह, अशिक्षा, पति का अनेक शादियाँ करना, तीन तलाक, घरेलू हिंसा, दहेज की मांग, पिता या पति द्वारा वेश्यावृत्ति में धकेलना या शेखों को बेच देना, दर्जनों बच्चों, उनके लालन पालन की चिंता, पति का गुजारा बत्ता ना देना। इन महिलाओं ने मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की यातनाएँ झेली हैं। एक पीड़िता का दर्द इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है कि “जब भी औरतों के अधिकार की बात की जाती है, कुरान का हवाला दे दिया जाता है।

लेकिन कुरान में तो चोरों के हाथ काटने की बात कही गयी, मगर इसे मानव अधिकार कहकर रफा- दफा कर दिया जाता है। कहा जाता है कि हम बीसवीं सदी में रह रहे हैं। क्या स्त्रियाँ बीसवीं सदी में नहीं रह रही हैं?”¹ इस तरह के अनेक प्रश्न जो मुस्लिम महिला की स्वतन्त्रता के आड़े आते हैं उन्हें क्षमा शर्मा अपने इस लेख में उठाती हैं। यह लेख वर्तमान समय से लगभग 20 वर्ष पहले लिखा गया था। ऐसे ही समस्त विरोधों और अधिकारों के लिए लड़े संघर्ष का ही परिणाम है कि 30 जुलाई 2019 को तीन तलाक के खिलाफ कानून पास किया और इसे दंडनीय अपराध घोषित किया। अमर उजाला में प्रकाशित ‘तीन तलाक के खात्मे का एक साल’ 27 जुलाई 2020 के लेख में क्षमा शर्मा लिखती है कि “जब सरकार ने तीन तलाक के खिलाफ कानून बनाया तो बहुतासी मुस्लिम महिलाएं खुशी में मिठाई बांटते दिखी थीं। तीन तलाक पुरुष वर्चस्व की ही निशानी थी, जिसे धर्म के नाम पर डराकर कभी चुनौती देने की कोशिश नहीं की गयी थी।”² आज मुस्लिम महिलाएं और उनकी आने वाली पीढ़ियाँ इस भय से मुक्त हैं कि उन्हें बिना किसी कारण के तलाक दिया जा सकता है। ऐसे संघर्षों से ही स्त्री स्वतन्त्रता की नींव समाज में डाली जा सकती है।

‘औरत की जगह’ लेख में अल्का आर्य हमारे सामने तथ्यों के माध्यम से सत्य की परख करती हैं कि समाज में औरत की जगह कहाँ है? कितने प्रतिशत महिलाओं को अपने लिए निर्णय लेने की स्वतन्त्रता है? राजनीति में स्त्रियों की कितनी हिस्सेदारी हुई है? महिलाओं पर हिंसा के प्रतिशत में कितना इजाफा हुआ है। बलात्कार के मुद्दों में कितनी बढ़ोतरी हुई है? रोजगार के क्षेत्र में महिलाओं की उपस्थिति में वृद्धि कितनी हुई? इससे उन्हें कितना लाभ प्राप्त हुआ? साक्षरता दर में जो लैंगिक विभेद है उसके कारणों को खोजना तथा समाज में यह सोच विकसित करना अत्यंत आवश्यक है कि स्त्रियों को शिक्षित बनाने से ही समग्र सामाजिक विकास संभव हो सकेगा। स्त्रियों के स्वास्थ्य संबंधी आंकड़ों को भी इस लेख में शामिल किया गया है। स्त्री के सामाजिक विकास

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 179.

² <https://www.amarujala.com/columns/opinion/one-year-to-end-three-divorces>

के लिए इन सभी मुद्दों की असंतोषजनक स्थिति को आंकड़ों के माध्यम से सामने रखा गया है, इस असंतोषजनक स्थिति में सुधार की दरकार है।

‘भूमंडलीकरण का प्रति-भूगोल/ पितृ-सत्ता के नए रूप’ अभय कुमार दुबे का यह लेख भूमंडलीकरण में पितृसत्ता कितनी मजबूत हुई या उसके स्वरूप में कैसे और कितना बदलाव आया उन प्रश्नों को उठता है। क्यों स्त्रियों को शिक्षा और अधिकारों से दूर रखकर केवल वंशबेली बढ़ाने की एक कोख मात्र समझा जाता है? उसके केवल इतर लिंगी सहवास को ही नैतिक और स्वाभाविक माना जाता है। भूमंडलीकरण के दौरान महिला श्रम के आंकड़ों में बढ़त तो हुई क्योंकि बाज़ार और भूमंडलीकरण को नारी श्रम की आवश्यकता थी परंतु भूमंडलीकरण ने स्त्रियों की समस्याओं के समाधान को लेकर कभी भी पहल नहीं की। औरत को सस्ते और लचीले श्रम के रूप ही इस्तेमाल किया गया। भूमंडलीकरण ने स्त्री श्रम का उपयोग करते समय नर-नारी विषमता की सामाजिक स्थिति पर भी ध्यान नहीं दिया क्योंकि स्त्री की घरेलू और अधीनस्थ अवस्था ही अधिक फायदेमंद थी। जिससे कम वेतन में उसे अधिक श्रम प्राप्त हो सके। “औरत को देह के बंधनों से निकाल कर सचेत बनाने में भी उसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी इसलिए उसने सुंदर औरत को विदुषी और विदुषी औरत को सुंदर मानने से इंकार किया। कुल मिलकर भूमंडलीकरण ने औरत की पारंपरिक अधीनस्थ छवि को कायम रखते हुए उसकी सुंदरता के संस्थागत इस्तेमाल को वैश्विक आयाम प्रदान कर दिया।”¹

स्त्री देह, उसके श्रम, उसकी सामाजिक स्थिति, उसके अस्तित्व का जितना दोहन भूमंडलीकरण के दौरान हुआ उतना दोहन पहले कभी नहीं हुआ। भूमंडलीकरण ने पितृसत्ता को नया रूप प्रदान किया जहां केवल स्त्री शोषण की परंपरा रही है। आर्थिक और आधुनिकीकरण को पुरुषों से ही मूलतः जोड़ा स्त्रियों से नहीं जिससे स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आने के संभावित अवसर भी सीमित हो गए और पितृसत्ता की जड़े और मजबूत होती गयीं। इस लेख में अभय

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’ मार्च 2001, पृष्ठ सं. 27.

कुमार दुबे जी ने अनेक स्तरों पर स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को आवाज़ दी तथा भूमंडलीकरण और स्त्री मुक्ति के लिए उसके किए गए दावे पर चोट की है। नारी की देह का निर्यात करके देश विदेशी मुद्रा को प्राप्त करते हैं और अपनी डूबी अर्थव्यवस्था को संभालने की कोशिश करते हैं पर साथ ही वे नारी को वेश्यावृत्ति की ओर धकेल देते हैं। यौन व्यापार का यह परिदृश्य प्रत्यक्ष रूप से भूमंडलीकरण से ही जुड़ता है। विदेशों में स्त्रियाँ यौन-दासत्व बनकर रह जाती हैं। औरत के श्रम को लेकर समाज कितना असंवेदनशील है? आज भी आर्थिक रूप से देखा जाए तो स्त्रियों की भूमिका हाशिये पर ही है। इनमें से जो औरतें ताकतवर हैं, आर्थिक रूप से समर्थ हैं वो भी घर परिवार की समस्याओं से कितनी मजबूर हैं? बच्चों के लिए अपने कैरियर की आहुति देने को केवल स्त्रियाँ ही क्यों विवश है? कार्यस्थल पर उसके साथ कितना शोषण हुआ? क्या उसे ऑफिस में उसकी काबिलियत के मुताबिक जिम्मेदारियाँ दी गईं? पदोन्नति के लिए अपनी देह का शोषण सहना पड़ा? इस तरह स्त्री पुरुष के श्रम विभाजन की जो सदियों से चलती आ रही परंपरा है, उस पर इस लेख में प्रहार किया गया है। मीडिया ने स्त्री की छवि इस तरह की बना दी है कि यदि कोई अपनी सेक्सी छवि को बदलने की कोशिश करें तो कहा जाता है कि बिल्लियाँ अपनी त्वचा की लकीरों को नहीं बदल सकती। स्त्री अपनी बाजारी छवि को बदलने के लिए छटपटाती रहती है, उसे केवल कुशल गृहणी के गुणों से युक्त दिखाया जाता है और अपनी मुक्ति के लिए स्त्रियाँ प्रयासरत भी हैं, स्त्रियों की गृहणी छवि की कैद का प्रश्न जो अभय कुमार दुबे ने उठाया उससे आज भी समाज जूझ रहा है। अभी 20 जुलाई 2020 को स्कॉच ब्राइट जो बर्तन धोने के लिए प्रयोग में लिया जाता है। कार्तिक श्रीनिवासन नाम के एक व्यक्ति ने इस उत्पाद की उत्पादक कंपनी पर आरोप लगाते हुए कहा कि “लोगो में एक महिला की तस्वीर है जिसने एक बिंदी लगा रखी है, ये इसलिए बता रहा हूँ ताकि अंतर पता चल सके कि स्कॉच ब्राइट के दूसरे देशों के लोगो में भी महिला का चेहरा था। मैंने सोचा कि क्या स्कॉच ब्राइट के सभी प्रोडक्ट्स में ये लोगो है? कपड़े पर से गांठे और रोयें हटाने वाले लिंट रोलर में ये नहीं है, लेकिन स्क्रब पैड/ स्पंज, सिंक ब्रश, झाड़ू, टायलेट ब्रश में ये लोगो

है, लेकिन 2020 में ऐसे जेंडर मार्कर बेहद अजीब और गलत लगते हैं। मुझे पूरी उम्मीद है कि 3M में काम कर रहे लोग इस बात का संज्ञान लेंगे और इस लोगो को अपडेट करेंगे”¹ इस शिकायत पर ध्यान देकर इसके जबाब में “घर सबका काम सबका” की मुहीम भी चलाई गयी तथा स्त्री की पारंपरिक घरेलू छवि को बदलने और समानता की और कदम बढ़ाने का प्रयास किया गया है। भूमंडलीकरण ने स्त्री के लिए रोजगार के अवसर तो उपलब्ध करवाए क्योंकि उसको स्वयं स्त्री श्रम की आवश्यकता थी। निर्यातोन्मुख विकास का पर्याय ही स्त्रियों का निर्यात बना दिया गया। वेश्यावृत्ति, महिलाओं का व्यापार और बलात्कार, पति द्वारा बलात्कार जैसे मुद्दों को भी इस लेख भी उठाया गया है।

सुधीश पचौरी का लेख ‘एक अधखुला क्षण सौंदर्य मिथक की द्वंदात्मकता’ में स्त्री और सौंदर्य के जो मिथक समाज का हिस्सा हैं जिससे स्त्री बंधी रहती है, उनका उल्लेख नाओमी वुल्फ की पुस्तक ब्यूटी मिथ से उन मिथकों को तोड़ने का प्रयास तथा स्त्रियों की स्वतन्त्रता को महत्व दिया है। माना जाता है कि जो सुंदर है वह बुद्धिमान हो ही नहीं सकता। फैशन, मॉडल और अभिनेत्रियों के रूप में और महंगी यौन कर्मियों के रूप में कामकाजी सुंदर स्त्रियों का एक वर्ग बन गया है। सुंदरता स्त्रियों के लिए एक योग्यता समझी जाती है। दरअसल पुरुष इस बात से भयभीत रहते हैं कि यदि स्त्रियों ने आजाद होकर प्रगति कर ली तो उनके वर्चस्व का क्या होगा? इसलिए स्त्रियों को बांधे रखने के लिए सुंदरता के पैमाने निर्धारित कर दिए जाते हैं। स्त्रियों से हमेशा परफेक्ट बॉडी की अपेक्षा की जाती है। इस लेख में सुधीश पचौरी उन मिथकों पर प्रहार करते हैं जिनसे स्त्री केवल देह समझी जाती है। समाज में स्त्रियों को उनकी सुंदरता के आधार पर ऊंचा और नीचे समझा जाता है। नाओमी वुल्फ की ‘ब्यूटी मिथ’ पुस्तक के हवाले से सुधीश पचौरी स्त्रियों की मुक्ति के लिए अनेक प्रश्न सामने रखते हैं कि “क्या वह स्वयं कभी अपनी देह में होती है? युवा और

¹ <https://www.youtube.com/watch?v=np65diUZzIY&t=140s>
<https://www.youtube.com/watch?v=muvgmrZmlYc>, (घर सबका काम सबका)

सुंदर दिखना क्यों जरूरी है? क्या हम स्त्री देह की अन्य अवधारणाओं और रूप की कल्पना कर सकते हैं? क्या सुंदरता वाकई सेक्स है? क्या एक स्त्री की यौनता उसके रूप में निहित है? क्या औरत की यौनता और उसकी बनाई छवि में कोई संबंध है? क्या यौनता को किसी भी चीज की तरह खरीदा या बेचा जा सकता है?¹ स्त्री मुक्ति के लिए प्राथमिक रूप से आवश्यक है कि उन्हें चयन की स्वतन्त्रता मिले। जिससे वो इन मिथकों की जड़े कट सकें और उनकी जकड़ से स्त्री मुक्त हो सकें। हमेशा स्त्रियों की देह को परीक्षा से गुजरना पड़ता है। स्त्रियों की यौन-बराबरी के प्रश्न को लेकर आज भी समाज गूंगा है। “ब्युटी विथ ब्रेन” वाली बात को समाज हमेशा नज़रअंदाज़ करता है। सुंदर औरत विदुषी कैसे हो सकती है? इस मिथ को स्त्रियाँ समय समय पर तोड़ती आई हैं और अपनी दक्षता को भी प्रमाणित भी करती आई हैं। ऐसा 2020 के संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा में चयनित प्रतिभागी ऐश्वर्या श्योरण नाम की लड़की ने सिद्ध कर दिखाया है जो 2016 की मिस इंडिया प्रतियोगिता की फ़ाइनलिस्ट भी रह चुकी हैं इसीलिए यह समझना केवल मिथ ही साबित हो रहा है कि स्त्रियाँ केवल देह तक ही सीमित हैं और उनमें पुरुषों के बरकस कम संभावनाएं हैं। सुधीश पचौरी भी अपने इस लेख में इन्हीं सौंदर्यात्मक मिथ्यों की द्वंदात्मकता को तोड़ने की बात करते हैं।

‘पूँजी की ललमुनियाँ’ लेख अनामिका जी ने लिखा है जिनमें वे भूमंडलीकरण और स्त्री की स्थिति पर विचार करती हैं। कैसे भूमंडलीकरण और पितृसत्ता दोनों ही स्त्री शोषण में भागीदार हैं। वैश्वीकरण पर टिप्पणी करते हुए अनामिका जी लिखती हैं कि “वैश्वीकरण में ‘वशीकरण’ की आहट ऐसे ही दर्ज है जैसे ‘स्त्री’ में इस्तिरी की। इस्तिरी यानि युगों से गठरियाँ पड़े प्रश्नों की सिलवटें सीधी करने के यत्न में इधर-उधर घिसटता बेचैन गरम लोहा (धूमिल का वह ठंडा लोहा भी नहीं जिसका स्वाद लोहार से नहीं, पूछना था उस घोड़े से जिसके मुंह में लगाम थी।)”²

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 105.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 95.

उस लड़की को आदर्श माना जाता है जो सिगरेट सी टांगों, मुट्ठी- भर कमर और मटकती आँखों वाली बाबी गुड़िया हो। भूमंडलीकरण ने जाने अनजाने स्त्रियों की अस्मिता का थोड़ा बहुत विकास तो किया है परंतु निचले पदों तक ही यह सीमित है। भूमंडलीकरण ने समाज में तीन तरह की नारियों के रूप विकसित किए हैं एक तो तमाम तरह के साज सज्जा से दबी ढकी औरत, जिसको पर्फेक्ट बॉडी चाहिए और उस स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वो अक्षतयौवना बाबी गुड़िया जैसी हो, दूसरी बाजार में खरीदारी करती निपुण गृहिणी या सुपरमॉम, तीसरा तमाम कार्यक्षेत्रों में निचले पदों पर कार्यरत महिलाएं जिन्हें अपने बॉस द्वारा शारीरिक-दोहन, कुंठाएँ, घरेलू हिंसा जैसे सभी विकृतियों को झेलना होता है। अनामिका जी उज्ज्वल भविष्य की कामना भी करती हैं। भविष्य में वो दिन नहीं होंगे जब बड़ी उम्र की कुंवारियों, परित्यक्ताओं, विधवाओं और माँ न बनने वाली नारियों को समाज के लोग डायन और कटखनी कटुता के मिथ को उस स्त्री के साथ जोड़कर उसका जीवन दूभर कर देते थे।

‘इक्कीसवीं सदी का नारीवाद’ में प्रगति सक्सेना ने नाओमी वुल्फ़ की पुस्तक फायर विद फायर : द न्यू फ्रीमेल पावर एंड हाऊ इट विल चेंज द ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी के माध्यम से स्त्री मुक्ति आंदोलन में आ रहे परिवर्तनों को रेखांकित किया है। इक्कीसवीं सदी में नारी मुक्ति आंदोलन कैसे स्वयं को एक नए मुकाम पर खड़ा पाता है। स्त्री का आर्थिक सबलीकरण मुख्य मुद्दों में शामिल हो गया था। लेख में विस्तार से उत्पीड़ित नारीवाद, शक्ति आधारित नारीवाद की उन विशेषताओं को बताया गया है जिससे स्त्री मुक्ति आंदोलन नियंत्रित होता है। किसी पूर्वपरिभाषित परिभाषा में स्त्री पुरुषों को नहीं बांधना चाहिए। किसी भी भावना पर किसी एक वर्ग का एकाधिकार नहीं होता। विशेष भावनाओं को किसी एक वर्ग के साथ जोड़ने से यह दोनों वर्गों के साथ अन्याय है क्योंकि इससे उनको मनुष्य रूप में संपूर्णता में नहीं देखा जाता। पहले स्त्रियाँ खुद को नारीवादी (फेमिनिस्ट)

कहने से कतराती थीं वहीं नाओमी वुल्फ़ कहती है कि “इस स्तर पर कहना कि ‘मैं एक फेमिनिस्ट हूँ’, यह कहने की तरह होना चाहिए कि ‘मैं एक इंसान हूँ’।”¹

‘आकाश चाहने वाली लड़की के सवाल’ में रोहिणी अग्रवाल ने स्त्री लेखन को लेकर महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। क्या केवल स्त्री ही अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त कर सकती हैं? क्या समाज स्त्री लेखन को स्वीकारने के लिए तैयार है? आलोचकों ने स्त्री लेखन को साहित्य में अलग महत्व देने से इंकार भी किया। आलोचक डॉ नामवर सिंह कहते हैं “ऐसा साहित्य अर्ध-साहित्य को प्रतिबिंबित करता है। यह लेखन तत्कालीन प्रतिक्रिया का परिणाम है, जबकि साहित्य का मूल स्वरूप मानव को मुक्ति प्रदान करने वाला है। खंड-खंड में मुक्ति साहित्य का लक्ष्य नहीं है”² परंतु इस बात से इत्तेफाक रखना आज के समय में बेमानी होगा क्योंकि स्त्रियों ने अब अपनी मुक्ति, अपनी अस्मिता के लिए बरसों से दबी हुई अपनी आवाज़ को अपने लेखन के जरिये समाज के समक्ष एक ऐसा आईना रखा है जिसमें समाज की असमानता की सूरत दिखाई देती है जिसमें स्त्रियाँ घर की बेड़ियों में कैद हैं और इस स्थिति में परिवर्तन की दरकार अब स्त्रियों ने महसूस की है।

नक्सलवादी नारियां कॉलम में भिन्न भिन्न क्षेत्रों में जनजाति समुदाय की स्त्रियों की सक्रिय आंदोलन में भूमिका और संघर्ष को दिखाया गया है। लीला किसान, के. अजिता जैसी स्त्रियों ने संघर्षमय बचपन, सरकार के अत्याचार, आंदोलनों के दौरान गिरफ्तारी, उनके साथ हुई अनेक बदसलूकियाँ, बलात्कार की धमकियाँ से भरा जीवन व्यतीत किया है। इन स्त्रियों को कई स्तरों पर उत्पीड़न झेलना पड़ता है। सरकारी उत्पीड़न, जमींदार का उत्पीड़न, पुरुषों द्वारा किया उत्पीड़न। इन क्रांतिकारी स्त्रियों को क्रांति को छोड़ने और गृहस्थी में वापिस लौट जाने के लिए तरह तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं। यहाँ तक कि क्रांतिकारी पुरुष भी अपनी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। परंतु इन स्त्रियों ने कभी भी अपनी क्रांतिधर्मिता से समझौता नहीं किया। खुद को और समाज की अनेक स्त्रियों को आंदोलन में भागीदार बनाया।

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री-भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 75.

² सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, ‘स्त्री-भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप’, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 171.

‘स्त्री की पराधीनता के कारण’ (जेम्स स्टुअर्ट मिल) लेख का सार हमें प्रगति सक्सेना के इस लेख से प्राप्त होता है। स्त्रियों के विषय में इसमें समानता का सबसे महत्वपूर्ण विचार मिल द्वारा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दिया। मिल के ‘सब्जेक्शन आव वुमेन’ (स्त्री की पराधीनता) निबंध को ‘स्त्री का अधिकारों के लिए किए गए संघर्ष’ के इतिहास में मील का पत्थर कहा जाता है। लेख में पुरुष वर्चस्व को मनुष्य की प्रगति में बाधक बताया गया है। इस पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था को समाज के हित में सबसे बड़ा रोड़ा माना है। मिल ने एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना की है जहां स्त्री पुरुष दोनों समान हों। न कोई शोषक हो न कोई असहाय। स्त्रियों को स्वयं इस व्यवस्था से लड़ना होगा और अपनी इस परंपरा से स्वीकार्य अधीनस्थ स्थिति को बदलना होगा। स्त्री का कार्य केवल परिवार की स्थिति को सुविधाजनक बनाना ही समझ लिया गया है। इस अधीन स्थिति में परिवर्तन के स्वर भी उठने लगे हैं। स्त्रियाँ ज्यादातर अपने पति के द्वारा किए जा रहे अत्याचार के खिलाफ आवाज़ नहीं उठाती और न उन अधिकारों को लेकर ही सतर्क हैं जो स्त्रियों की सुरक्षा के लिए बनाए गए हैं। स्त्रियों को बचपन से ही आत्मसमर्पण के भाव की शिक्षा दी जाती है जबकि पुरुषों को आत्मनिर्भर और आत्मसंयमी। इसी निर्धारित मानकों के बदलाव की मांग मिल इस लेख में करते हैं। स्त्रियों को अपने बारे में स्वयं खुलकर विरोध करना होगा तभी पुरुष समाज स्त्रियों के विषय में पर्याप्त संवेदनशील हो पाएंगे और स्त्रियों से प्राप्त जानकारी जो अभी तक नाकाफी, सतही और कमजोर है, पर पर्याप्त चिंतन कर पाएंगे। स्त्रियों के विषय में कहा जाता है कि वे जो साहित्य लिख रही हैं वह काफी सीमित है। इसका कारण उन्हें मौलिक विचारों के लिए वो स्वतंत्र परिवेश ना मिल पाना है जिससे उनके विचारों का स्वाभाविक विकास हो सके, फिर भी स्त्रियाँ साहित्य में धीरे-धीरे ही सही मुखर हो रही हैं। मिल ने इस निबंध में स्त्रियों को कार्यों के चुनाव की स्वतन्त्रता, विवाह संस्था में स्त्री की स्थिति, यदि पति का स्त्री पर पूर्ण अधिकार है तो स्त्रियों को पति के चुनाव की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए जैसे प्रश्न, विवाह में समान अधिकार और कर्तव्य, स्त्रियों का संपत्ति में समान दर्जा, किसी भी व्यवसायों में स्त्री को वर्जित न समझना, मताधिकार, महिलाओं को

अपनी प्रतिभा को मांझने के लिए पर्याप्त समय मिलना चाहिए, बौद्धिकता में स्त्री पुरुष समानता जैसे प्रश्नों को प्रबलता से उठाया जो स्त्री मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

इस अंक में प्रकाशित कहानियाँ स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं पर समाज को सोचने पर विवश करती हैं। ‘कवच’ कहानी ऐसी ही कहानी है जो बालमनोविज्ञान के साथ-साथ समाज की उस मानसिकता को सामने लाती है जो स्त्री को एक बाजारू वस्तु मानने को विवश है। इस कहानी का पात्र गौन्या बाज़ार में अपनी माँ पर पुरुषों की गिद्ध दृष्टि को बचपन से देखता हुआ बड़ा हो रहा है। अब उसे पुरुषों के द्वारा माँ को अपमानजनक शब्दों से संबोधित करने से तथा बुरी दृष्टि से देखने से कुंठा महसूस होती है। वह हर बुरी दृष्टि से अपनी माँ को बचाना चाहता है। वह माँ को पल्लू ठीक करने तथा विद्रोह करने के लिए भी कहता है। “ऐ मामी आम कैसे..... दिखाओ तो तुम्हारे आमा।” इस आवाज़ से गौन्या की तंद्रा भंग हो गयी। उसने देखा एक आदमी माँ को छेड़ने की कोशिश कर रहा है।”¹

‘भंगुर’ कहानी मूलतः उड़िया भाषा की एक छोटी कहानी है। इस कहानी का कलेवर भले ही छोटा हो परंतु इस कहानी में स्त्री की अनेक समस्याओं पर बात की गयी है जैसे गृहस्थ जीवन से स्त्रियों के जीवन में आने वाले बदलाव, स्त्रियाँ कैसे अपने अस्तित्व को न्योछावर कर सब कुछ अपने पति और बच्चों के लिए समर्पित कर देती हैं। जो स्त्रियाँ अपने पति बच्चों के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर देती है तब भी वह अकेलेपन की शिकार हैं। अपनी कला, शौक, इच्छाओं को तिरंजलि देते हुए भी स्त्रियाँ बिल्कुल सकपकाती नहीं है। कैसे एक स्त्री दिन भर काम करती है और रात में भी उसका अपने शरीर, अपनी नींद पर अधिकार नहीं होता। आज भी समाज में अधिकतर स्त्रियों को बस संभोग की वस्तु बनकर पुरुष के आने का इंतज़ार करना पड़ता है तब तक वह थकान होने के बावजूद सो तक नहीं सकती। ऐसी ही असहनीय स्थितियों का शिकार कहानी की पात्र आरती है। “दिन भर की थकान मानो घेर लेती है उसे। बिस्तर छूते ही आँखें मुँदने लग जाती

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 167.

हैं- चेतना शक्ति खोने लग जाती है.....। किन्तु चाबुक मारने जैसा कोई निर्देश मानो चौंका देता है उसे। उसे जागते रहना होगा, श्रीकांत के आकर सोने तक। उसके बाद वे उसकी देह चाह सकते हैं या नहीं भी। यदि उसकी चाह हुई तो अर्धचेतन रूप से आरती को साथ देना होगा।”¹

इस अंक में गीतांजली श्री के उपन्यास तिरोहित का अंश भी प्रकाशित हुआ साथ ही आत्मकथाओं में वामा की करुक्कु जैसा जीवन और मैत्रेयी पुष्पा के कस्तूरी कुंडल बसै को भी प्रकाशित किया गया। स्त्रियों की रचनाओं को हंस में नियमित रूप से स्थान मिला। जिससे स्त्रियों को आत्मविश्वास और प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा।

¹ सं राजेन्द्र यादव, विशेष सं. प्रभा खेतान, स्त्री- भूमंडलीकरण: पितृ-सत्ता के नए रूप, मार्च 2001, पृष्ठ सं. 199.

5.1.4 स्त्री-विमर्श: अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान

‘हंस’ का यह नवम्बर 2009 अंक प्रभा खेतान की स्मृतियों को समर्पित है। इस अंक को स्त्री मुक्ति विशेषांक की कड़ी के रूप में जोड़ने के पीछे का मूल उद्देश्य भी यही था कि प्रभा खेतान ने अपने वैचारिक चिंतन में स्त्री मुक्ति को ही सबसे अधिक केंद्र में रखा। नारीवादी प्रभा खेतान को उनके बहुमूल्य नारीवादी चिंतन व हिन्दी साहित्य को उनकी रचनात्मक अमूल्य निधि के लिए हमेशा स्मरण किया जाएगा। इस अंक के माध्यम से ‘हंस’ ने प्रभा खेतान को श्रद्धांजलि ज्ञापित की है।

‘मेरी तेरी उसकी बात’ संपादकीय कॉलम में ‘समाधान मांगता स्त्री विमर्श’ के अंतर्गत राजेंद्र यादव ने अपनी संपादकीय कलम से स्त्री मुक्ति के सबसे महत्वपूर्ण मुद्दे को उठाया जो मुद्दा सीधे-सीधे स्त्री देह के जाकर जुड़ता है। राजेंद्र यादव कहते हैं कि “सबसे पहले तो स्त्री को देह के स्तर पर ही मुक्त होना पड़ेगा क्योंकि नैतिकता, संस्कृति-धर्म और देह-शुचिता के सारे बंधन स्त्री देह को लेकर ही हैं।”¹ मुक्त देह को बाज़ार अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करता है और देह का तब तक प्रयोग करता है जब तक वह उनके लिए लाभकारी हो अंत में बाज़ार उसको कूड़ा समझ फेंक देता है। बाज़ार के द्वारा प्रयोग की गयी देह का संघर्ष और विरोध स्त्री को निरंतर नितांत अकेला करता जाता है। एक देह का सौंदर्य जब अस्त होने लगता है तो अन्य चमकते सौंदर्य को बाज़ार लपक लेता है और ढलते अस्त होते सौंदर्य की कोई सुध तक नहीं लेता।

आतिथ्य संपादकीय में अर्चना वर्मा ‘परिवार-सत्ता और स्त्री-विमर्श’ में स्पष्ट शब्दों में कहती हैं कि भारतीय समाज में पितृसत्ता का अर्थ है परिवार-सत्ता। परिवार ही पहला ऐसा स्थान है जहां स्त्रियों पर अन्याय की दास्तां आरंभ होती है। पश्चिमी स्त्रीवाद का भारत में पूर्णतः अनुकरण होना ना तो संभव है ना ही स्वाभाविक क्योंकि सबके अपने-अपने अलग संघर्ष और भिन्न देशकाल परिस्थितियां होती हैं। तमाम भिन्नताओं के होते हुए भी वैश्विक बहनापे की भावना के पीछे प्रत्येक

¹ सं. राजेंद्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 6.

स्त्री के साथ होने वाली समन यातनाओं की पीड़ा है। समाज स्त्री को जड़विहीन ही रखता है। उसे एक परिवार के संस्कारों को ग्रहण कर फिर दूसरे घर की रीत और संस्कारों में फिर से खुद को ढालना होता है। कहीं भी उसे स्थायित्व प्राप्त नहीं होता। पुत्र को जन्म देने के बाद स्त्रियों को शक्तिरूपा मातृका का सम्मान दिया जाता है जबकि पुत्र प्राप्ति से पहले अनेक स्त्रियों ने मानसिक और शारीरिक हिंसा, अन्याय, अपनों से मिली उपेक्षा, अपमान के दंश को झेला है। आत्मनिर्भर स्त्रियाँ अनुकंपाजनित सुरक्षा और संरक्षण को लेने से इंकार करती हैं, न्यायोचित अधिकारों की मांग करती हैं। वहीं कुछ आत्मनिर्भर स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं जो तरह-तरह की हिंसाओं का शिकार हैं फिर भी परिवार की खातिर विवाह के अनुबंध को निभाती रही हैं। स्त्री-विमर्श एक अनुशासन के रूप में अब अधिक परिपक्व और बहुआयामी पहचान हासिल कर चुका है। स्त्री-विमर्श को लेकर पहले जो भ्रांतियाँ, भय, एक नकार की स्थिति थी जिससे अनेक लेखिकाएँ खुद को स्त्रीवादी लीक में खुद को शामिल किए जाने से कतराती थीं, अब उस दृष्टि में खासा बदलाव आ गया है।

स्मृति शेष प्रभा खेतान कॉलम के अंतर्गत राजेन्द्र यादव और अभय कुमार दुबे ने प्रभा खेतान से संबंधी आपसी अनुभवों और प्रभा खेतान की नारीवादी विचारधारा को साझा किया है। राजेन्द्र यादव जी 'अरे, ये लाइन क्यों कट गई'? (प्रभा खेतान : एक अधूरी आत्मकथा) में प्रभा खेतान की लेखन के प्रति ललक और उनके स्त्री मुक्तिकामी विचारों पर प्रकाश डाला है। प्रभा खेतान का 'हंस' के प्रति अदम्य स्नेह ने और आर्थिक सहायता ने हंस को नियमितता से प्रकाशित होने में बहुत सहयोग किया। 'प्रभा खेतान के बहाने : नारीवाद की हिन्दी-राजनीति' लेख में अभय कुमार दुबे ने बताया है कि प्रभा की नारीवादी चेतना पर फ्रेंच फेमिनिज्म का गहरा प्रभाव था और उनकी रचनाओं में भारतीय नारीवाद की तलाश देखने को मिलती है। प्रभा खेतान परिवार संस्था को खारिज नहीं करती बल्कि उनका मानना है कि भारतीय स्त्री अपने अधिकारों को इसी दायरे में रहकर अधिक आसानी से पा सकती हैं।

स्त्री अधिकारों की दावेदारी बनाम स्त्री-देह का प्रश्न:- स्त्री के अधिकारों को आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक अधिकारों की दावेदारी तक ही सीमित कर दिया जाता है। स्त्री की यौनेच्छा को समाज कोई भी महत्व नहीं देता। सेक्शुअलिटी विमर्श को समाज हिकारत की निगाह से देखने लगता है। हिन्दी साहित्य की नारीवादी चेतना स्त्री की देह, उसकी यौनेच्छा और आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों को अलग अलग नहीं मानती। स्त्री की मुक्ति को संपूर्णता में तभी देखा जा सकता है जब उसे अपनी देह पर भी अधिकार हो। आज भी स्त्री समाज का आधे से ज्यादा तबका पुरुष (पति) के लिए बिना धन व्यय किए, सुरक्षित सेक्स आपूर्ति का साधन भर है और स्त्रियाँ ऐसा करने के लिए अभिशप्त हैं। “अधिकांश विवाहिता स्त्रियाँ भी पुरुष के लिए सेक्स की सुरक्षित और सस्ती आपूर्ति का माध्यम भर हैं। जब तक पति के साथ उसके संबंध नए सिरे से नहीं गढ़े जाएंगे तब तक वह बिना किसी भुगतान के अनिच्छित और प्रेमहीन ‘सेक्स-वर्क’ करने के लिए मजबूर है।”¹

दलित फेमिनिज्म बनाम नारीवादी आंदोलन:- समाज में जहां अधिकतर स्त्रियाँ स्त्री होने के कारण शोषण का शिकार हैं तो जातिगत भेदभाव के चलते दलित स्त्रियों को दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। दलित स्त्री को एक तरफ पितृसत्ता का तो दूसरी तरफ ब्राह्मणवाद का सामना करना पड़ता है। दलित स्त्रियाँ नारीवादी आंदोलन में जाति के प्रश्न को भी उठाती हैं। दलित आंदोलनों में अपनी पहचान के लिए संघर्ष करती हैं। दलित पितृसत्ता भी दलित स्त्रियों का शोषण करती है जो वर्ग स्वयं गैर दलित वर्ग से समतामूलक समाज की स्थापना के लिए अपने अधिकारों के लिए लड़ रहा है उस वर्ग की यह विडम्बना ही समझी जाएगी कि वह खुद संघर्षरत होते हुए भी वह एक वर्ग का शोषण करता है। एक तरफ दलित आंदोलन दलित नारीवाद को दलित एकता के लिए एक खतरा ही समझते हैं तो दूसरी तरफ नारीवादी आंदोलन में दलित स्त्रियों की दावेदारी भी नारीवादी आंदोलन की एकजुटता के लिए खतरा ही समझी जाती है। नारीवादी आंदोलन के इस

¹ सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 18.

भेदभाव के तह में भी वर्णव्यवस्था ही छिपी हुई है। अपनी समतामूलक स्थिति के लिए दलित नारीवाद निरंतर संघर्ष कर रहा है।

मातृत्व और भगिनीवाद बनाम घरेलू आधुनिकता का प्रश्न :- मातृत्व और भगिनीवाद का मूल्यवर्धन कर समाज ने उसे स्त्रियों के लिए आवश्यक गुण बना दिया है। स्त्रियों को अनिवार्य रूप से नेक, मधुर, कल्याणकारी पोषक गुणों से परिपूर्ण कर उसे श्रेष्ठ बनाकर उसकी सेक्शुअलिटी को सीमित कर दिया जाता है। स्त्रियों को अंतर्विरोध का सामना तब करना पड़ता है जब उसका सामना भूमंडलीकरण और बाजारवाद की संरचनाओं से होता है। परिवार में मातृत्व का अतिशय किया जाता है। आत्मकथाओं के माध्यम से यदि वह अपने परिवार, और पति की सच्चाई को सार्वजनिक कर देती है तो समाज उसे आसानी से हजम नहीं कर पता। मातृत्व को बदलते समाज के साथ नए रूप से परिभाषित करना घरेलू आधुनिकता की पुनर्रचना के लिए आवश्यक और अनिवार्य हो गया है। स्त्री का परंपराजन्य पितृसत्ता(घरेलू) और आधुनिक पितृसत्ता (बाज़ार) अब दोनों से समानता के लिए संघर्ष जारी है। इन तीन महत्वपूर्ण बिन्दुओं को अभय कुमार दुबे ने नारी मुक्ति के लिए अनिवार्य समझा है।

अपने आप को गढ़ते हुए कॉलम में स्त्री की बदहाल स्थिति और स्त्री मुक्ति के लिए आवश्यक मानदंडों को लेकर एक स्वस्थ पहल की गयी है। 'औरतें आधा मनुष्य हैं और आधा स्वप्न', 'घर, घरेलूपन और स्त्री का जीवन' दोनों लेख स्त्री की घरेलू छवि और उस छवि में स्त्री के शोषण की गहराई को मूल्यांकित किया गया है। औरतें आधा मनुष्य हैं और आधा स्वप्न में सोनी गुप्ता ने स्पष्ट किया है कि औरत का अस्तित्व अधूरा है, उसका वास्तविक स्वरूप पूर्णतः उसका अपना नहीं है। वह इस स्वरूप में आधी है और आधे स्वरूप को समाज ने उसके ऊपर थोपा है। काल्पनिक चीजों को आधार बनाकर उसका स्वरूप निर्धारित किया गया है। दया, करुणा, प्रेम, सौंदर्य, कोमलता, विश्वास, ईश्वरत्व आदि गुणों को स्त्री की प्रकृति बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। स्त्रियाँ भी स्वेच्छा से इन आरोपित मूल्यों को आत्मसात कर लेती हैं। इन ऐस्थेटिक्स मानकों के आधार पर

ही पुरुष समाज स्त्रियों को उपनिवेशित कर उनके संपूर्ण व्यक्तित्व का प्रयोग करते हैं। “औरत की मुक्ति की लड़ाई में जो सबसे केंद्रीय और मुश्किल बिन्दु है, वह यही ऐस्थेटिक्स है। क्योंकि न केवल सामाजिक संरचना बल्कि पूरे समाज-मनोवैज्ञानिक मानवीय इकाई में उन्हें लेकर यह ऐस्थेटिक्स ही सबसे गहरे बैठा हुआ है। इस ऐस्थेटिक्स से परे कुछ और हो ही नहीं सकती, यह पूरी मानवता का अडिग विश्वास है। वैसे भी औरत को इस महान ऐस्थेटिक्स से परे होने की आवश्यकता ही क्या है। जब वह पहले ही मनुष्य योनि की सबसे ऊंची सीढ़ी-मानवता पर पहुँच चुकी है तो भला क्यूँ छल-कपट, बुद्धि, महत्वकांक्षा, कमजोरी इत्यादि से भरी एक तार्किक मनुष्य बन जाए। जो दुनिया और उसमें स्वयं का आंकलन बड़ी तटस्थता और निर्ममता के साथ कर स्थिति को बदलने के लिए संघर्ष करता है। यह सब तो आम/पूर्ण मनुष्य की रंगभूमि है। सौ औरतों को करुणामयी, दयामयी इत्यादि होकर ही मारना पड़ेगा।”¹ इन मूल्यों को स्त्रियाँ अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेती हैं। पुरुष तभी स्त्रियों को उपनिवेश बना उनका श्रम शोषण करता है। स्त्री और पुरुष का घर से भिन्न संबंध होता है। स्त्रियों के लिए घर उसके जीवन का केंद्रीय निवास है। स्त्रियाँ बाहर भी यदि निकलती हैं तो कुछ समय बाद घर में उसकी वापसी हो जाती है। पुरुष के लिए घर आराम पाने का साधन है जिसका वह इस्तेमाल करता है। स्त्री ने घर को अपने ‘स्व’ का हिस्सा समझा है। प्रत्येक रिश्ते को स्त्री श्रद्धापूर्वक सींचती है। घर रूपी पौधे को वह पूरी लगन से सींचकर एक वृक्ष बनाती है परंतु उससे उत्पन्न फल को वह खुद नहीं भोग पाती और उसका उपभोग भी पुरुष ही करता है। औरत घर परिवार के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है पर संपत्ति का हकदार पुरुष ही होता है। औरत घर और उसके घटकों का प्रयोग नहीं कर पाती। घर की व्यवस्था को औरत विवेक से मजबूती देती है पर औरत की स्थिति जड़ बनी रहती है।

सविता सिंह के लेख ‘घर, घरेलूपन और स्त्री का जीवन’ में भी पितृसत्ता को कठघरे में खड़ा करके स्त्री के घरेलू श्रम के अवमूल्यन के मुद्दे को उठाया गया है। स्त्री के घरेलू कामों का कोई अंत

¹ सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, , पृष्ठ सं. 22.

नहीं है बल्कि विस्तार ही विस्तार है। स्त्री श्रम को मुफ्त श्रम समझा जाता है। पूंजीवाद हो या समाजवाद दोनों ही व्यवस्था में स्त्री श्रम को बनाए रखने की कोशिश की जाती है क्योंकि दोनों व्यवस्था पितृसत्ता के द्वारा ही संचालित होती है। जब तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था को गहराई से समझा नहीं जाता तब तक बदली तकनीक से स्त्री के घरेलू जीवन की त्रासदी, क्रूरता से किए गए स्त्री के शोषण के गर्त की तह को समझना संभव नहीं है। प्रत्येक समाज में स्त्री की यही स्थिति है कि वह अपने अस्तित्व को घर के लिए कुर्बान कर देती है और समाज उसे, उसके अस्तित्व को भी विस्मृत कर देता है। किसी को उसका नाम भी याद नहीं रहता वह फलां की बेटी फलां की पत्नी, बहू माँ बनाकर ही उसे भुला दिया जाता रहा है। स्त्री श्रम के बिना सामाजिक व्यवस्था को चलाना संभव नहीं है और इस बात से पितृसत्तात्मक व्यवस्था बखूबी वाकिफ भी है परंतु स्त्री ही केवल अपने श्रम के मूल्य को जानकर भी अनभिज्ञ बनी रहती है और अपने श्रम के मूल्य की मांग नहीं करती। स्त्री अपने परिवार की खुशियों और आराम लिए दिन-रात खपती रहती है पर उसके पास अपने लिए ही न समय है न कोई खुशी प्राप्ति का साधन। स्त्री की घरेलू स्थिति और इस स्थिति में स्त्रियाँ कैसे बदलाव लाकर बेहतर जीवन व्यतीत कर सकती हैं, यह इन दोनों ही लेखों से समझा जा सकता है।

‘शिकंजे का दर्द’ में सुशीला टाकभौर ने अपने जीवन के उन क्षणों को सामने रखा है जो किसी भी स्त्री के लिए एक चुनौती और साहस का काम है। अपने पति के खिलाफ बोलने के लिए बेखौफ होना और सामाजिक उपेक्षा सहने के लिए खुद को मानसिक रूप से तैयार करना होता है। घरेलू हिंसा और आर्थिक शोषण का शिकार होने का सुशीला टाकभौर ने मार्मिक चित्रण किया है। सुशीला ने पुरुषों की मनुवादी मानसिकता और उस मानसिकता से स्त्रियों का शोषण कैसे होता है इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “यह मनुवादी मानसिकता पुरुषों में है। स्त्रियों पर शासन करना। उन्हें दासी समझना, उन्हें संपत्ति का अधिकारी नहीं बनने देना, उन्हें हमेशा अपने नियंत्रण में रखना,

अपना दोष न देखकर स्त्रियों को ही दोष देना। स्त्रियों को अधिकारहीन बनाकर रखना।”¹ स्त्रियाँ चाहे गृहस्थी संभालती हो या नौकरीपेशा शोषण सबका होता आया है, बल्कि ये कहा जाए नौकरीपेशा स्त्रियाँ समाज में अधिक शोषित हैं तो यह कोई अचरज की बात नहीं होगी। पुरुष अपने समक्ष हर कदम पर स्त्री को हीन ही समझता है। सुशीला टाकभौर नौकरीपेशा स्त्री रहीं फिर भी उनका जीवन आर्थिक विपन्नता, घरेलू हिंसा में ही गुजरा। “तू मेरे सामने कुछ भी नहीं है तेरी औकात सिर्फ एक बर्तन मांजने वाली नौकरानी के बराबर है” न जाने क्यों टाकभौर जी मेरी शिक्षा, डिग्री, नौकरी, सम्मान और वेतन को कभी अहमियत नहीं देते थे।”² स्त्री को पुरुष समाज मानसिक तौर पर कमजोर करता है। इसी तरह का जीवन समाज की अधिकतर स्त्रियाँ जीने को अभिशप्त हैं। न वे किसी से शिकवा, शिकायत कर सकती हैं क्योंकि समाज ने स्त्रियों को शिकायत करने का अधिकार ही नहीं दिया। स्त्रियाँ इसे अपनी नियति मान सब सहती है और इसी संताप में अपना जीवन गुजार देती हैं पर आज इस परंपरा को तोड़ने की आवश्यकता स्त्रियाँ महसूस करती हैं और अपनी वास्तविक मुक्ति की प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं।

‘.....खाने के और दिखाने के और!’ लेख मुस्लिम समाज की स्त्रियों की दयनीय अवस्था, उस पैदाइश और बन्दिशों वाली परवरिश से मुस्लिम स्त्रियों में बढ़ते आक्रोश को दिखाया गया है। अधिक पत्नियाँ रखना, त्वरित तलाक, घरेलू हिंसा, बाल विवाह, बेमेल विवाह, अधिक बच्चे पैदा करने को मुस्लिम स्त्रियाँ बाधित हैं, पर कसीदे यहाँ तक पढ़े जाते हैं कि केवल इस्लाम धर्म में ही औरत को इज्जत और बहबूदी हासिल है। औरत सिर्फ इस्लाम में ही महफूज हैं और उसे उपभोग की वस्तु बनने से केवल इस्लाम धर्म ही एक मात्र सहायक है। जबकि इस्लाम धर्म की ज़मीनी हक़ीक़त इन बातों से कोसों दूर है। औरत को जन्नत तब मिलती है जब वो अपने शौहर की इज्जत करे या यूँ कहें कि अपने शौहर की गुलामी करें। ज्यादा बच्चें पैदा करें। “एक अल्लाह एक इस्लाम के नारे के नीचे यह नीच साहित्य औरत को न सिर्फ कामपिपासु बताता है और बल्कि

¹ सं. राजेन्द्र यादव स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 37.

² सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 38.

शिकार करने वाली, चुगलखोर, गीबत (परनिंदा) करने वाली, झगड़ालू, पैसे-आराम की भूखी, काहिल, बहानेबाज़ और खानदान-परिवार तोड़ने वाली भी बताता है और 'यही वजह है कि औरतें जन्नत में कम होंगी'।¹ मुस्लिम समाज में स्त्रियों के जीवन को नियंत्रित करने के लिए तमाम तरह के प्रतिबंध लगाए गए हैं जिनके खिलाफ लेख में आवाज़ उठाई गयी है।

प्रभा खेतान की स्मृति को समर्पित इस स्त्री विशेषांक में प्रकाशित कहानियों में स्त्री समस्याओं के विभिन्न पहलुओं को समेटा गया है। स्त्रियों को पुरुष समाज से अधिकतर दुत्कार, अपशब्दों से ही संबोधित किया जाता है और कैसे ये अपशब्द स्त्री के जीवन का अभिन्न हिस्सा बना दिये जाते हैं और स्त्रियाँ इनको सुनने की इतनी अभ्यस्त हो चुकी हैं कि उन्होंने गालियों को भी अपने नाम, अपनी पहचान की तरह अपना लिया है। 'पुरुष विमर्श' कहानी में पुजारी अपनी पत्नी को पुकारते हुए गाली देता है "प्रत्येक बार ऐसा ही होता है जब पुजारी कहते 'रांड' उसको सुनाई देता सिद्धू की माँ....!"² यहाँ स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता और अस्तित्व उसके सम्बन्धों का आवरण तो ओढ़े हुए हैं ही बल्कि उसके व्यक्तित्व पर अपशब्दों का लबादा भी डाल दिया जाता है। महत्वाकांक्षी और स्वावलंबी स्त्रियों को भी अपने जीवन में तमाम तरह के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। पहला अवरोध अपने परिवार से ही मिलता है, 'कुल-जोड़' कहानी इसका एक अच्छा उदाहरण है। स्त्री की आर्थिक स्थिति मजबूत होने पर पुरुष असहज महसूस करने लगते हैं और पारिवारिक स्थिति के भी मनमुटाव और तनाव रहने लगता है क्योंकि पुरुष स्त्री की मजबूत छवि देखने का आदी नहीं है। 'यह मिथक नहीं' कहानी में घरेलू हिंसा की समस्या को केंद्र में रखा गया है। जिसमें सावित्री अपना पूरा जीवन पति सतराम की सेवा, गुलामी में गुज़ार देती है। अपनी पत्नी को सतराम इतनी बेरहमी से पीटता है जिस पत्नी की वजह से आज वो ज़िंदा है। "उफ! वह पत्नी जिसके शरीर को उसने चौबीस-पच्चीस वर्ष तक छक कर भोगा हो। जिसकी कोख ने उसे पाँच-पाँच संतानें दी हों, जो उसके घर में ही नहीं बाहर भी नौकरानी की तरह खटती हो, जिसने अपनी सारी शक्ति,

¹ सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 52.

² सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 58.

समस्त ऊर्जा, संपूर्ण क्षमताएं उसके घर को बनाने-सँवारने में गर्क कर दी हों। बीमार होने पर जिसने अपने पति को अबोध बच्चे की तरह अपनी गोद में समेटा हो, उसकी तीमारदारी की हो।”¹ ऐसी समर्पित पत्नी के साथ ऐसी बदसलूखी कैसे की जा सकती है? बल्कि किसी भी मनुष्य को इतना अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इतनी बेदर्दी से पीटें क्योंकि ये घाव केवल शारीरिक नहीं होते।

समाज में स्त्रियों के साथ यौन-हिंसा को सबसे जघन्य अपराध माना जाता है, और इस अपराध के आंकड़ों में प्रतिदिन जिस दर से बढ़ोतरी हो रही है लगता नहीं कि इस अपराध के दंड से समाज में किसी भी प्रकार का भय है। न समय रहते अपराधियों को सजा मिलती है और न पीड़िता को न्याय मिलता है इसलिए इस कुकृत्य को करने के लिए समाज के कुत्सित मानसिकता के प्राणी निर्भीक हैं। जब इस महापराध से पीड़िता को न्याय नहीं मिलता तब स्त्री बाकी घरेलू हिंसा, गालियों, वेश्यावृत्ति में धकेले जाने जैसे अपराधों में न्याय की क्या ही आशा रखें। भीतर जो पीड़ा स्त्री को पति द्वारा पीटे जाने पर होती है उसका न्याय कैसे मिलेगा? पुरुष स्त्री को पीटकर उसे अपने पुरुषार्थ का प्रदर्शन समझता है। स्त्री की आत्मा पर अनेक गहरे आंतरिक घाव होते हैं जिसका अपमान सहना हर स्त्री के लिए मानसिक पीड़ा से गुजरने वाला होता है। ऐसी पीड़ा को कहानी ‘एम. एल.सी.’ के माध्यम से देखा जा सकता है जहां खेंरूनबाई अपने साथ होती रोज मार-पिट्टाई की मानसिक पीड़ा के चलते देवर पर बलात्कार का झूठा आरोप लगाती है क्योंकि वह हर कीमत पर अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का बदला लेना चाहती है। किसी की बीवी होने से क्या स्त्री का खुद पर बिल्कुल अधिकार नहीं रह जाता? जब पति पत्नी से नशे के लिए वेश्यावृत्ति करवाए तब कैसे परिवार की इज्जत बनी रहती है? और स्त्री यदि अपनी मर्जी से किसी ऐसे पुरुष से संबंध बनाए जिससे उसे प्रेम है तब पुरुषों को परिवार की इज्जत जाने का खतरा होता है। क्या

¹ सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ सं. 78.

खानदान की इज्जत और ब्याहता होने के ठेका स्त्रियों ने ही ले रखा है? इन समस्याओं को इस कहानी में उठाया गया है।

गर्भावस्था जो स्त्रियों के लिए आनंद और पीड़ा का सामंजस्य होता है। इस अवस्था में स्त्रियों के मन में उठने वाले प्रश्नों को 'भावनात्मक असंतुलन' कहानी के माध्यम से देखा जा सकता है। समाज में बढ़ते बलात्कारों के बारे में सोच कर स्त्री को लगता है कि क्या इन वीभत्स परिस्थितियों के चलते किसी नयी जिंदगी को इस दुनिया में लाना उचित होगा? स्त्रियों को इन सवालों और परिस्थितियों से गुजरना ही पड़ता है कि पहला बच्चा लड़का होना चाहिए। गर्भावस्था में होने वाले भावनात्मक असंतुलन को इस कहानी में केंद्रित किया गया है। 'बेलिबास' कहानी में विवाहपूर्व गर्भावस्था जैसी समस्या को उठाया गया है जिसमें केवल स्त्रियों को ही दोषी और चरित्रहीन घोषित कर दिया जाता है। 'घर-परिवार' कहानी में बिना विवाह सहवास संबंधों को केन्द्रित किया गया है।

'यातना और संघर्ष लेकिन स्वप्न?' स्तम्भ के अंतर्गत स्त्री जीवन के संघर्ष, उनके जीवन की यातनाओं और समानता का जीवन जो समाज की प्रत्येक स्त्री का स्वप्न है, इस स्वप्न में कैसे पितृसत्तात्मक समाज बाधक है। इन लेखों के माध्यम से स्त्रियों की स्थिति को अभिव्यक्त किया है। 'अपने अपने युद्ध लेख' में रजनी गुप्त ने स्त्रियों के जीवन की उन घटनाओं का जिक्र किया है जिन्हें वे रोज झेलती हैं। ये युद्ध उन्हें रोज अपने ही परिवार के पुरुषों से लड़ने होते हैं। स्त्रियों की इच्छाओं को पुरुष समाज हमेशा से दबाता आया है। श्रमिक महिलाओं का श्रम शोषण, अपनी इच्छाओं और सपनों की हत्या एक स्त्री परिवार की खातिर हमेशा से करती आई हैं। संघर्ष करते करते, स्वयं को मुठभेड़ के लिए तैयार करने के क्रम में स्त्रियों को अनेक अपमान का सामना करना पड़ता है। पति यदि दूसरी पत्नी रखता है या किसी के साथ उनसे संबंध हैं और वह पत्नी को त्याग देता है, फिर भी आज का समाज स्त्रियों से ही ऐसी अपेक्षा करता है कि वह सब कुछ सहते हुए बच्चों के पालन पोषण में अपना पूरा जीवन व्यतीत कर दें। पुरुष समाज स्त्रियों के जीवन को हमेशा से ही

संचालित करता आया है। ना केवल परिवार बल्कि बाहर के पुरुष भी स्त्रियों पर अंकुश लगाने को तत्पर रहते हैं। रजनी गुप्त इस लेख में स्त्रियों को रूढ़ियों से खुद को मुक्त करने तथा अपने अधिकारों के लिए युद्ध करने की प्रेरणा देती हैं “स्त्री जिस दिन खुद पर थोपी गई रूढ़ियों या परंपरागत मूल्यों से खुद को मुक्त कर लेगी, तभी से उसके निर्द्वंद्वता और निडरता का अहसास जगेगा और ठीक उसी पल वे बेखौफ होकर अपने प्रति हो रहे अन्याय का प्रतिकार करना सीख जाएंगी।”¹

‘परिभाषा से परे’ लेख में दलित स्त्री के अधिकारों की बात की गई है तो साथ ही पितृसत्ता व्यवस्था को चुनौती देते हुए करवाचौथ व्रत को स्त्री अधीनता का प्रतीक माना है और उसको पुरुष वर्चस्व का जीवंत उदाहरण बताया है। ‘पंजाब के गाँव में महिलाओं की स्थिति’ लेख में रीमा भाटिया ने 2007-2008 के एक फील्ड वर्क के दौरान एकत्रित किए गए आंकड़ों के माध्यम से पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की अत्यंत हीन दशा पर प्रकाश डाला है। घटता लिंगानुपात, गिरती महिला साक्षरता दर, कन्या भ्रूण हत्या, पुरुष प्राप्ति से ही वंशावली में वृद्धि संभव है। लड़कियां तो पराया धन (कूड़ा) हैं। गाँव के पंच के अनुसार “लड़कियां तो पराया कूड़ा हैं, मेरी तो सात हैं और एक लड़का है। कल को जब मैं बीमार हो जाऊंगा तो मुझे कौन देखेगा। मेरा लड़का ही देखेगा। मेरी लड़कियां तो बेकार हैं।”² पुत्र को ही माता पिता के अंतिम संस्कार का अधिकार प्राप्त होता है। दहेज भी एक ऐसा घटक है जिसके कारण समाज कन्याओं को जन्म से पहले ही मृत्यु के घाट उतार देते हैं। स्त्रियों को हमेशा पितृसत्तामय जकड़न के भीतर ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। स्त्रियों पर पुत्र को ही जन्म देने का दबाव बनाया जाता है। स्त्रियों पर समाज अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगता है। जब स्त्रियाँ अपनी स्थिति में बदलाव नहीं कर सकती तो वह अपनी अधीनता को अपना भाग्य समझ उस स्थिति को अपना लेती हैं ताकि पुरुष से प्राप्त सुरक्षा का आश्वासन ही बना रहे। स्त्रियों को यह समझने की अत्यंत आवश्यकता है कि केवल उनके हित

¹ सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ 121.

² सं. राजेन्द्र यादव, स्त्री-विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान, पृष्ठ. 124.

हेतु कानून बनाने से ही उनकी स्थिति में बदलाव तब तक नहीं आ सकता जब तक वे अपनी बेहतरी के लिए पारिवारिक संरचना से मुठभेड़ कर सामाजिक परिवर्तन कर, समानता के अधिकार के लिए स्वयं खड़ी नहीं होती।

‘16 जून, 2008’ लेख में केरल राज्य के छोटे से स्थान चेंगरा में स्त्रियों का संघर्ष में अगुवाई करना। चेंगरा के संघर्ष में स्त्री-पुरुष भागीदारी एक आदर्श है क्योंकि यहाँ के संघर्ष में लैंगिक समानता को प्रमुख माना जाता है। यहाँ की व्यवस्था स्त्रियों के द्वारा निर्धारित है। संघर्ष में सक्रिय महिलाएं अलग अलग स्थानों पर रोजगार कर रही थी और अब अपने अधिकारों के लिए एकजुट होकर संघर्ष कर रही हैं। ये महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति इतनी प्रतिबद्ध हैं कि स्वतन्त्रता से जीना ही उनका लक्ष्य है और उनके संघर्ष को या तो अधिकार प्राप्ति से समाप्त किया जा सकता है या मौत के द्वारा ही उनके संघर्ष को विराम दिया जा सकता है। इस मार्ग में उन्हें औरत होने के नाते अनेक व्यवधानों को भी झेलना पड़ता है। प्रशासनिक और पुलिस कार्रवाही, बलात्कार, शारीरिक और मानसिक प्रताड़नाएँ और सदियों से ही स्त्री को शरीर मानकर उसे दुर्बल बनाने की कोशिशें भी की जाती रही हैं। चेंगरा की स्त्रियाँ शरीर की इस कैद से मुक्त हैं और प्रशासन को भी इसके प्रमाण अपने अनवरत संघर्ष से देती रही हैं। “सदियों से ‘इज्जत’ और ‘सम्मान’ के तार केवल ‘स्त्री-देह’ से जुड़े हैं। किन्तु ऐसा होने के बाद चेंगरा की स्त्रियों ने संघर्ष को न केवल तेज किया बल्कि बाहर निकलकर खुलेआम प्रशासन को चुनौती दी। चेंगरा की स्त्रियाँ आज के सभ्य समाज के लिए आदर्श बन सकता है क्योंकि यहाँ की स्त्रियों ने संघर्षरत रह कर ही समानता के अधिकारों को प्राप्त किया है।

‘देह की आज़ादी, मर्दानगी’ और बाजारवाद’ लेख में स्त्री मुक्ति से संबंधी ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार किया गया है जो आज की इक्कीसवीं शताब्दी में भी उतने ही आवश्यक हैं। पब संस्कृति, स्त्रियों को जबरन बुर्का पहनाने के लिए मजबूर करना, यदि स्त्रियाँ इसका विरोध करती हैं तो उनके मुंह पर तेजाब फेंक देना। हिंदुत्ववादी हों या इस्लामी तालिबानी हर जगह ही स्त्रियों के

साथ अन्याय होता आया है। बाजारवाद से स्त्रियों की स्थिति कितनी बदली? बदलाव किन मायनों में सकारात्मक है और किन मायनों में उसने स्त्री की स्थिति को सीमित किया? क्या स्त्रियाँ ही अपनी आपबीती लिख सकती हैं? पुरुष यदि स्त्री की पीड़ा का व्याख्यान करता है तो क्या समाज उसे स्वीकारता है? जैसे प्रश्नों को भी लेख भी गंभीरता से उठाया गया है।

5.2 'हंस' के स्त्री मुक्ति केन्द्रित संपादकीय

राजेन्द्र यादव के संपादकत्व में 'हंस' हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में एक प्रतिष्ठित पत्रिका रही है। शुरू के कुछ वर्षों में 'हंस' ने आर्थिक संकट के चलते संघर्ष किया पर राजेन्द्र यादव ने आर्थिक अभाव होने पर भी अपनी वैचारिकी के साथ कभी समझौता नहीं किया ना ही उसे कमजोर होने दिया। संघर्ष करते हुए बड़ी सफलता से राजेन्द्र यादव जी ने 'हंस' को निर्बाध रूप से प्रकाशित किया। हिंदी की दुनिया में किसी पत्रिका का संपादन सिर्फ पाठकों के बूते चलाना बहुत चुनौतीपूर्ण कार्य है। आज हंस का पाठक वर्ग न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी है। जन साहित्य का मुख्य ध्येय पूंजीवादी व्यवस्था का पुरजोर विरोध तथा मजदूर तथा श्रमिक वर्ग को प्रोत्साहन देना है। इसे प्रगतिशील जनवादी साहित्य कहा जाता है। इन्हीं विशेषताओं को आधार बनाकर चलने वाली पत्रिका को प्रगतिशील पत्रकारिता कहते हैं। हंस ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी तथा स्त्री विमर्श, दलित विमर्श के साथ-साथ समकालीन प्रासंगिक मुद्दों को उठाकर हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में एक नया अध्याय भी जोड़ा। जिससे हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में नए मानक भी स्थापित हुए। अपने संपादन काल में राजेन्द्र जी ने राजनीति में हो रही प्रत्येक गतिविधि, प्रत्येक ज्वलंत मुद्दों को पूरी जिम्मेदारी के साथ अपने संपादकीय 'तेरी मेरी उसकी बात', कांटे की बात, या बीच बहस में बार-बार उठाया है। 'हंस' में जिन भी मुद्दों पर बहस होती थी उसका प्रभाव समस्त देश पर पड़ता था। पत्रकारिता हो या समाज से संबंधित कोई भी अनुशासन वह समाज में घटित परिवर्तनों से अनभिज्ञ नहीं रह सकता।

'हंस' पत्रिका अपने समय के परिवर्तनों, सामाजिक यथार्थ के प्रति सजग भूमिका में डटकर खड़ा रही। जिसकी स्पष्ट पहचान हमें राजेन्द्र यादव की संपादकीय दृष्टि में देखने को मिलती है। राजेन्द्र यादव की वैचारिक दृष्टि एकांगी नहीं रही। वे किसी एक वैचारिक दृष्टिकोण में बंधकर रहने वाले व्यक्ति नहीं थे। उनके संपादकियों में गतिशीलता और नवीनता के तत्व देखने को मिलते हैं। संपादक की भूमिका में राजेन्द्र यादव की दृष्टि लोकतांत्रिक रही। उन्होंने निरंतर यह प्रयास किया कि

वे नए विषयों और विचारों से पाठक वर्ग को लाभान्वित करें। नए विचारों को स्थान देने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। असहमति होने पर भी राजेन्द्र यादव ने अनेक विषयों पर लेखकों को लिखने के लिए ‘हंस’ का लोकतांत्रिक मंच दिया। उनकी यही जनतांत्रिक समझ उन्हें अन्य संपादकों की कतार से अलगाती है।

राजेन्द्र यादव का ‘हंस’ विवेक ‘हंस’ के प्रत्येक अंक में प्रकाशित होने वाले लेखों, समीक्षाओं, कहानियों, बहसों, कविताओं के चुनाव से स्पष्ट हो जाता है। राजेन्द्र यादव के प्रत्येक संपादकीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्ताओं और सोच विचार की दिशाओं को व्यक्त करते हैं। उनके संपादकीय के कारण अक्सर वैचारिक बहसों पैदा हुआ करती थी। वे जो भी बोलते थे वो विवाद का मुद्दा बन जाता था। राजेन्द्र यादव ने समय के साथ आने वाली विभिन्न समस्याओं को अपनी वैचारिक समझ से हमेशा संतुलित करने का प्रयास किया। ‘कांटे की बात’ और ‘तेरी मेरी उसकी बात’ में राजेन्द्र यादव ने हिंदी प्रदेश का वैचारिक संकट, न लिखने के कारण, राष्ट्र और राष्ट्रवाद, सती-रूप कुंवर का मामला, साम्प्रदायिकता के माया जाल, साहित्य की स्वतंत्रता, बुद्धिजीवी के संकट, रचनाशीलता के द्वन्द, हिन्दू धर्म के मोह और आतंक, सच बोलने के खतरे, सत्ता और साहित्य के संबंध, अस्मिता-विमर्श के अतिरेक, पुरस्कारों की राजनीति, अतीत के प्रेत और वर्तमान की वास्तविकताएं, भारतीय जातीय व्यवस्था, दलित चेतना, समाज में स्त्री की स्थिति, आदि से जोड़ी अनगिनत समस्याओं पर अपनी बेबाक लेखनी चलायी। अपनी संपादकीय दृष्टि के विषय में लिखते हैं कि “समय और समाज के साथ जूझते हुए अपनी समझ के जाले को साफ करने की प्रक्रिया कह सकता हूँ”¹ राजेन्द्र जी ने अपनी वैचारिक दृष्टि को समाज के बदलते स्वरूप और यथार्थ को ध्यान में रखकर परिष्कृत किया। जिसकी स्पष्ट झलक हमें राजेन्द्र जी की संपादकीय दृष्टि में देखने को मिलती है क्योंकि उनकी दृष्टि में नए विचारों के लिए उत्साह है परंतु अतीत को लेकर कोई अतिरिक्त आग्रह हमें देखने को नहीं मिलता। राजेन्द्र यादव ने सामयिक

¹ डॉ. कृष्णकांत चंद्रा, डॉ. अजय बिन्द (संपा.), राजेन्द्र यादव, समानान्तर दुनिया का सूत्रधार, पृ. 123

समस्याओं को अपने संपादनत्व में तवज्जो देते हुए संपादक के दायित्व को अत्यंत गंभीरता से निभाया और समाज में व्याप्त निष्क्रियता और बौद्धिक जड़ता को अपनी यथार्थवादी दृष्टि के प्रकाश से आलोकित कर दूर करने का बीड़ा उठाया।

स्त्री लेखन और भारतीय समाज में स्त्री की मौजूदा स्थिति तथा दलित लेखन को केवल हिंदी ही नहीं पूरे राजनीतिक, सामाजिक विमर्श को केंद्र में लाने का श्रेय राजेन्द्र यादव को है। उन्होंने यह बताया कि जिस इतिहास को हम स्वर्णिम इतिहास की संज्ञा देते आए हैं, उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते, वह वास्तव में हाशिये और अंधेरगद्दी तहखानों में कैद कर दी गयी गुमनाम गाथाओं का इतिहास है। दलित तथा स्त्री मुक्ति के सवालों पर बेबाकी से लिखने के कारण राजेन्द्र यादव को व्यक्तिगत हमलों का भी शिकार होना पड़ा। उन्हें तमाम तरह के आरोपों को झेलना पड़ा कि वे व्यक्तिगत कुंठा के शिकार हैं और उस कुंठा से वे साहित्य को अश्लीलता की राह पर लेकर जा रहे हैं, 'हंस' अब साहित्यिक पत्रिका नहीं रही उसमें राजनीति का समावेश अधिक हो गया है। प्रेमचंद के 'हंस' को राजेन्द्र यादव कुख्यात करने पर तुले हैं। इन तमाम तरह के आरोपों से ना 'हंस' की उड़ान में कमी आई ना ही राजेन्द्र यादव के बेबाक तेवर में। राजेन्द्र जी जीवन और समाज से जुड़े सवाल पर अपनी आलोचनात्मक कलम चलाते रहें। जिन मुद्दों पर कई पत्रिकाएँ अपनी कन्नी काट लेती थी उन ज्वलंत मुद्दों को राजेन्द्र यादव ने बड़ी बेबाकी, बिना किसी भय के सार्थक बहस का मुद्दा बनाया।

अपने संपादन के शुरूआती दौर से ही 'हंस' ने साहित्यिक माहौल को उत्तेजित बनाये रखा। राजेन्द्र जी का कहना है कि स्त्री तथा दलितों का अपना कोई इतिहास नहीं होता कथाकार एवं 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव के शब्दों में- 'मैं हमेशा से कहता हूँ कि दलितों और स्त्रियों का कोई इतिहास नहीं है। जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह तो सवर्ण एवं पुरुषों का इतिहास है।¹ इतिहास का सच एक नहीं है क्योंकि शोषक और शोषितों के इतिहास में एक गहरी फांक है। एक

¹ सं. राजेन्द्र यादव, 'हंस', जनवरी 2001, पृ. 4.

सजक चिंतक के दायित्व से इस इतिहास की पड़ताल कर वर्चस्व की संस्कृति पर करारी चोट कर हाशिएकृत समाज के यथार्थ को उजागर करना उनका मुख्य ध्येय बना रहा। स्त्री, दलित और सांप्रदायिकता जैसे गंभीर मुद्दों को वाद-संवाद के लिए ‘हंस’ में अवकाश मिला। इस विषय पर उनका मानना था कि “ये सवाल हवाई नहीं होते समाज, धर्म और सेक्स तीन ही ऐसे मोर्चे हैं जहां परिवर्तन विरोधी अपने सुरक्षा दुर्ग बनाते हैं। हर बदलाव इन्हीं से जुड़े सवालों से जूझने और पुनर्विचार से शुरू होता है। जिसे हम यथास्थितिवाद कहते हैं वह इन्हीं मुद्दों को पहले से तय मान लेना है.... यानी नई स्थितियों और चुनौतियों से कतराकर इन पर विचार न करने की जड़ता है। आप देखेंगे कि ‘हंस’ पर.....जो आरोप लगते हैं वे सिर्फ इन्हीं तीन पक्षों को लेकर हैं।”¹

स्त्री और दलित को हाशिए से निकालकर मुख्यधारा में लाने के इस ऐतिहासिक कदम का श्रेय तो ‘हंस’ को ही जाता है। राजेंद्र यादव की संपादकीय दृष्टि के विषय में रामशरण जोशी का कथन है – “हज़ार असहमतियों के बावजूद क्या हम इससे इंकार कर सकते हैं कि 20-25 वर्षों के दौरान उन्होंने ‘हंस’ के माध्यम से हिन्दी जगत को विमर्शों से आंदोलित रखा और समृद्ध किया है? आज हाशिए के मुद्दे (स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, अल्पसंख्यक, सांप्रदायिकता, धर्म निरपेक्षता आदि) हिन्दी चिंतन जगत के केंद्र में हैं..... हिन्दी में अंतर अनुशासन, चिंतन व सीमाओं को तोड़कर समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, मानवशास्त्र जैसे ज्ञान के क्षेत्रों को भी हाशिए के संसार को समझने के लिए निमंत्रित किया”²

‘हंस’ ने भारतीय स्त्री की पराधीनता तथा दलितों की पराधीनता को वैचारिक बहस का मुद्दा बनाया। राजेंद्र यादव के संपादकीय और ‘हंस’ की लोकप्रियता को ‘पाखी’ पत्रिका के संपादक प्रेम भारद्वाज ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :- “उनके संपादकीय पढ़कर आप आज तो क्या 50-100 साल तक भी यह अंदाज़ा नहीं लगा सकते हैं कि वो किस कालखंड या दौर में अपने समय से मुठभेड़ करते हुए लिखे गये हैं। कोई कुछ भी कहे दलित और स्त्री-विमर्श को साहित्य में पूरी

¹ राजेंद्र यादव, सांस्कृतिक मोर्चाबंदी का इतिहास, पृ. 156.

² डॉ. कृष्णकांत चंद्रा, डॉ. अजय बिन्द (संपा.), राजेंद्र यादव, समानान्तर दुनिया का सूत्रधार, पृ. 131.

मजबूती के साथ स्थापित करने का श्रेय उन्हें जाता है। युवाओं या नए लेखकों की जमात पैदा की। ‘हंस के जरिये दर्जन भर से ज्यादा कालजयी कहानियां और लेखक दिए जो काम राजनीति में वीपी सिंह ने किया, कमोबेश वही काम साहित्य में राजेन्द्र यादव ने किया।’¹ इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जनचेतना की परम्परा में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को महत्व देने वाली पत्रिकाओं में ‘हंस’ का स्थान अग्रणी है। स्त्री-विमर्श में सबसे बड़ा सवाल है देह-मुक्ति का, जिसको लेकर राजेन्द्र जी ने अनेक लेख लिखे तथा यह यादव जी के अभूतपूर्व क्रांतिकारी और ऐतिहासिक योगदान की ही बानगी है कि हिंदी की लेखिकाएं ‘कितनी बिस्तरों में कितनी बार’ के अनुभवों को बिना किसी हिचक के, बिना किसी लागलपेट के अपनी-अपनी आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति दे पाई हैं। ‘हंस’ ने स्त्री मुक्ति के लिए प्रभुत्ववादी और रूढ़िवादी विचारधारा को चुनौती दी है। उस समय इन वर्चस्ववादी ताकतों से दो हाथ करने का साहस केवल राजेन्द्र यादव में ही था। स्त्रियों को गृहिणी के तयशुदा किरदार से बाहर निकालने में ‘हंस’ ने अनेक प्रयास किए जिससे स्त्री मुद्दों की एक ठोस व्यावहारिक वैचारिकी तैयार हुई। राजेन्द्र यादव जी के कुछ महत्वपूर्ण संपादकियों और लेखों पर चर्चा करके हम उनकी स्त्री विषयक चिंताओं और प्रगतिशील दृष्टिकोण को समझ सकते हैं।

‘आदमी की निगाह में औरत’ लेख में स्त्री मुक्ति से संबंधी अनेक मुद्दों को उठाया गया है। स्त्री को समाज में केवल देह समझा जाता है। स्त्री के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समाज में कोई महत्व नहीं दिया जाता। उसके शरीर को दो हिस्सों में बांटकर देखा जाता है। जिसे वो अनेक अनुभवों, दर्शनों, और चिंतनों का प्रतिफल मानता है। स्त्री देह के वो दो हिस्से हैं, कमर से ऊपर और कमर से नीचे। कमर से ऊपर की स्त्री को महिमामंडित किया जाता है। उसमें स्त्री को महिमामयी, करुणा, शील की देवी, सुंदर, आध्यात्मिक माना जाता है। जबकि उसी देवी स्वरूपा स्त्री के आधे हिस्से को काम-कन्दरा, कुत्सित, अश्लील, ध्वंसकारी यहाँ तक कि नरक समझा जाता है। स्त्री के स्वतंत्र स्वरूप से पुरुषवर्चस्ववादी समाज इतना भयभीत रहता है कि वह हर प्रकार से कोशिश करता है कि स्त्री और

¹ सं. प्रेम भारद्वाज, पाखी, अंक 12, वर्ष-3 सितम्बर 2011, पृष्ठ 7.

उसकी स्वतन्त्रता उसके ही नियंत्रण में रहे। “इस सारे साहित्यिक और सांस्कृतिक गरिमामय शब्दजाल से आदमी ने औरत की जिस एक चीज को मारा, कुचला या पालतू बनाया है, वह है उसकी स्वतन्त्रता। आदमी हमेशा से नारी की स्वतन्त्र सत्ता से डरता रहा है; उसे ही उसने बाकायदा अपने आक्रमण का केंद्र बनाया है। अपनी अखंडता और संपूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है। वहाँ वह ऐसी शक्ति है जो स्वतंत्र और स्वच्छंद है, बनैली और स्वैरिणी -इसीलिए आदमी ने उसे ही तोड़ा है।”¹

स्त्री को पुरुष समाज केवल शरीर और सेक्स मानता आया था इस विषय को भी राजेन्द्र यादव जी ने बड़ी बेबाकी से लिखा है कि पुरुष स्त्री की कामेच्छा को हमेशा ही नियंत्रित करते रहे हैं। स्त्री के वशीकरण के तथा पौरुष और काम संवर्धन के अनेक तरीकों की समाज खोज करता आया है। समाज में कोई भी ऐसा नुस्खा औरतों के लिए नहीं बनाया गया जिससे उनकी कामशक्ति को बढ़ाने के विषय में सोचा जाए। इस विषय पर तो समाज इतना मौन है जैसे ये सारे मंत्र, तमाम नुस्खे केवल पुरुषों के लिए आवश्यक है क्योंकि स्त्री तो स्वयं काम की प्रतिरूप मानी जाती रही हैं। पुरुष समाज बचपन से ही स्त्री में इस भावना, संस्कार को अनुकूलित कर देता है कि वह सिर्फ और सिर्फ शरीर है, जीवन के किसी भी क्षण वह इस भावना को तोड़ नहीं पाती और इस शरीर की रक्षा और इसका संवर्धन करना ही स्त्री को मुख्य लगता है। स्त्री की शरीर से पृथक किसी भी पहचान को पुरुष समाज नहीं मानता। यही देह जो स्त्री का एकमात्र गुण, पहचान बना दी गयी है वही शरीर उनके लिए गाली भी है। समाज में जितनी भी गालियां बनाई गयी है चाहे वो पुरुषों की अक्षमता के लिए दी जा रही हो परंतु वहाँ भी अपमान स्त्री का ही होता है “पुरुष औरत को सिर्फ शरीर या उसके कुछ अंगों को ही उसकी सम्पूर्ण पहचान के रूप में देखने की ज़िद में रहना चाहता है, लेकिन जब औरत स्वयं अपने को इस रूप में देखने या मानने लगती है तो बौखला उठता है- स्त्री शरीर रहे, लेकिन

¹ राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ सं. 15

अपने आपको सिर्फ उतना ही शरीर माने जितने की मुझे जरूरत है। उससे अधिक मानना उसकी ‘उच्छृंखलता’ और ‘अमर्यादा’ है।”¹

अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति रखने वाली औरतें समाज और साहित्य में बहिष्कृत श्रेणी की हकदार मानी जाती रही हैं। उनको पुंश्रुली, कुलटा, छिनाल, रंडी, पतिता इस तरह के तमाम नामों की अधिकारिणी माना जाता है। स्त्री मुक्ति को लेकर राजेन्द्र जी के विचार विवादास्पद भी रहे। राजेन्द्र जी का मानना था कि यदि स्त्री स्वतंत्र रहना चाहती है तो यह केवल तभी संभव है जब वह वेश्या हो। अन्यथा उसको अपने जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर विभिन्न सम्बन्धों के रूप में एक पुरुष संरक्षक की आवश्यकता रहेगी। “वेश्या स्वतंत्र नारी है। विडम्बना है कि नारी को अगर स्वतंत्र होना है तो वेश्या बनने के सिवा कोई रास्ता नहीं है, तभी वह जी सकेगी। वर्ना उसकी लगाम पिता, पति, पुत्र के ही हाथ में है। न उसका अपना कोई व्यक्तित्व है, न नाम।”²

सामंती समाज में स्त्रियों को गुलाम बनाए रखने की प्रवृत्ति है। यह समाज स्त्रियों को स्वतंत्रता, वैयक्तिक पहचान, समानता के अधिकारों से कोसों दूर रखता है। राजेन्द्र यादव कहते हैं कि सामंती समाज स्त्रियों को तीन रूप में देखता है पत्नी, रखैल और वेश्या। इस सामंती समाज में नारी को केवल संभोग की वस्तु, संतान पैदा करके कुल को बढ़ाने वाली मादा भर समझा जाता है। राजेन्द्र जी ने स्त्रियों की अपनी पहचान के प्रश्न को उठाया जो स्त्री मुक्ति संघर्ष के लिए सबसे आवश्यक मुद्दा है। उसकी ना कोई जाति होती है, ना नाम, ना पहचान, न इच्छा। वह समाज में एक बेपहचान, बेनाम, बेचेहरा औरत है। अपनी इस बात को राजेन्द्र यादव नित्शे के शब्दों को उधार लेकर पर स्पष्ट करते हैं। “औरत की हर चीज एक गुत्थी और पहेली है। औरत के सौ मर्जों का सिर्फ एक ही इलाज है : और वह है उसे गर्भवती कर डालना।” यह लेख स्त्री मुक्ति संघर्ष में अनेक आयामों को जोड़ता है।

¹ राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ सं. 16

² राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ सं. 18

स्वतन्त्रता और मुक्ति ऐसी स्थितियां हैं जिसे हर कोई अपने जीवन में चाहता है ताकि वह स्वयं अपने निर्णय ले सके। अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सके। सामंतवादी समाज में केवल पुरुषों को ही इसका अधिकारी माना गया। पुरुषों में भी केवल उच्च वर्ग तक ही इसका आधिपत्य स्थापित था। राष्ट्रीय आंदोलन के समय स्त्री मुक्ति के सवाल भी अपनी उड़ान भर रहे थे। भले ही विदेशी ताकत से राष्ट्र मुक्ति के लिए आंदोलन अपने उत्कर्ष पर था परंतु देश में वर्चस्ववादी वर्ग अपने अधीन वर्ग को पराधीन ही रखना चाहते थे। स्त्री समुदाय के साथ भी यही विडम्बना थी। इसी स्थिति पर व्यंग्य करते हुए उमा नेहरू ने (स्त्री-दर्पण, मई 1918) में राष्ट्रवादी पुरुषों से पूछा- “केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के खो जाने ने तुम्हें कैसा मलिन, कैसा व्याकुल, कैसा दुखित बना दिया है? फिर स्वयं सोचो, जिसके शरीर की, जिसकी आत्मा की, जिसके हृदय की सारी स्वतन्त्रता लुट गई हो, उसका हार्दिक भाव कैसा हो सकता है?”¹ ‘नारी तुम केवल श्रद्धा हो’ संपादकीय में स्त्री की इसी स्वतन्त्रता की आवाज़ को उठाया गया है। राजेन्द्र यादव ने गांधी जी, राजाराम मोहनराय के स्त्री के प्रति सीमित दृष्टिकोण पर भी कटाक्ष किया है। स्त्री की स्वतन्त्रता को पुरुष समाज शास्त्रों से कुचलता आया है। उनका इतना मानसिक अनुकूलन कर दिया जाता है कि वे स्वेच्छा से सती होने के लिए दहकती आग में कूद पड़ती हैं। परिवार नामक संस्था की निरंकुशता को भी राजेन्द्र यादव ने अपने इस लेख में उठाया है वे कहते हैं कि पुरुषों के लिए केवल युवती ही प्राकृतिक जुड़ाव का संबंध है। जिसको वो अपनी एकमात्र मिल्कियत बनाकर रखना चाहते हैं। यदि सामाजिक दबाव न हो तो पुरुष लड़कियों और बुढ़ियों को घर में बर्दाश्त भी ना करें। वर्तमान समय की यदि बात की जाए तो राजेन्द्र यादव जी की इस बात का अतिक्रमण हो चुका है। आज हमारे सामने कितने ही ऐसे मामलें आते हैं जिसमें पुरुष अपनी बेटी के साथ तथा बेटा माँ तक के साथ जघन्य अपराध करता है। पुरुष के लिए अब लड़की, बुढ़िया कोई भी हो यदि वो कुत्सित मानसिकता रखता है तो स्त्रियाँ आज अपने ही घर में सुरक्षित नहीं हैं। मिस इंडिया, मिस यूनिवर्स के चुने जाने की

¹ सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, नारी तुम केवल श्रद्धा हो, जुलाई 1993.

प्रतियोगिता जिसमें स्त्री को शरीर ही समझा जाता है, इस पर राजेन्द्र यादव खुलकर लिखते हैं। वे मिस इंडिया, मिस यूनिवर्स जैसे खिताब को ‘वर्जिन इंडिया’ या वर्जिन यूनिवर्स से जोड़कर देखते हैं। “आप शरीर की नुमाइश में ही अपनी पहचान या आइडेंटिटी खोज...वह भी अप्रयुक्त, अक्षत-योनि, तरोताजा, अनटच्छ बाई ह्यूमन हैंड, ‘फ्रेश फ्राम द अवन’, सौंदर्य..बहुत अपमानजनक लग रहा है क्या?”¹

स्त्री स्वतंत्र हो, सामाजिक, राजनैतिक या अन्य सभी क्षेत्रों में निपुण हो फिर भी उससे उम्मीद वही की जाती है कि वह नैतिकता के क्षेत्र में हजारों साल से बनी स्त्री छवि में ही शील की प्रतिमूर्ति बनकर कैद रहे। “वह सिर्फ देह ही बनी रहे यानी अपनी देह को उन्हीं अर्थों में सुरक्षित, अदृश्य और पवित्र रखे जो हम मानते रहे हैं। जब तक पुरुष स्वयं उसे सिर्फ देह मानकर शोषण, उपभोग, उपयोग करता रहे तब तक वे सब कुछ सहज-स्वाभाविक हैं, मगर जिस क्षण वह तय करती है कि अपनी देह का उपयोग स्वयं कैसे करे, उसी दिन आसमान टूट पड़ता है”² यह हमारे समाज का सबसे बड़ा अंतर्विरोध है।

स्त्री कितनी ही उपलब्धियां क्यों ना हासिल कर लें, समाज में अपनी अलग पहचान बना लें पर पुरुषों की ज़िद है कि वे अंत में उन्हें एक शरीर, मात्र देह ही साबित कर देते हैं। वे स्त्री को शरीर से ऊपर उठने ही नहीं देना चाहते। “स्त्री अपनी बौद्धिक या अन्य उपलब्धियों के लिए चाहे जितनी हायतौबा मचाती रहे, पुरुष की ज़िद है कि साम, दंड, दाम, भेद से वह उसे कमर, कूल्हे, नितंब, छातियों से ऊपर नहीं उठने देगा। देह को वह इस धमाके, ग्लैमर और चकाचौंध के साथ पेश करेगा कि हर औरत देह बने रहने को ही अपने होने की एकमात्र सार्थकता मानने को मजबूर हो जाए.....”³ ‘हंस’ अपने संपादकियों, कहानियों, लेखों, कविताओं के माध्यम से तो स्त्री मुक्ति के स्वरो को वाणी दे ही रहा था साथ ही उसमें जो प्रभु जोशी के रेखांकन छपें उनसे यथास्थितिवादी

¹ सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, नारी तुम केवल श्रद्धा हो, जुलाई 1993

² सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, अग्निपरीक्षाएँ, सितंबर 1995.

³ सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, नारी तुम केवल श्रद्धा हो, जुलाई 1993

खेमे में हड़कंप मच गया। दर्जनों असहमति पत्र राजेन्द्र यादव जी को मिले जिसमें साहित्यिक पत्रिका की गरिमा को खराब करने, अश्लीलता फैलाने जैसे आरोप भी लगे उन पत्रों को उन्होंने अपना मोर्चा कॉलम में निष्पक्ष रूप से छापा भी यही राजेन्द्र यादव के सम्पादनत्व की ताकत थी। “हमारी लड़ाई ही औरत को सिर्फ देह या विक्रय- सामग्री बना दिए जाने के खिलाफ है। जाहिर है यह लड़ाई आज औरत को वापिस गिलाफ़ों, बुर्को और पर्दों में वापिस धकेल दिए जाने से नहीं लड़ी जा सकेगी। बिना देह को अस्वीकार किए औरत की आत्मा और देश के दूसरे संदर्भों से जोड़कर ही उसे लड़ा जा सकेगा।¹ इसी संपादकीय में राजेन्द्र यादव समाज से सीधा प्रश्न करते हैं कि स्त्री की देह को समाज में इतना निंदनीय, घृणित, अश्लील, आपत्तिजनक क्यों बना दिया गया है कि समाज, संस्कृति, शील को बचाने या बिगाड़ने से उसका संबंध जोड़ा जाता है। गृहस्थ जीवन में स्त्री की स्थिति क्या साँप-बिच्छुओं की तरह है जो खुले में रहें तो काटने का खतरा बना रहता है इसलिए उन्हें छिपा कर उनकी इच्छाओं और स्वतन्त्रता को नियंत्रित कर बिल में रखो। पुरुषों की थकान मिटाने और मनोरंजन के लिए हमेशा तत्पर रहने के लिए स्त्रियों को अभ्यासरत रखो। राजेन्द्र यादव जी के इस संपादकीय से यह गंभीर प्रश्न हमारे सामने आता है कि क्या ये सही परिभाषा है जीवन-संगिनी की? जिसे समाज आज तक परंपरा के नाम पर ढोता आया है और ना जाने कबतक स्त्रियों की यही स्थिति बनी रहेगी। विज्ञापन में स्त्रियों की जो छवि उभरकर आती है उसे भी राजेन्द्र यादव ने स्त्री मुक्ति के लिए बाधक माना है। औरत स्कूटर, टायर, पंखे, क्रीम, तेल आदि उत्पाद बेचने का प्रसाधन बना दी गयी है। इस स्थिति को आपत्तिजनक माना गया है। बलात्कार, वेश्यवृत्ति जैसे अपराधों से स्त्री के जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव क्योंकि इससे केवल उसके ही जीवन को कलंकित समझा जाता है। स्त्री पर ही ज़िम्मेदारी होती है कि वो साबित करें कि उसके साथ ऐसा हुआ है ताकि बाकी लोग भी सुनकर बलात्कार का सुख भोगें। भरी कचहरी में वकील पीड़िता के शरीर के एक-एक हिस्से को सबके सामने रखता है। वेश्यवृत्ति में मुजरिम केवल वेश्य ही होती है

¹ सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, बुर्को की वापसी, फरवरी 1995

ग्राहक नहीं। इन गंभीर मुद्दों को राजेन्द्र यादव जी अपने संपादकियों के माध्यम से सामने रखते हैं तथा समाज की चेतना को झकझोरते हैं।

राजेन्द्र यादव औरतों को पिछड़े वर्ग के साथ जोड़ते हैं। उन्होंने स्त्रियों को दलितों की श्रेणी में रखा है जिससे सवर्ण महिलाओं में खीझ देखने को मिलती है, क्योंकि वे अपनी पारिवारिक स्थिति को सामाजिक सच मानने लगती हैं। परिवार नारी के लिए सुरक्षा की व्यवस्था करने के साथ साथ उसके व्यक्तित्व को मौत के घाट उतार देता है। नारी अस्मिता का संघर्ष और परिवार की ऐसी अपरिवर्तनशील तानाशाही व्यवस्था में जो गहरी फांक है यह आज के समय का सबसे चिंतनीय विषय है। कभी किसी व्यक्ति को अपने दुश्मन से बदला लेना होता है तो उसके घर की स्त्रियों के साथ बलात्कार अचूक नुस्खा है। स्त्रियों का अपनी संतान पर उतना अधिकार नहीं समझा जाता जितना बाप का माना जाता है। “हर काल में हर जाति और धर्म की औरतें एक-दूसरे के यहाँ हस्तांतरित हुई हैं और फिर भी वे इस मुगालते को पाले रखते थे कि नस्ल में माँ का तो कुछ होता ही नहीं, जो भी खून बच्चे में होता है वह सिर्फ बाप का होता है। मानो माँ एक जड़ डिब्बा है जहाँ बाप का वीर्य पलता है।”¹ औरत को अपने जीवन में चुनाव का अधिकार नहीं है। हर चीज़ को उस पर बिना किसी चुनाव के थोपा जाता है। उसे उन अपराधों की सजा, उसका दंश झेलना पड़ता है जो उसने किया ही नहीं। औरत होने का चुनाव उसका नहीं होता, सुंदर, या कुरूप का चुनाव वो खुद नहीं करती, विवाह से पूर्व गर्भधारण हो यह शायद ही कोई स्त्री चुने, या विवाह बाद भी वह बच्चा जने या बांझ रहे। इन सब विषयों पर वह स्वयं निर्णय नहीं करती। संतान पुत्र हो या पुत्री इस पर भी उसका कोई बस नहीं फिर भी उसी को इसका जिम्मेदार समाज मानता आया है। स्त्री का पति नपुंसक या नकारा हो ऐसा कोई भी स्त्री नहीं चाहती पर उसकी नपुंसकता को समाज से छुपाने के लिए स्त्री को दोष दे दिया जाता है। बलात्कार, अपहरण की वारदातों से समाज स्त्री को ही दंडनीय, अस्वीकार्य, अस्पृश्य और अभागी मानता है। इस तरह स्त्री उन तमाम अपराधों की सजा,

¹ सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, हम सबके माथे पर दाग, जनवरी 1991

सामाजिक अपमान, व्यक्तिगत प्रताड़ना को भोगती आई हैं जिसकी जिम्मेदारी उनकी कताई नहीं है। हिन्दू कोड बिल का राजेन्द्र प्रसाद द्वारा किया गया विरोध हो या देश के सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र का सामंती फरमान ये सभी स्त्री मुक्ति के प्रश्न को तरजीह नहीं देते थे। दहेज में जलाए जाने वाले मुद्दे (‘राज्य, दिल्ली प्रशासन’ बनाम ‘लक्ष्मण कुमार’) जिससे समाज में स्त्री की यथार्थ स्थिति का वास्तविक स्वरूप समझा जा सके उन्हें राजेन्द्र यादव बिना किसी लाग-लपेट के अपने संपादकियों का विषय बनाते रहे।

राजेन्द्र यादव जी ने दिवराला की सती रूपकुंवर के मुद्दे पर अपने संपादकीय में चर्चा की और सती प्रथा के खिलाफ अपनी आवाज़ और अपना स्त्री सशक्तिकरण केन्द्रित पक्ष रखा। इस विषय पर उन्होंने जनसत्ता के संपादक श्री प्रभाष जोशी जी को भी आड़े हाथ लिया और सती को महिमामंडित करने को लेकर अपने ‘हंस’ अक्तूबर 1987 के संपादकीय में उन पर कटाक्ष भी किया। ‘हंस’ के जून 1989 अंक के संपादकीय में सती प्रथा और रूपकुंवर सती कांड¹ को लेकर राजेन्द्र यादव ने तीखे व्यंग्यबाणों से प्रहार किया है। “अब मान लीजिये कि रूपकुंवर या किसी और सती की घटना को लेकर आपके पेट में बहुत मरोड़ें उठ रही हैं, आपको यह दिन-दहाड़े हत्या, नृशंसता, क्रूरता और अमानवीयता इत्यादि लगता है तो पहले तो मैं परम सात्विक मुस्कान और संयम के साथ आपको यह बताऊंगा कि हमारा धर्म कितना महान है, यहाँ चींटी से लेकर हाथी तक में एक ही प्राण की प्रतिष्ठा है और प्राणिमात्र पर करुणा ही इस धर्म का मूल है। मगर धर्म के कुछ नियम-शास्त्र और परम्पराएँ हैं, वे ही संस्कृति के स्तम्भ हैं और वे ही आज्ञा देते हैं कि विधवा स्वेच्छा से सती हो सकती है। हाँ कभी-कभी बच्चा अज्ञानवश अपना हित-अहित नहीं समझ पाता। तब माँ-बाप को सख्ती से समझाना पड़ता है। इस ‘सख्ती’ को आप जबर्दस्ती क्यों कहते हैं? सती को तो वेद-शास्त्रों तक ने गलत नहीं बताया। अस्सी करोड़ के देश में अगर सालभर में हजार-

¹ <http://thewirehindi.com/96724/rajasthan-roop-kanwar-sati-case-sikar-divrala-village/>

पाँच सौ सती हो ही गयीं (या कर दी गयीं) तो कौन सा कहर टूट पड़ा?¹ अपने द्वारा प्रकाश में लाए मुद्दों में प्रति राजेन्द्र जी इतने दृढ़ थे कि केवल एक बार चर्चा करके उन्हें भूल नहीं जाते थे बल्कि समय-समय पर उन्हें बार बार सामने लाते रहे। अपने नवम्बर 1987 के संपादकीय 'निचली ऊँचाइयाँ' में तथा जून 1994 के संपादकीय 'सलीम तुम्हें मरने नहीं देगा और हम तुम्हें ज़िंदा नहीं छोड़ेंगे, अनारकाली' में भी राजेन्द्र यादव स्त्री की हत्या, आत्महत्या, जौहर, सती, जलसमाधि आदि को गौरवान्वित और धर्मोत्सव की तरह मनाए जाने पर कटाक्ष करते हैं। निचली ऊँचाइयाँ में राजेन्द्र यादव जी इस समाज की तुलना राक्षस समाज से करते हैं और लिखते हैं "यह हम किस राक्षसी समाज में आ गए हैं जो पहले हमें आदमी-औरत, सवर्ण और शूद्रों में बाँटता है और फिर उनकी हड्डियाँ चबा जाता है? जो अवधारणा के स्तर पर स्त्री को देवी, आद्याशक्ति, भूमा, माँ, जगतजननी और न जाने क्या-क्या कहकर दिन-रात ऋचाएँ और श्लोक भोंकता है, अर्धनारीश्वर की उदात्त परिकल्पना में नारी-पुरुष की बराबरी के ढोल पीटता है- और ज़िंदा औरत को भूनकर खा जाने की छुट चाहता है। जो औरत को ज़िंदा रखने को नहीं, मार डालने को अपना धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकार घोषित करता है?"²

राजेन्द्र यादव जी अपने संपादकियों से स्त्री मुक्ति की चेतना को लेकर समाज को इतना झकझोर देना चाहते थे कि समाज अपने आसपास होने वाली सभी घटनाओं को गंभीरता से समझें और आगे वाली घटनाओं के प्रति सतर्क हो सकें नाकि पुरानी घटनाओं को कुछ समय बाद बिल्कुल भूल जाएँ। अग्निपरीक्षाएँ संपादकीय जो सितंबर 1995 में प्रकाशित हुआ था। इसमें स्त्री अपराधों से लिप्त मुद्दों को प्रकाश में लाया गया है। नैना साहनी तंदूर कांड हो, पटना के बाबी, भागलपुर के पापिया बोस हत्याकांड या लातूर के सेक्स-स्केण्डल समाज अब कहाँ इन मामलों की सुध लेता है। इन सब मामलों को राजेन्द्र यादव जी सितंबर 1995 के संपादकीय में उठाते हैं। नैना

¹ 'हंस', सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, जून 1989 पृष्ठ. 4

² 'हंस', सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, निचली ऊँचाइयाँ, नवम्बर 1987

साहनी जिसको तंदूर कांड¹ के नाम से भी जाना जाता है। जिसमें सत्तारूढ़ काँग्रेस पार्टी के सक्रिय सदस्य और युवा काँग्रेस के अध्यक्ष सुशील शर्मा ने अपनी पत्नी की हत्या कर, शरीर के अनेक टुकड़े करके तंदूर में जलाने का प्रयास किया था। इस मामले पर प्रभास जोशी जो जनसत्ता के संपादक थे उन्होंने भी अपनी संवेदनाएं व्यक्त की। जिससे बाद अपने निष्पक्ष मत रखने वाले ‘हंस’ के संपादक राजेन्द्र यादव ने उनसे एक सीधा परंतु गंभीर प्रश्न किया कि रूपकुंवर और नैना साहनी दोनों के प्रति उनकी संवेदना में भिन्नता क्यों है? क्या इसीलिए आप रूपकुंवर की हत्या को अमानवीय नहीं मानते क्योंकि उसके साथ सती शब्द जुड़ा है, और नैना हत्या कांड को आप अमानवीय मानते हो और संवेदनाएँ भी व्यक्त करते हो। समाजनेत्री सुषमा सिंह हत्या कांड जिसमें लाश के टुकड़े करके मगरमच्छ को खिलाने का दर्दनाक मुद्दा भी सामने आया। हत्या का कारण सुषमा का अनैतिक होना बताया गया। नैना और सुषमा दोनों स्त्री राजनीति में सक्रिय थीं। आगे बढ़ना चाह रही है अमूमन उनकी नृशंस हत्या के पीछे यही कारण हो सकता है। उनका आगे बढ़ना, पतियों के लिए असहनीय हो रहा होगा। “स्त्री-व्यक्तित्व के तो बड़े-से-बड़े गुब्बारे को ‘नैतिक स्खलन’ की छोटी सी सुई से फोड़कर ध्वस्त किया जा सकता है। बड़ी-से-बड़ी सती-साध्वी को आप चरित्रहीन कहिए और गोली मार दीजिए-समाज आपकी मर्दानगी के साथ होगा। (ऐसी छिनाल की क्या पूजा करेंगे?)”² हजारों सालों से स्त्री चरित्र को लेकर शास्त्रों के रचयिता समाज को आगाह करते आए हैं। ‘स्त्रीचरित्रां पुरुषस्य भाग्यं दैवो ना जानाति’ से ऋषिमुनियों द्वारा पुरुषार्थ का निर्धारण करते समय पुरुषों को ही केंद्र में रखा – धर्म, अर्थ, काम मोक्ष इन सिद्धियों में केवल काम ही एक ऐसा विषय है जिसमें स्त्री की आवश्यकता महसूस की जाती है।

स्त्री की राजनीति में जो यथार्थ स्थिति है, उसको लेकर राजेन्द्र यादव हमेशा चिंतित रहे तथा स्त्रियों को यथार्थ से समय समय अवगत भी करवाते रहें। इस विषय पर केन्द्रित उनके संपादकीय

¹https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%A8%E0%A5%88%E0%A4%A8%E0%A4%BE_%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B9%E0%A4%A8%E0%A5%80

² ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, अग्निपरीक्षाएँ, सितंबर 1995.

‘तुम्हारे गले में ये किसकी आवाज़ है, उमा भारती?’ (‘हंस’, मार्च 1993) और ‘सिंहासन खाली करो कि.....’. (‘हंस’, अप्रैल 1997) अत्यंत महत्वपूर्ण है। बाबरी मस्जिद विध्वंस कांड के बाद उमा भारती की एक तस्वीर काफी चर्चा में रही जिसमें उमा भारती मुरलीमनोहर जोशी के कंधों पर सवार थी। राजेन्द्र यादव उस तस्वीर को लेकर कहते हैं कि पार्वती की लाश को कंधे पर लादे शिव? इस लेख में राजेन्द्र जी उमा भारती को सचेत करते हैं कि यह आपकी जीत नहीं है असल में आपको भ्रम में रखा जा रहा है। यह जीत उस मनुस्मृति और वर्णव्यवस्था की है। तुम सिर्फ एक लठैत हो जो आकाओं के इशारों पर अपने ही भाई- बंधुओं पर प्रहार करके फुले नहीं समाओगी और वो जोशी जी तुम्हारा यह भ्रम कभी टूटने भी नहीं देंगे। उमा भारती को राजेन्द्र जी याद दिलाते हैं कि याद रखो तुम औरत ही नहीं दलित भी हो।

मृदुला गर्ग ने दलित चेतना और साहित्य के सेमिनार में कहा ‘औरतों को दलितों के साथ जोड़ने का मैं सख्त विरोध करती हूँ।’ राजेन्द्र यादव मृदुला गर्ग जी की बात पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि शूद्रों और दलितों को एक श्रेणी में हमारे द्वारा नहीं बल्कि यह कार्य मनु, और महान धर्मग्रंथों ने किया है। जब तक एक औरत पुरुष व्यवस्था को समर्पित है केवल तभी तक पुरुष की दया, वासना, रियायत, प्रोत्साहन औरतों को प्राप्त है तभी तक स्त्रियाँ सम्माननीय और श्रद्धेय है। स्त्रियों को हर क्षण इसका एहसास कराया जाता है कि तुम औरत हो, अर्थात् देह हो। जिस समय औरत पुरुष व्यवस्था की अवहेलना कर अपने स्वतंत्र निर्णय लेने की सोचेगी तो स्थिति में ऐसा तख्ता पलट होगा कि उमा भारती आप समझ भी नहीं पाओगी कि आखिर अब कहाँ गया वो सम्माननीय व्यवहार। “भारतीय वर्ण-व्यवस्था में आप कहीं भी क्यों न हों, औरत को सेक्स और शूद्रों को जाति बताकर चुटकियों में उसे उसकी ज़मीन दिखाई जा सकती है.... वर्ण-व्यवस्था न चुनाव का अधिकार देती है, न बराबरी का.....”¹ स्त्री को शूद्रों के साथ खड़ा करती है उसकी अपनी देह- जिसे समाज मूलतः अपवित्र मानता है। स्त्री को विशेष देह धारण करने का दंड मिलता

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात’ तुम्हारे गले में यह किसकी आवाज़ है, उमा भारती?, मार्च 1993.

है, ऐसा अपराध जो उसने किया ही नहीं। अपने अस्तित्व को त्याग कर उसे ऐसे जीवन को जीना पड़ता है जो पुरुष निर्धारित करते हैं और स्त्री का अनुकूलन कर उसे इस नियंत्रित जीवनशैली का अभ्यस्त भी बना दिया जाता है।

राजनीति में स्त्री की उपस्थिति सुनिश्चित होने और 33% आरक्षण से पुरुषवादी खेमे में भूकंप आ गया। उन्हें उनकी सत्ता के पांव हिलते महसूस होने लगे। यथास्थितिवादियों के विचारों से यदि स्त्रियाँ राजनैतिक चेतना सम्पन्न हो और उन्हें सभी साधन सुविधाएं मिलें तो औरतों के पर निकाल आएं। हिन्दू कोड बिल का विरोध हो या संसद में स्त्रियों की निश्चितता का प्रश्न पुरुष इन अधिकारों से स्त्रियों को अनभिज्ञ ही रखना चाहते हैं। स्त्रियों की एकजुटता का ख्याल ही पुरुषों को भयभीत कर देता है। स्त्री आरक्षण परिवार की और समाज की मूल संरचना में ही परिवर्तन ला सकता है, क्योंकि स्त्री चाहे किसी भी वर्ग की क्यों ना हो समाज से उसे प्रताड़ना ही मिलती है “‘आरक्षण’ के धरातल तक आने में स्त्री-उभार को जिन मुद्दों पर लड़ना पड़ा है, उन्हें समझना इसलिए जरूरी है कि वह ऊंच-नीच, अवर्ण-सवर्ण, धर्म-धन की सीमाओं के आर-पार आता है। अपने मन की करने या मालिक के इशारों पर न चलने वाली सवर्ण या धनी औरत भी उसी तरह पिटती, संपत्ति से वंचित होती, घर से निकलती, दहेज में जलायी या प्रताड़ित होती है, जैसे कल्लू हरिजन की औरत.....”¹

2020 में अनुभव सिन्हा निर्देशित फिल्म ‘थप्पड़’ फिल्म में भी इसी मुद्दे को केंद्र में रखा गया था। कुछ स्त्रियाँ भी सत्ता के शीर्ष पर आई हैं इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता, परंतु वे स्त्रियों के हित में विशेष रूप से कुछ कर नहीं पायीं। शायद वे सत्ता का निर्वाह स्त्री वेश में पुरुष-दृष्टिकोण से ही कर रही थी ताकि पुरुष स्त्री सुलभ कमजोरियों से उन्हें नज़रअंदाज़ ना कर सकें और उनको स्वीकार करें। पुरुषों को लगता है कि सत्ता में आने पर अगर स्त्रियाँ दहेज, घरेलू हत्याओं, बलात्कार जैसे सुख से पुरुषों को वंचित कर देंगी तो? कानून बनाकर सख्ती से उनका पालन होने

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, सिंहासन खाली करो कि, अप्रैल 1997

लगा तो पुरुषों को यह कैसे बर्दाश्त होगा। संसद और विधान सभाओं में बैठकर यदि वे अहम फैसलों में हिस्सेदारी या टांग अड़ाने की ज़िद को त्याग दें तो पुरुष अपनी कृपादृष्टि से स्त्रियों की सुख-सुविधाओं की मांग पर विचार कर भी सकता है पर सभी निर्णायक फैसलों में तुम दखल दो अपने निर्णय पुरुषों पर थोपना शुरू कर दोगी भला यह कैसे संभव है? पुरुष मानता आया है कि इसीलिए स्त्रियों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि पुरुष हर कदम पर उसका संरक्षक है। स्त्रियों को सड़क पर उतरकर उनकी इज्जत खराब नहीं करनी चाहिए। औरतों को वह याद दिलाता है कि शर्म, हया औरतों के स्वाभाविक गुण है। औरतों को यह नसीहत दी जाती है कि यदि तुम्हारे साथ कुछ मानवीय होता है तो सहना सीखो और घर पर बैठो लड़कों से गलतियाँ हो जाती है और उसको उकसाया भी तो तुमने ही होगा इसीलिए इसका अर्थ यह नहीं कि तुम न्याय का फीता माथे पर बांधे सड़कों पर मोमबत्तियाँ लेकर निकल पड़ो। तुम्हारे शील, धैर्य, सहिष्णुता के कारण ही भारतीय नारी को दुनिया भर में पूजनीय माना जाता है।

‘स्वतन्त्रता की खतरनाक सरहदें’ फरवरी 1990 का संपादकीय है इस लेख में राजेन्द्र यादव बताते हैं कि ‘आखिर मैं भी आदमी हूँ। मुझे भी सम्मान और स्वतन्त्रता से जीने का हक है’ जब किसी भी शोषित मनुष्य के मन में यह विचार आए तभी से उसके विद्रोह की शुरुआत हो जाती है साथ ही शुरुआत होती है। स्वतन्त्रता की खतरनाक सरहदों की। पहली छूट या स्वतन्त्रता मिलते ही दलित ‘आदमी’ बनने के लिए अपने मालिक सा निरंकुश हो जाता है। हर छोटी जाति अपने से छोटी जाति ढूँढ लेती है और जो जितना दबा कुचला होता है फिर वह अपने मालिक (जिसको वह आदर्श मानता है) से भी अधिक अत्याचारी, अमानवीय और निरंकुश होता जाता है। इसी प्रकार दबी कुचली बहू एक अहंकारी, अमानवीय, अत्याचारी सास का प्रतिरूप बन जाती है। जिसको भी स्वतन्त्रता का अवसर मिलता है वह अपने से नीचे वाले वर्ग को घेरना शुरू कर देता है।

‘होना/ सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ’ एक अत्यंत महत्वपूर्ण लेख है जिसमें राजेन्द्र जी पुरुष नज़रिये से व्यंग्यात्मक शैली में स्त्री चेतना को जगाते हैं। इसमें स्त्रियाँ बराबरी के लिए जो

संघर्ष कर रही हैं उन्हें पुरुष समझाता है कि इस लफड़े में मत पड़ो। प्रकृति में कहीं कुछ भी बराबर नहीं है। प्रकृति के खिलाफ जाने पर तुम्हारा अपना ही नाश होगा, और क्या तुम औरतें ये कहती रहती हो कि हमने तुम्हें यंत्रणाएँ दी है तुम्हारा इस्तेमाल कर शोषण किया है। तुम औरतें बहुत एहसान फरामोश हों उन यंत्रणाओं के बदले क्या हम ने तुम्हें प्यार नहीं किया। यहाँ तक कि तुम्हें पूजा भी है। तुम औरतें भी हम पुरुषों का खूब प्रयोग करती हो। सारी जिंदगी हम तुम्हें और तुम्हारे बच्चों को पालने में गुज़ार देते हैं। “सिर्फ इसलिए कि तुम्हारे पास एक ‘कंट’ है और हम कभी कभी उसकी जरूरत के लिए पागल हो जाते हैं। मगर खुद ही सोचो, कितनी बड़ी कीमत वसूलती हो तुम अपने शरीर के उस हिस्से की”¹ सभी औरतों का कहना है कि हमने तुम्हें वेश्या बनाया, कोठों पर बैठाया, कॉलगर्ल बनाया, नगर वधू जैसा दर्जा दिया। देखो इसमें कोई बुराई नहीं है आखिर हम मर्दों को भी थकान मिटाने के लिए तुम्हारे शरीर के उपभोग की आवश्यकता होगी ही। कोई मशीन हो या जानवर जब तक काम ही होती है उपभोग योग्य होती है तब तक ही उसको सिर आँखों पर बैठाया जाता है। ऐसा ही तुम्हारे साथ होगा और जब हमें लगेगा कि अब तुम काम योग्य नहीं रही हम तुम्हें मुक्ति दे देंगे। हम ही तुम्हारे जीवन के निर्णायक हैं यही भारतीय संस्कृति का आधार है इसलिए तुम्हारे थोड़ा उछल-कूद करने से स्त्रियों की स्थिति में कुछ बदलाव आने वाला नहीं है।

पुरुष वर्ग हर अपराध के मूल में स्त्री का होना मानता है इसलिए स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं देता ताकि वह निर्णायक बन दुनिया को अपने अनुसार चला सके। “तुम दुनिया-भर की चीख-पुकार मचाए हो कि हम दुहरे मानदंडों का इस्तेमाल करते हैं, हम हिप्पोक्रेट और ढोंगी हैं। अरे उल्लू की पड़ियो, सत्ता के बारे में कुछ जानती ही नहीं? मानदंडों को डालो भाड़ में, सही वही है जो कल्चर स्वीकार करे- दुहरे-तिहरे की बकवास को अपनी ‘उस’ में रखो.....”² पुरुष यह मानता आया है कि स्त्रियाँ मौलिक सृजन कर ही नहीं सकती यदि वह स्त्री को दिमागी काम जैसे मशीन

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव आदमी की निगाह में औरत, लेख होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ, पृष्ठ सं 98

² ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव आदमी की निगाह में औरत, लेख होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ, पृष्ठ सं 101

चलना, हवाई जहाज उड़ना, कम्प्यूटर में पारंगत होना जैसे काम करते देखता है तो पुरुष को कौतुक होता है वह स्त्री के इस रूप को हजम नहीं कर पाता, क्योंकि उसके लिए शील, शांति, सौंदर्य और वात्सल्य से परिपूर्ण स्त्री जो गृहस्थ कामों में निपुण हो वही उसकी स्वाभाविक और प्राकृतिक छवि है। पुरुष वर्ग कहता है कि तुम स्त्रियाँ कितना शोर मचाए सड़कों पर घूमती हो कि तुम्हें स्वतन्त्रता चाहिए, तुम्हारे शरीर पर तुम्हारा अधिकार है, तुम अपने जीवन के सभी निर्णय स्वयं करोगी फलां फलां.. चलो मूर्ख औरतों हमने तुम्हारी बात भी मान ली तुम्हें सौंदर्य प्रतियोगिता दी, स्टेज दिया, तुम्हारे स्वतंत्र शरीर को केंद्र में रखा और अरबों का कारोबार किया। तुमसे साबुन, क्रीम, कपड़े, स्कूटर और न जाने क्या क्या बिकवाया। तुम्हारी बात भी रह गयी और हमारा अच्छा खासा कारोबार भी गया। आखिर हमने तुम्हारी तथाकथित स्वतंत्र होने की हठ से भी मुनाफा ही कमाया हमारे चंगुल से कैसे बचोगी?

स्त्रियों के साथ हिंसा केवल शारीरिक नहीं होती, मानसिक रूप से भी उनको पंगु बनाया जाता है। भाषिक और मानसिक रूप से पहले ही उसकी हत्या कर दी जाती है। पुरुष कहता है कि स्त्रियों तुम्हें पालतू बनाने में हमें भाषा के स्तर पर खुद पशु और हत्यारा बनना पड़ता है तब जाकर हम अपनी भाषा में इतनी हिंसा, इतनी निर्दयता ला पाते हैं ताकि तुम्हें गुलाम बना सके। “स्तुतियों से ही नहीं, गालियों से भी हमने तुम्हें मारा है। जो भाषा हम तुम्हारे लिए इस्तेमाल करते हैं, उसे कभी सुना है? वह सिर्फ तुम्हारी देह और देह सम्बन्धों के बखिए उधेड़ती है, या तो तुम्हारी योनि और वासना कि दुर्दमनीयता को धिक्कारती है या अपनी असमर्थता को कोसती है कि तुम्हारी देह को क्यों कुचल और रौंद नहीं पाते.....हमने तुम्हारे सारे अस्तित्व को सिर्फ चूत से चूचियों तक बांध दिया है। (अश्लील भाषा है न? मगर क्या करें, हम आपस में तुम्हें जानते ही इन्हीं शब्दों से हैं)”¹ भंवरीबाई बलात्कार मामले² को भी राजेन्द्र यादव अपने इस लेख में उठाते हैं। जिस मामले ने पूरे समाज को झकझोर दिया था। स्त्री मुक्ति संघर्ष की लड़ाई पुरुषों की उस साजिश, मनोविज्ञान या

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव आदमी की निगाह में औरत, लेख होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ, पृष्ठ सं 105

² <https://www.bbc.com/hindi/india-39299355>

सिद्धांत की पड़ताल करना चाहता है जिसने उन्हें इतने वर्ष गुमनामी बख्शी, और स्त्रियों की पहचान को केवल खुद से संबंधी रिश्तों तक ही सीमित किया।

राजेन्द्र यादव जी ने अपने लेखों के माध्यम से भी स्त्री मुक्ति और इसके विविध आयामों पर विचार किया है। स्त्री लेखन को लेकर समाज में जो दुराव व्याप्त है, इस विषय पर राजेन्द्र यादव जी अपनी कलम चलाते हैं। ‘स्त्री गाथा’ लेख में राजेन्द्र जी यह गंभीर प्रश्न उठाते हैं कि क्यों स्त्री लेखन को जनाना लेखन कहकर सहानुभूति और प्रोत्साहन की दृष्टि से देखा जाता है। ‘लेखक’ सिर्फ लेखक होता है उसके साथ स्त्री या महिला विशेषण जोड़कर उसे अलगाया न जाए। ‘स्त्री गाथा’ लेख में स्त्री लेखन में स्त्री चेतना के जो स्वर विभिन्न लेखिकाओं ने समय-समय पर उठाएँ हैं, उन विषयों पर राजेन्द्र जी चर्चा करते हैं। राजेन्द्र यादव के ऐसे व्यक्ति थे जो हमेशा स्त्रियों को रचनात्मक लिखने के लिए प्रेरित करते रहें। महादेवी वर्मा जी की रचनाओं में स्त्री मुक्ति के लिए सामंती व्यवस्था के प्रति जो विद्रोह राजेन्द्र यादव जी ने देखा, उसे उन्होंने ‘गिरजाघर में मौत’: महादेवी वर्मा लेख में वर्णित किया है। भारतीय नारी की व्यथा उनकी कविताओं का मर्म रहा है। वह नारी जो शिक्षा, जागृति, स्वतन्त्रता के लिए, अपने अस्तित्व को पहचाने के लिए जागरूक हो रही थी। भारतीय स्त्री अब बेजान, बेजुबान ‘वस्तु’ गुड़िया से व्यक्ति बनने के लिए संघर्ष में लगी रहीं। तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति और नियति को महादेवी जी लेखन के माध्यम से समझा जा सकता है। भारतीय नारी की यथार्थ स्थिति पर केन्द्रित रचनाओं में ‘शृंखला की कड़ियाँ’ मील का पत्थर साबित होती है। कृष्णा सोबती, राजी सेठ, जया जादवानी, इस्मत चुगताई, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि लेखिकाओं और जैनेन्द्र की सुनीता और रेणु की ‘परती-परिकथा’ से ताजमनी स्त्री पात्रों से लेखक की रचना प्रक्रिया और उनकी रचनाओं में स्त्री मुक्ति स्वरों की विकास यात्रा को राजेन्द्र यादव ने लेखों के माध्यम से व्यक्त किया है।

‘गुलामी का आनंद और स्वतन्त्रता के खतरे’ (‘ओ’ की कहानी) ‘कांटे की बात’, जून 1987 का एक महत्वपूर्ण संपादकीय है। ‘ओ’ की कहानी जो फ्रेंच उपन्यास है, और स्त्री के साथ होने

वाली सेक्स-हिंसा का एक दस्तावेज़ है। ‘ओ’ नारी-शरीर का प्रतीक है। इस कहानी के कथ्य में स्त्रियों के साथ यातना, हिंसा और सेक्स के तत्व जुड़े हुए हैं इसलिए वहाँ खून, वीर्य और विष्ठा की नदियां प्रवाहित होती हैं। जैसा द साद की रचनाओं में सेक्स हिंसा देखने को मिलती थी।। ‘ओ’ की कहानी उसी सेक्स हिंसा को पुनर्जीवित करती है। “बोउवा का मानना है, ‘जो व्यक्ति दूसरों की यातना के लिए हृदयहीन हो सकता है, वह खुद अपनी तकलीफ के लिए पहले ही संवेदनहीन हो चुका होता है’ इसलिए वहाँ हमें उत्तेजन नहीं, संवेदनशून्यता ही देखनी चाहिए। ‘ओ’ की कहानी इसी ठंडेपन और संवेदनशून्यता की कहानी है, बेहद क्रूरता से गुलामी के मिथ को चरम तक ले जाने की वकालत है इसलिए दहशत जगती है।¹

कहानी में ‘ओ’ अपने प्रेमी रेने की खातिर, हर यातना को झेलती है और उसी में आनंद की प्राप्ति करती है। उसका प्रेमी उसको एक रहस्यमयी हवेली में कई पुरुषों के पास छोड़ आता है। जहाँ उसको सुबह-शाम नियमित रूप से नग्न किया जाता है, दीवार से लटकाकर या स्टूल आदि पर लेटाकर हंटर और कोड़ों से पीटा जाता है। उसके शरीर के साथ अप्राकृतिक सामूहिक संभोग किया जाता है। शरीर को पुरुष गिद्धों की तरह नोचते हैं। ‘ओ’ सबकी साझी संपत्ति बन गयी है। “उसे स्पष्ट शब्दों में बता दिया जाता है, ‘तुम्हारे शरीर का कोई भी भाग तुम्हारा अपना नहीं है। उस पर हमारा और सिर्फ हमारा अधिकार है, हम उसका जैसा चाहें उपयोग करें। और तुम प्रतिरोध नहीं करोगी। तुम हमेशा होंठ खुले और टांगें चौड़ी रखोगी, अंदर कोई कपड़ा नहीं पहनोगी। तुम्हें जो अंगूठी पहनाई जा रही है उसका अर्थ है कि जो भी हमारे क्लब का सदस्य तुम्हें मिलेगा तुम उसकी हर वासना पूरी करोगी, आँख-से-आँख, मिलाकर नहीं देखोगी।”² ऐसी स्थिति में ‘ओ’ और ऐसी ही अन्य सारी औरतें खुश हैं। देह धारण करने के अपराध को औरतें खुशी-खुशी झेलती हैं और मनुष्य न समझ समाज उनको मांस के लौंदे में तब्दील कर देता है और जिसे ये औरतें सहमति से स्वीकार करती हैं। ‘ओ’ के साथ ठीक वही व्यवहार किया जाता है जो एक वेश्य के साथ होता है।

¹ ‘हंस’, राजेन्द्र यादव, कांटे की बात, गुलामी का आनंद और स्वतन्त्रता के खतरे, जून 1987

² ‘हंस’, राजेन्द्र यादव, कांटे की बात, गुलामी का आनंद और स्वतन्त्रता के खतरे, जून 1987.

शारीरिक यातनाओं के जरिए उसके भीतर के आक्रोश, प्रतिरोध और प्रतिशोध सब का शमन किया जाता है। निरंतर अभ्यास से अनेक पुरुषों द्वारा उसका बलात्कार हुआ जो 'ओ' से उसकी पहचान और इच्छा को समाप्त कर देता है। 'ओ' इस गुलामी को इतना आनंदमयी मानती है और ये मांग तक करती है कि जब भी मेरे पास आओ चाबुक लेकर आना। मेरी कल्पना में जो मुक्ति, स्वतन्त्रता जैसे भाव आते हैं जो मुझे तुमसे दूर कर बेवफा साबित करते हैं। ऐसी कल्पना, ख्याल को तुम कुचल डालो चाहे उसके लिए मेरे साथ जैसा करना चाहो करो। यह मांग भारतीय भक्त और साधक की मांग जैसी है जो अपने मालिक के सानिध्य में रहने के लिए कुछ भी कर गुजरने को तत्पर रहते हैं।

आज भी हजारों भारतीय सती-साध्वी पत्नियाँ, यहाँ तक की प्रेमिकाएँ भी अपने स्वामियों द्वारा पीटे जाने को उनका अधिकार मानती हैं और उसी में आनंद की प्राप्ति अनुभव करती हैं। 'ओ' की कहानी के माध्यम से कई गंभीर प्रश्न बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क को झकझोरते हैं कि कैसे और क्यों स्त्री अपने स्व का विसर्जन कर आनंद भोगती हैं? क्या यह आनंद वह वास्तव में चाहती हैं या वास्तविक आनंद का उन्हें भान ही नहीं है? स्वतन्त्रता में 'ओ' को सामाजिक तिरस्कार और असुरक्षा की आशंका रहती है इसलिए वह इसी गुलामी में स्वयं को तिल तिल कर मरने को अग्रसर है परंतु मुक्ति की अभिलाषा नहीं करती। इस लेख को लेकर राजेन्द्र यादव पर अश्लीलता के आरोप भी लगे पर अबोध लड़की को जबरन वेश्य बनाकर कचरे में तब्दील करने की प्रक्रिया का चित्रण करना क्या अश्लीलता है? इस उपन्यास का विषय राजेन्द्र यादव को स्त्री मुक्ति के अवयवों को समझने के लिए आवश्यक लगा। आगे भी राजेन्द्र यादव ने अपनी स्त्री विषयक दृष्टि को पुष्ट करने के फरवरी 1988 के संपादकीय और सितंबर 1991 में लिखे संपादकीय में इस 'ओ' की कहानी का जिक्र करते हैं।

स्वतन्त्रता का मार्ग कठिन होता है क्योंकि वह मार्ग अनजान खतरों का होता है। कामू की एक कहानी को आधार बनाकर राजेन्द्र यादव अपनी इस बात को 'यथास्थिति में लौटती हुई कढ़ावर

औरतें' संपादकीय में स्पष्ट करते हैं। कहानी का सार यह है कि एक कैदी जेल से भागकर एक घर में शरण लेता है और वहीं रात गुजरता है। अगले दिन घर का मालिक उसे दोराहे पर छोड़ देता है और बताता है कि एक रास्ता स्वतंत्र है परंतु अनजाना है जबकि दूसरा मार्ग परिचित है परंतु उसकी कैद, गुलामी वाला है। आदमी थोड़ी देर असमंजस में रहता है और फिर परिचित मार्ग पर ही चलना शुरू कर देता है क्योंकि अनजान रास्ते के खतरे उसे ज्यादा भयावह लगे। मुक्ति का मार्ग अनजान और खतरनाक है। परिचित मार्ग भले ही गुलामी का है फिर भी आदमी उसी में अपनी सुरक्षा मानता है। यह चुनाव न होकर वर्षों का एक अभ्यास है जो मनुष्य के चिंतन में कूटकर भर दिया गया है। समाज में स्त्रियाँ भी आत्मपीड़न को आनंद और गुलामी को सुरक्षा का नाम देकर जीती हैं। 'बेजुबानी जुबान हो जाए....' राजेन्द्र यादव को एक महत्वपूर्ण लेख है। इस लेख में स्त्री मुक्ति केन्द्रित अनेक सवालों को उठाया गया है। स्त्री की गृहस्थी में भूमिका, उसकी दयनीय स्थिति पर विचार किया गया है। स्त्री का अपना कोई घर नहीं होता फिर भी उसे पराये घर को अपना मानकर अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करने की जद्दोजेहद करनी पड़ती है। 'घर की इज्जत' होने का तगमा उसी के सिर मढ़ा जाता है। स्त्रियाँ जन्मदात्री भले ही हों परंतु नाम पिता का होता है। परिवार रूपी इस दुर्ग में सभी नियंत्रण और सुरक्षा की कमान भले ही पुरुषों के हिस्से हो पर सारा बोझ स्त्री के कंधों पर ही होता है। स्त्री अधिकारों से वंचित और कर्तव्यों के बोझ तले दबी एक गौरवशाली प्रतीक है। स्त्री का कोई नाम नहीं होता, न उसकी कोई अपनी पहचान होती है। उसका कार्यक्षेत्र बिस्तर से रसोई तक सीमित कर दिया जाता है। स्त्री की अपनी न कोई जाति होती है ना धर्म और न ही अपनी भाषा। ये सभी उन्हें पुरुषों के माध्यम से प्राप्त होते हैं और स्त्रियाँ उन्हें अपनाती हैं। पुरुषवादी भाषा में सभी शब्द शक्ति-सत्ता से सम्पन्न होते हैं और स्त्रियों के लिए अपमानजनक होते हैं। स्त्री उसी भाषा को अपनाती है और गाली देकर स्वयं को ही अपमानित करती है। भाषा के माध्यम से स्त्री अपने आप से अलग होकर, अपनी सत्ता को दरकिनार कर 'अन्य' में शामिल होती हैं- अब वह स्त्री वेश में पुरुष होती है यानी हिजड़ा.... देह और मन उसके अपने हैं, इन्हीं को लेकर

किए गए उनके अपने चुनाव द्वारा ही स्त्री अपनी मुक्ति की नयी राह की तालाश कर सकती हैं। सौंदर्य और देह उसकी योग्यता है और अभिशाप भी। स्त्री देह को लेकर ही भाषा के सारे सौंदर्य-मूलक शब्द हैं तो उसी के लिए वीभत्स गालियां भी। सारे कामशास्त्र स्त्री देह को ही नियंत्रित करने के लिए बनाए गए हैं। जब स्त्रियाँ यथास्थिति की घुटन में छटपटापटाती हैं तो यह घुटन ही उनकी मुक्ति की प्रेरणा बनती है। भय को स्त्री का स्थायी भाव बना दिया गया है। “दूसरों द्वारा मूल्यांकन किए जाने का भय, सौंदर्य के न रहने का भय, पुरुष की निगाहों से उतार जाने का भय, दूसरी स्त्री के अधिक सुंदर होने का भय, अपनी शारीरिक अक्षमता का भय, इज्जत का भय, बलात्कार का भय, सामाजिक सम्मान का भय, बूढ़े होकर फालतू हो जाने का भय.... स्त्री के भय के अनगिनत रूप हैं जो उसके खून की एक-एक बूंद में भरे हैं। यह भय या आशंकाएँ उसे ईर्ष्यालु और कुटिल भी बनाते हैं।”¹ स्त्रियों को पुरुषों ने अपना उपनिवेश बना रखा है। स्त्री इसी उपनिवेशिक स्थिति से मुक्ति के लिए संघर्षरत है। मुक्ति कभी भी अकेले नहीं मिलती इसलिए पुरुषों को भी स्त्रियों के साथ उनकी मुक्ति में भागीदार होना होगा। स्त्री की मुक्ति पूरे समाज की मुक्ति है।

राजेन्द्र यादव के ‘हंस’ के संपादकीय और लेखों से पाठकों को एक अनूठी संतुष्टि मिलती है। जिसकी प्राप्ति के लिए पाठक वर्ग हमेशा ‘हंस’ से जुड़ाव महसूस करते रहें। एक साहित्यिक पत्रिका की खूबी पाठक की बौद्धिक क्षुधा को शांत भर नहीं होता बल्कि उसे नई परिस्थितियों और चुनौतियों को समझने और उसका समाधान तक पहुँचने की समझ को विकसित करना भी होता है। ‘हंस’ ने ठीक यही कार्य किया, इसलिए समाज का बड़ा बौद्धिक वर्ग ‘हंस’ से आत्मीय जुड़ाव महसूस करता है।

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव आदमी की निगाह में औरत, लेख ‘बेजुबानी जुबान हो जाए....’ पृष्ठ सं. 258

5.3 'हंस' में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों के विविध आयाम

सत्ता का स्वरूप हमेशा से दमनात्मक, शोषणकारी और हिंसक ही रहा है चाहे वह सत्ता कोई भी रही हो। राजसत्ता हो, शास्त्र केन्द्रित सत्ता, लोकसत्ता या पितृसत्ता हो, इन सभी सत्ताओं ने मनुष्यों को अपने निर्धारित नियम, कानूनों से नियंत्रित कर, उन्हीं के अनुसार आचरण करने पर विवश किया। पितृसत्ता के इतिहास को यदि देखा जाए तो वह अत्यंत प्राचीन है। पितृसत्ता की शुरुआत तब हुई जब समाज में रहने वाले मनुष्य जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से जीवनयापन करते थे और फिर पुरुष वर्ग श्रेष्ठताबोध की ओर आसक्त होने लगा और स्त्री पुरुषों के बीच एक सामाजिक द्वंद्व पनपने लगा। साहित्य और इतिहास में इस द्वंद्व और इससे उत्पन्न स्त्री मुक्ति चेतना के प्रश्नों को समय-समय पर उठाया गया है। जिसमें स्त्री पुरुष दोनों ने मिलकर इस सामाजिक कुरीति से स्त्री मुक्ति की पहल की। 'हंस' पत्रिका और संपादक राजेन्द्र यादव जी का रुझान वामपंथी विचारों से प्रभावित रहा, जिसके परिणामस्वरूप 'हंस' में प्रत्येक सामाजिक मुद्दों को वैचारिक बहस का अवकाश मिलता रहा।

स्त्री, दलित, सांप्रदायिक जैसे विमर्शों मुद्दे हमेशा से ही 'हंस' में शामिल रहें परंतु मण्डल कमीशन के लागू होने के बाद स्त्री और दलित विमर्श 'हंस' के केंद्रीय पहलू बन गए। 'हंस' ने स्त्री-विमर्श को एक आंदोलन का रूप देने और उसकी दशा, दिशा को दुरुस्त करने में अग्रणी भूमिका निभाई। स्त्री-विमर्श के स्वरूप की निर्मिति में और हिन्दी साहित्य की समृद्धि में 'हंस' में चलने वाली वैचारिक बहसों और विवादित लेखों, कहानियों, कविताओं, स्त्री विमर्शों नियमित स्तम्भों का, पुस्तक समीक्षा स्तम्भ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्त्री आंदोलन को 'हंस' के माध्यम से एक विस्तृत आयाम प्राप्त हुआ। इस एकीकृत आंदोलन की गतिशीलता में समय-समय पर यथास्थितिवादी वर्ग ने अवरोध उत्पन्न किए। स्त्री की जाति का सवाल हो या श्र्लील, अश्र्लील मूल्यों की आड़ लेकर स्त्री आंदोलन को तिरस्कृत करने का प्रयास भी किया गया। 'हंस' में सेक्स, देह जाति, श्र्लील-अश्र्लील, धर्म जैसे महत्वपूर्ण चिंतनीय विषयों पर लंबी चर्चाएं की गयीं। इन्हीं

चर्चाओं से रूबरू होकर स्त्री-विमर्श ने एक मजबूत स्वरूप प्राप्त किया और 'हंस' की इसमें महती भूमिका रही है, जिसका साक्षी 'हंस' का प्रत्येक पाठक रहा है। स्त्री-विमर्श को आंदोलित करने में 'हंस' की भूमिका और स्त्री-विमर्श की मुकम्मल तस्वीर को हम 'हंस' में प्रकाशित कहानियों, वैचारिक बहसों, कविताओं के माध्यम से जानने और समझने का प्रयास करेंगे।

5.3.1 'हंस' की स्त्री मुक्ति केन्द्रित कहानियाँ

‘हंस’ की कहानियाँ समाज में नए मूल्यों की निर्मिति और पुराने जड़ और रूढ़ मूल्यों की टूटन की वैचारिकी से बनी हैं जिससे समाज चेतना प्राप्त कर समानता की व्यवस्था को स्थापित करने के लिए प्रेरित होता है। ‘हंस’ ने सामाजिक परिवर्तन और पारिवारिक भिन्न-भिन्न आर्थिक, मानसिक, सामाजिक परिस्थितियों में नए समाज की स्थिति, आर्थिक दबावजन्य विवशताएँ और समाज में व्यक्ति की अपने अस्तित्व, अपनी उपस्थिति के लिए संघर्ष की जद्दोजहद को रेखांकित करती कहानियों के प्रकाशन को अपना मूल ध्येय बनाया। सेक्स, जुगुप्सा, धर्म के प्रति उपेक्षाभाव, नारी की अतिशय पक्षधरता, दलितों के लिए बेचैन जैसे आरोप और ‘हंस’ की प्रगतिशील वैचारिकी को तथाकथित बुद्धिजीवियों ने नकारात्मक स्वरूप देकर ‘हंस’ की प्रसिद्धि को प्रश्नांकित किया परंतु इससे ‘हंस’ की धवलता में कोई क्षति नहीं आई और ‘हंस’ बेदाग हो सामाजिक एकरसता के लिए निरंतर प्रयासरत रहा। ‘हंस’ के प्रत्येक अंक में पाठकों को स्त्री मुक्ति संघर्ष की दो चार कहानियाँ अवश्य प्राप्त होती रहीं। यहाँ हम स्त्री मुक्ति के विविध आयामों को छूती कुछ उल्लेखनीय कहानियों के माध्यम से ‘हंस’ का स्त्री मुक्ति दृष्टिकोण समझ सकेंगे।

नब्बे के दशक से पूर्व की कहानियों में स्त्री-पुरुष प्रेम, पति-पत्नी के बीच तनाव जहां तनाव और घुटन मुख्यतः स्त्रियाँ ही झेलती रही, माँ ना बन पाने की पीड़ा, स्त्रियों की दमित इच्छाएँ, आदि विषयों को केन्द्रित किया जाता रहा। उन कहानियों से स्त्री की पीड़ा व्यक्त होती है, पीड़ा से मुक्ति की बेचैनी भी पाठक स्पष्ट रूप में महसूस करता है परंतु उस दमनात्मक स्थिति से बगावत कर प्रतिरोध करना औरतों को अपने पत्नी धर्म के विरुद्ध लगता था। विरोध करने की स्थिति उस दौर में एकदम नगण्य थी। फरवरी 1989 में वनु पांथी की ‘किस तरफ’, अगस्त 1989 में प्रियंवद की ‘नदी होती लड़की’ और नवम्बर-दिसम्बर 1994 में निर्मल वर्मा की ‘बुखार’ आदि प्रेम कहानियाँ हैं, जहां स्त्री प्रेम करती है, उसके भीतर अपने प्रेमी के साथ रहने की कसमसाहट भी है परंतु समाज के नियमों और लोकलाज के चलते प्रेम को पाने के लिए विरोध नहीं है। प्रेमी से विवाह न होकर

किसी अन्य पुरुष से विवाह होने पर जीवन तनावमय बना रहता है। प्रेमी-युगल आपस में विवाह उपरांत भी मिलते हैं। ‘नदी होती लड़की’ में जेनी और चार्ली प्रेमी युगल हैं। जेनी के पति को यह जानकारी है कि जेनी और चार्ली अब भी आपस में प्रेम करते हैं और छुप-छुप कर मिलते भी हैं। कहानी में एक प्रोफेसर है जो जेनी के पति को बताता है कि मेरी पत्नी का अन्यत्र किसी के साथ संबंध है तो उसको भी अपनी पत्नी और चार्ली का ध्यान आता है। प्रोफेसर उसको बताता है कि “रात में उसको लेते समय मैं उसके सुअर के पिल्ले प्रेमी की बात करता हूँ.....कितनी यातना होती है उसे मुझे तब लगता है मैं उसके साथ बलात्कार कर रहा हूँ...वह मेरे शरीर को एक घृणित वस्तु की तरह ग्रहण करती है और कुछ हद तक उस पिल्ले के लिए दुखी होती है.... मैं उसके साथ बलात्कार करने की भावना से सुखी....उस कुतिया का यही इलाज है... वह ऐसे ही मर जाएगी”¹ यह समाज की कैसी रूढ़ियाँ हैं, जहाँ नीरस दांपत्य जीवन को जीने के लिए स्त्रियाँ अभिशप्त हैं और समाज की परवाह के कारण संबंधविच्छेद करने में उन्हें अभी भी सकुचाहट महसूस होती है। प्रायः प्रतिदिन स्त्रियाँ अपने जड़ जीवन को ढोती हैं और अपनी जीवंत आत्मा को मारती हैं। बांझपन स्त्रियों के लिए एक अभिशाप माना जाता है। समाज में ऐसी स्त्रियाँ सम्मानीय नहीं होतीं उन्हें प्रताड़ित किया जाता है उन्हें गालियाँ दी जाती हैं। ‘हंस’ में स्त्री जीवन के इस पक्ष को स्पष्ट करती और समाज को संवेदनशील बनाती अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। ऐसी ही राजी सेठ की ‘अकारण तो नहीं’ कहानी है जो नवंबर-दिसम्बर 1994 में छपी है। इसमें दीपाली को बच्चे ना होने के लिए जिम्मेदार माना जाता है परंतु डॉक्टरी जांच से स्थिति स्पष्ट होती है कि कमी उसके पति में है फिर भी सुधाकर उसको इस बात को छिपाने के लिए कहता है। सुधाकर दीपाली को उसके मायके भिजवाकर दूसरी शादी करने की तैयारी में लग जाता है। ‘हंस’ मई 1989 में प्रकाशित सुरभि पांडे की ‘अहल्या’ कहानी भी स्त्री के इसी त्रासद जीवन का दस्तावेज़ है।

¹ ‘हंस’, संपादक राजेन्द्र यादव, अगस्त 1989, पृ. 33

जहां पहले की कहानियों में स्त्रियों की दीन दशा का चित्रण होता था परंतु शोषण के विरुद्ध विरोधात्मक स्वरों की कमी खलती थी 'हंस की कहानियों में स्त्री के विरोधी स्वरों का भी समावेश समय के साथ होता गया और 'हंस' स्त्री मुक्ति के पंखों का विस्तार करता गया। 'हंस' फरवरी 1989 की 'बलात्कार' (राकेश शर्मा) और 'हंस' जून 1987 की 'तिरिया चरित्तर' अपने दौर की कहानियों से भिन्न है उसने अपने साथ हो रहे शोषण के विरुद्ध संघर्ष है। उन्हें इस विरोध के लिए सजा भी मिलती है परंतु सत्ता के विरुद्ध संघर्ष ही मुक्ति का पहला कदम होता है और इस तरह की संघर्ष की कहानियों ने पितृसत्ता को चुनौती दी। मृणाल पांडे की 'रक्ति' (मई 1989), ज्योति संग की 'कैरेक्टर' (फरवरी 1993), प्रेमकुमार मनी की 'उपसंहार' (मार्च 1993), कनकलता की 'आठवीं लड़की का जन्म' (मई 1994), सुधा अरोड़ा की 'रहोगी तुम वही' (जून 1994), कुसुम अंसल की 'मेरे आशिक का नाम' (जुलाई 1994) जया जादवानी की 'कयामत का दिन उर्फ कब्र से बाहर' (नवंबर-दिसंबर 1994) इत्यादि स्त्री जीवन की पीड़ा को बयां करती कहानियाँ हैं जिसमें कुछ ही स्त्री पात्र विरोध का साहस करती हैं बाकी मौन रहकर सभी दुख दर्द को अपने जीवन का अंग मानने लगती हैं। उन्हीं स्त्रियों को जागृत और संघर्ष के लिए प्रेरित करने के लिए 'हंस' में शोषण विरोधी कहानियों को भी राजेन्द्र यादव जी ने प्रकाशित किया।

स्त्रियों को बराबरी का अधिकार मिले इसके लिए सर्वप्रथम अमेरिका में समान अधिकार संशोधन बिल पास हुआ था परंतु कानूनी अधिकार प्राप्त होने में और स्त्रियों तक उसकी पहुँच में ज़मीन आसमान का अंतर होता है। परिवार का अभी भी मुखिया पुरुष ही रहता है पितृसत्ता की जड़े इतनी गहरी हैं कि स्त्रियों को प्राप्त कानूनी अधिकारों को भी पुरुष स्त्रियों की पहुँच से दूर रखता है। अप्रैल 1993 मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'फैसला' इसी सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करती है। कहानी की पात्र बसुमती ग्राम प्रधान बन जाती है परंतु वह कोई भी फैसला खुद नहीं ले पाती। वह पति द्वारा ही नियंत्रित होती है। पितृसत्ता आधारित समाज में केवल कानूनी अधिकार स्त्री को शोषण से मुक्त नहीं कर सकते। पितृसत्ता के रहते ये अधिकार केवल कागजों तक ही सीमित हैं। 3

अप्रैल 2020 को इसी समस्या को लेकर दीपक कुमार मिश्रा निर्देशित “पंचायत” नाम की वेब सीरीज आई थी। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री की आत्मनिर्भरता से भयभीत रहता है, उसे डर रहता है कि आत्मनिर्भर स्त्रियाँ उनकी जकड़न भरी कैद से बाहर निकाल जाएंगी और उनकी सत्ता की चूले भरभरा कर ढह जाएंगी। इसी पितृसत्ता के ध्वस्त होने पर स्त्रियाँ पूर्णतः मुक्त हो सकती हैं।

जून 1995 में लवलीन की कहानी ‘छिनाले’ भी पितृसत्ता को ही स्त्री मुक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानती है। कहानी लिंग आधारित भेदभाव को सामने लाती है और समाज के सामने यह सवाल रखती है कि क्यों इस पुरुषवादी समाज के ऐसे दोहरे मानदंड है कि जो व्यवहार पुरुषों के लिए स्वीकार्य है साथ ही पुरुष उससे समाज में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का दंभ भरते हैं वही व्यवहार यदि स्त्रियाँ करें तो वे समाज से बहिष्कृत कर दी जाती हैं। जनवरी 2011 में शील इन्द्र कृत ‘एक बड़ा सवाल’ कहानी और सुषमा मुनीन्द्र की ‘कसरतवाली’ कहानी में स्पष्टतः देखा जा सकता है कि कैसे विवाह और परिवार संस्था एक लड़की के सपनों, उसकी आत्मनिर्भरता में बाधक होते हैं।

भूमंडलीकरण और बाज़ार ने स्त्री और पुरुष दोनों को एक यंत्र के रूप में परिवर्तित कर दिया। ऐसा यंत्र जिसमें रिश्तों और मानवीय संवेदनाओं के लिए कोई जगह नहीं है। महानगरीय जीवन शैली पूरी तरह इस बाजारीकृत तंत्र से प्रभावित है। जनवरी 2011 में प्रकाशित स्वाति तिवारी की कहानी ‘स्त्री मुक्ति’ के अंतर्गत शैरीन नौकरी करती हैं परंतु कहानी में स्त्री के नौकरी करने से स्थिति ऐसी बनती है कि परिवार संस्था में संवेदनहीनता का माहौल है। किसी के पास भी अपने परिवारजनों के लिए समय नहीं है और न किसी को किसी भी प्रकार की परवाह। यहाँ रिश्तों और संवेदना का कोई अर्थ नहीं है। कहानी में यह सवाल प्रमुखता से उठाया गया है कि क्या यह स्त्री मुक्ति का यथार्थ है या समाज में ऐसा यूटोपिया गढ़ा जा रहा है? स्त्री मुक्ति के लिए केवल आर्थिक स्वतन्त्रता नाकाफी है? आर्थिक स्थिरता के साथ साथ राजनीतिक, सामाजिक उत्थान भी आवश्यक है। मुक्ति की तलाश में स्त्रियाँ कब बाजारीकरण की गुलामी बनती गयी इसका संज्ञान

किसी ने नहीं लिया। इस तरह न तो स्त्रियों को मुक्ति मिलेगी और न ही समानता आधारित समाज की स्थापना के सपने को मुकम्मल किया जा सकता है।

भारतीय नारीवाद की पहुँच अपने शुरुआती समय में मध्यमवर्गीय स्त्रियों तक ही सीमित थी। प्रत्येक समाज की स्त्रियाँ अपने को उससे जुड़ा हुआ महसूस नहीं करती थी। 'हंस' में निम्नवर्गीय स्त्रियों के जीवन को भी केंद्र में लाया गया। निम्नवर्गीय स्त्रियों के श्रम और यौन शोषण की अनेक कहानियाँ 'हंस' में प्रकाशित हुईं। मध्यमवर्गीय स्त्रियों की अपेक्षा निम्नवर्गीय श्रमिक स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग होती हैं और उन्हें पाने के लिए संघर्ष करती हैं। शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध की प्रवृत्ति निम्नवर्गीय महिलाओं में अधिक होती है। सितंबर 1992 में प्रतिभा राय की कहानी 'टूलीवाली', अप्रैल 1994 में संजीव की 'सागर सीमांत', अगस्त 2001 में अंजली काजल की कहानी 'माँ डरती है' और सितंबर 2008 में उषा ओझा की कहानी 'गुम्मी-गुम्मी' ऐसी ही कहानियों के उदाहरण हैं। 'टूलीवाली' कहानी ऐसी ही एक प्रगतिशील विचारों वाली स्त्री की जीवन गाथा है। कहानी में यह स्त्री बचपन से ही अपनी माँ के साथ होते शोषण की साक्षी रही है। उसकी माँ दिन-रात जी तोड़ श्रम करती है और रात में पति द्वारा पिटी जाती है। अपनी माँ के जीवन के कटु अनुभवों से सीख लेकर वह शादी न करने का निर्णय लेती है। प्रेम करती है, साथ ही बच्चों भी जनती है और बिना किसी पुरुष का साथ लिए, बिना किसी के नाम के वह अपने बच्चों को पालती है। उसने सामाजिक मर्यादों, बंधनों की परवाह किए बगैर अपना जीवन अपनी शर्तों पर जिया। परंतु अंत में उसकी मृत्यु पर उसके शव का अंतिम संस्कार करने वाला कोई नहीं था। जिन पाँच पुत्रों को उसने श्रम कर पाला बड़ा किया वो इसी समाज की मर्दवादी सोच का शिकार थे और अपनी माँ के आचरण को अनैतिक समझ उससे विलग हो गए थे।

'माँ डरती है' कहानी में जसबीर ऐसी पात्र है जो समाज में स्वतन्त्रता से जीना चाहती है। अपनी इच्छाओं का दमन कर घुट-घुट कर जीना उसे नागवार है। वह अपनी शर्तों पर जीना चाहती है, घर में कैद रहकर पुरुषों के अधीन रहना उसे मंजूर नहीं। यौन हिंसा, शोषण, घरेलू हिंसा, धोखा

जैसी तमाम समस्याओं से संघर्ष करती हुई स्त्री आज पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहती। आज स्त्रियाँ गुलामी और आज़ादी के भेद को जानती और समझती हैं, इसलिए वह हर कीमत पर उसे पाने के लिए संघर्षरत हैं। उच्चवर्गीय और मध्यवर्गीय समाज निम्नवर्ग के साथ अधिकांशतः अमानवीय व्यवहार करता आया है। ऐसी ही अमानवीय परिस्थिति को उषा ओझा की कहानी ‘गुम्मी-गुम्मी’ व्यक्त करती है। कहानी में नेटुआ घुमंतू जाति का संघर्ष है, यह जाति तमाम जंगल की चुनौतियों का तो अपने संघर्ष और जिजीविषा से समाधान कर लेती है परंतु सुसंस्कृत मानवीय समाज की अमानवीय व्यवस्था के आगे उन्हें घुटने टेकने पड़ जाते हैं। कहानी की पात्र ‘रूपलिया’ इसी घुमंतू समाज की स्त्री है। जब उसका पति पुलिस द्वारा फर्जी मुठभेड़ में मार दिया जाता है और रूपलिया पुलिस थाने लाश की शिनाख्त के लिए जाती है तो पुलिसकर्मी अत्यंत अमानवीय व्यवहार करते हुए कहते हैं कि पहले जाकर साहब की मालिश करो फिर तुम्हें शव भी दिखा दिया जाएगा। समाज इतना अमानवीय, संवेदनहीन कैसे हो गया है जो उस स्त्री की पीड़ा को भी नज़रअंदाज़ करे जिसके पति का शव उसके आगे पड़ा हो और वो उसे तब भी भोगानन्द की वस्तु ही समझे। स्थिति तब और अधिक शोचनीय है जब कानून के रक्षक, व्यवस्था से जुड़े लोग ही स्त्रियों के प्रति ऐसा दृष्टिकोण रखते हों। ऐसी व्यवस्था में एक निम्नवर्गीय स्त्री के अधिकारों का रक्षक कौन? कैसे स्त्रियाँ न्याय के लिए आशान्वित हो सकेंगी? ऐसे ही सवालों से यह कहानी गुथी गयी है।

‘हंस’ में दलित स्त्री की संवेदनाओं और दलित स्त्री मुद्दों को समय-समय पर प्रकाशित कहानियों के माध्यम से व्यक्त किया है। दलित स्त्री भी पितृसत्ता से वैसे ही त्रस्त है जैसे गैर-दलित स्त्री। ‘हंस’ में खुद दलित स्त्रियों ने अपनी सजगता, अपने संघर्षपूर्ण रचनात्मक लेखन और शोषण विरोधी स्वरों से दलित-विमर्श में जेंडर के सवालों को अत्यंत सक्रियता और मजबूती के साथ उठाया। रजतरानी मीनू, अनीता भारती, सुशीला टाकभौरै, पूनम तुसामड, सुमित्रा मेहरोल, कौशल पवार आदि जैसी दलित महिलाओं ने अपनी कहानियों में दलित स्त्री की दयनीय दशा को अत्यंत संवेदनशील ढंग से पाठकों के सम्मुख रखा। दिसम्बर 2002 में सूरजपाल चौहान की ‘अहल्या’

कहानी बदलती परिस्थितियों में दलित स्त्री समाज की विडंबनाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करती है। कहानी में एक दलित पढ़ी-लिखी संतोष नाम की लड़की है जो मैट्रिक प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण है और आगे बढ़ना चाहती है, खूब पढ़ने लिखने की चाहत रखती है परंतु बिरादरी के दबाव में परिवार वाले उसका विवाह कर देते हैं। उसे मानवमल उठाने के लिए विवश किया जाता है जिससे उसके सपने सब खत्म होते जाते हैं और वह इस स्थिति के आगे हार तो नहीं मानती परंतु धीरे धीरे जड़ बनती जाती है। इसी स्थिति को लेखक पाठकों से सामने रखता है कि समाज स्त्रियों के प्रति कितना असंवेदनशील है।

नवंबर 2005 में अजय नावरिया की कहानी ‘चीख’ छपी। जिसमें पुरुष वर्ग पर भी बाज़ार का प्रभाव पड़ता है और कैसे गाँव और महानगर में जाति को लेकर भिन्नताएँ हैं इस कहानी के माध्यम से देखा जा सकता है। जहाँ गाँव में उसकी जाति के कारण कुछ दबंग लड़के उसका शारीरिक शोषण करते हैं वहीं महानगर में आते हैं वह सेक्स वर्कर के रूप में काम करता है उसी के लिए उसे पैसे भी मिलते हैं और वहाँ किसी को उसकी जाति से कोई मतलब नहीं। यह कहानी बाज़ार के उपयोगितावादी दृष्टि को दिखती है जहाँ दलित, गैर-दलित, पुरुष और स्त्री सभी बस उपभोग कर आनंद प्राप्ति और व्यावसायिक मात्र है। सुशीला टाकभौरे की ‘बदला’ कहानी जो अक्टूबर 2008 में आई, उसमें दलित स्त्री की अस्मिता और स्वाभिमानी स्वरूप को वर्णित किया है। कहानी में छौआ माँ एक स्वाभिमानी, साहसी महिला है। अपने स्वाभिमान को बचाए रखने के लिए वो किसी से भी बिना डरे लड़ने को तत्पर रहती है। दलित स्त्रियों में इस तरह अपने स्वाभिमान को लेकर जो चेतना का विस्तार हो रहा है उससे निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ जब खुद अपने अधिकारों और अस्मिताबोध के लिए संघर्ष करने लगी हैं तो भविष्य में जरूर उसे हर प्रकार की गुलामी से मुक्ति मिलेगी।

दिसंबर 2008 में हर भगवान चावला की ‘चोणी’ कहानी वीरो नाम की स्त्री पर केन्द्रित है जिसको अपनी दिवंगत बहन के पति से विवाह करने पर मजबूर किया जाता है। ना चाहते हुए भी

परिवार के हाथों मजबूर हो उसे अपने जीजा से विवाह करना पड़ता है साथ ही वह अपने प्रेमी गुरदीप से शादी कर लेती है। जीजा को जब इस बात का पता चलता है तो वह उसे जबरन अपने घर ले आता है वहाँ वह उसे तरह तरह की यातनाएँ देता है। अपने गाँव के जमींदार से भी वह वीरो को शारीरिक संबंध बनाने पर विवश करता है। कहानी में नया मोड़ तब आता है जब इस शोषण से उद्धेलित हो वह जीजा और जमींदार दोनों की हत्या कर अपने प्रेमी गुरदीप के साथ रहने चली जाती है। कहानी से यह संदेश लेखक देना चाह रहे हैं कि स्त्रियाँ अब अपनी स्थिति को नियति मानकर घुट घुट कर जीवन जीना स्वीकार नहीं करेंगी बल्कि अपने जीवन के निर्णय वे खुद करने में सक्षम हैं। कहानीकारों ने जातिभेद के साथ-साथ दलित समाज में व्याप्त अनेक चुनौतियों को रेखांकित किया है जिसमें स्त्री के सवाल, स्त्री श्रम, बाज़ारवाद और पूंजीवाद के दलित समाज पर पड़ रहे दुष्प्रभाव को दर्शाया गया है। 'हंस' के नए कहानीकार स्त्री चेतना और स्त्री मुक्ति के प्रश्नों पर काफी संवेदनशील दिखाई देते हैं। इन कहानियों में दलित स्त्री के जीवन की विडंबनाओं को प्रत्येक दृष्टिकोणों से सामने लाने का सफल प्रयास किया गया है।

स्त्री देह के साथ अश्लीलता शब्द को समाज जोड़ता आया है। ये दोनों शब्द एक दूसरे से इतना जुड़े हैं कि एक की चर्चा हो तो दूसरे का आना स्वाभाविक सा हो गया है। प्राकृतिक रूप से स्त्री-पुरुष दोनों की देह में भिन्नता तो अवश्य है ही परंतु यह शोचनीय मुद्दा है कि इस प्राकृतिक भिन्नता को समाज ने किस प्रकार सामाजिक विभेद और पुरुष वर्चस्व का आधार बना दिया। स्त्री शोषण का मुख्य आधार उसकी अपनी देह रही है। स्त्री देह जिसे समाज ने अश्लीलता का पर्याय माना। अश्लीलता एक सामाजिक सोच है जिसे पुरुषवादी कुत्सित मानसिकता ने केवल स्त्री देह पर ही आरोपित किया है। स्त्री उत्थान और संघर्ष में जब लिंगभेदी मुद्दों ने स्त्री मुक्ति स्वर को बहस का केंद्र बनाया तो इस चिंतन के स्वरूप में परिवर्तन देखने को मिला। 'सेक्स' और लिंग (जेंडर) में भेद स्पष्ट करते हुए बताया कि 'सेक्स' प्रकृति की देन है जबकि जेंडर पितृसत्ता मानसिकता की उपज है। 20वीं सदी के अंतिम दशकों में भारत में स्त्री-विमर्श का काफी उभार आया। स्त्रियों ने अपनी

कहानी अपनी जुबानी कहने की ठान ली और अपने कटु अनुभवों को कलमबंद किया। ‘हंस’ में भी स्त्री देह, श्लील-अश्लील पर लंबी चर्चाएँ हुई। ‘हंस’ और संपादक राजेन्द्र यादव पर अश्लीलता को बढ़ावा देने के आरोप भी लगे। जिसके लिए राजेन्द्र यादव जी का कहना था “स्त्रियों का हजारों सालों से दमन और अंकुश उनकी देह को आधार बनाकर किया गया है। हमारे साहित्य में स्त्री के नाम पर स्त्री शरीर का चित्रण है। उम्र, शरीर, सुंदरता के आधार पर नायिका बना दी गयी। आज भी सौंदर्य प्रतियोगिताएं शरीर की ही होती हैं। सारी अश्लीलता, पवित्रता, शुचिता और संस्कृति की परिभाषा स्त्री के शरीर से तय होती है, उसके ढके या उभारे जाने से तय होती हैं। जिस जगह बेड़ी बार-बार रगड़ती है, घाव करती है, उसी जगह तो ध्यान जाएगा? स्त्री की मुक्ति उसके शरीर से शुरू होगी।”¹

स्त्री देह ही समस्त संसार में शोषण का मुख्य आधार रही है। स्त्रीवादी आंदोलनकारियों ने उसे ही एक अस्त्र के रूप में प्रयोग कर अपना प्रतिरोध दर्ज किया। देह के माध्यम से अपने विरोध को सामने लाने की शुरुआत स्त्रीवादी आंदोलन की देन है। पश्चिम में साठ के दशक से ही ‘ब्रा-बर्निंग’ के रूप में प्रतिरोधी स्वर देखने को मिले जहां स्त्रियों द्वारा नग्न अवस्था में प्रदर्शन किया गया। हाल ही में कट्टर स्त्रीवादी समूह ‘फीमेन’, की एक कार्यकर्ता ने 20 अक्टूबर 2020 को पोलैंड में गर्भपात को पूर्णतः प्रतिबंधित किए जाने के विरोध में यूक्रेन में पोलैंड के दूतावास के सम्मुख नग्न होकर प्रदर्शन किया। उसने अपने नग्न शरीर पर ‘माई बॉडी माई चॉइस’² लिखा हुआ था और अवैध गर्भपात को दर्शाते विरोध प्रतीक के रूप में कोट हैंगर को अपने मुंह में पकड़े थी। भारत में पहले इस तरह के विरोध कल्पनातीत लगते थे परंतु अब भारत में भी विरोध का ऐसा स्वरूप स्त्रियाँ अपनाने लगी हैं। मणिपुर की जुलाई 2004 की घटना³ सामने आती है, जिसमें अर्धसैनिक बलों

¹ धनंजय दुबे, हिन्दी कहानी और ‘हंस’, पृ. 216-217

² <https://shrts.in/dZDi>, अबॉर्शन-बैन-के-विरोध-में-यूक्रेन-में-पोलैंड-के-दूतावास-के-बाहर-नग्न-हुई-कार्यकर्ता-1603730158219?utm_source=news_share

³ <https://www.bbc.com/hindi/india-39276129>, 13 साल पहले क्यों करना पड़ा था औरतों को नग्न प्रदर्शन?, 15 मार्च 2017।

द्वारा 35 वर्षीय महिला का बलात्कार और हत्या का मामला सामने आया जिसके विरोध में 12 वृद्ध महिलाओं ने अपने कपड़े उतार कर सड़क पर नग्न प्रदर्शन किया था। गुजरात के राजकोट में 5 जुलाई 2007 को एक ऐसा ही मामला¹ देखने को मिला जब दहेज और घरेलू हिंसा से व्यथित पूजा चौहान नाम की महिला ने अर्ध-नग्न शरीर से विरोध प्रदर्शन किया और पैदल ही पुलिस कमिश्नर के दफ्तर की कूच की। 'हंस' के जनवरी 1995 के अंक में ही इस देह संबंधी सवालों को उठाया गया है। नवरंग जायसवाल की कहानी 'तुम अपना बयान जारी रखो' इन्हीं समस्याओं का उत्कृष्ट नमूना है। जहां स्त्री समाज से इतनी व्यथित हो जाती है कि वह स्वयं नग्न हो जाती है। समाज ने समय समय पर उसके शरीर को बीच सड़क नंगा किया कभी जाति के नाम पर, तो कभी धर्म के नाम पर, लेकिन जब वह स्वयं ऐसा करने का निर्णय लेती है तो समाज के ठेकेदारों को यह रास नहीं आता। स्त्री के लिए देह से जुड़े प्रश्न अत्यंत आवश्यक हैं, क्योंकि देह के चलते ही उसको तमाम तरह की प्रताड़नाएँ झेलनी पड़ती है। फरवरी 1995 में विभान्शु दिव्याल की 'ब्लू फिल्म' और नवम्बर 2009 में छपी उर्मिला शिरीख की कहानी 'एम.एल. सी' इसी दैहिक पीड़ाओं का आख्यान है। हमारे समाज में अश्लीलता का कोई निश्चित ढांचा नहीं है या ऐसे कहे कि कोई निर्धारित तय मूल्य, मानदंड नहीं है। कोई भी कृति केवल देह के खुले, नग्न चित्रण प्रस्तुत करके प्रसिद्ध नहीं हो सकती परंतु यदि ऐसा चित्रण रचना को उसके तार्किक मंतव्य को सफल बनाने में सहायक है तो उसके ऐसे अनायास प्रयोग से आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किसी कृति को अश्लील करार दे कर हम यथार्थ से भाग नहीं सकते, यदि समाज की नग्न वास्तविकता को स्पष्ट करने, सामने लाने में ऐसे नग्न चित्रण का सहारा लेना पड़े तो इससे किसी को भी गुरेज नहीं होना चाहिए। अश्लीलता लिंग सापेक्ष तो है ही साथ ही यह समाज सापेक्ष धारणा भी है। अलग-अलग वर्गों के लिए श्लील-अश्लील की अलग-अलग विचारधारा है। एक वर्ग के लिए जो सामान्य घटना है वह

¹<https://timesofindia.indiatimes.com/india/rajkot-woman-stages-semi-nude-protest-against-dowry-demand/articleshow/2176007.cms>, rajkot women stages semi- nude protest against dowry demand

अन्य वर्ग के मध्य अश्लील हो सकता है। भिन्न वर्गों में नैतिकता के लिए भिन्न भिन्न वर्गीय चरित्र होते हैं। 'हंस' फरवरी 1995 के अंक में छपी रमासिंह की कहानी 'इट्स माई लाइफ' ऐसी ही वर्गीय विभेद को सामने लाती है जिसमें मध्यवर्गीय बिन्नी नाम की लड़की के लिए जो बात उसकी मृत्यु का कारण बन जाती है वही बात लीजा और जेनी जो उच्च वर्ग से आती हैं उनके लिए वो बात एकदम सामान्य है। इस तरह 'हंस' में 'स्त्रीमुक्ति' के विविध आयामों को कहानियों के माध्यम से पूरी प्रतिबद्धता के साथ मजबूती से उठाया गया है।

5.3.2 'हंस' की स्त्री मुक्ति केन्द्रित कविताएं

'हंस' की ख्याति एक कथामासिक पत्रिका के रूप में रही है। राजेन्द्र यादव पर काव्य की उपेक्षा करने के आरोप भी आलोचक समय-समय पर लगाते रहे हैं परंतु राजेन्द्र यादव जी ने कभी आरोपों और आलोचना की परवाह नहीं की और 'हंस' के प्रत्येक अंक में नियमित रूप से तीन-चार पृष्ठ कविताओं के लिए संरक्षित रखे। 'हंस' की कविताओं से समसामयिक परिदृश्य को समझने की नई दृष्टि देखने को मिलती है। इन कविताओं में उपेक्षित वर्गों की वेदना, उससे उत्पन्न असंतोष तथा विद्रोह की भावना का भी उदय होता है। 'हंस' ने स्त्री मुक्ति के लिए जो मुहिम शुरू की थी उसे प्रत्येक अंक के विभिन्न स्तंभों में प्रकाशित गंभीर सामग्री के माध्यम से देखा जा सकता है। स्त्री मुक्ति केन्द्रित कविताएं भी 'हंस' में निरंतर प्रकाशित होती रहीं। यहाँ कुछ महत्वपूर्ण कविताओं के हवाले से समझने का प्रयास होगा कि स्त्री मुक्ति की चेतना को 'हंस' कैसे पुष्पित और पल्लवित कर रहा था जिससे स्त्री मुक्ति संघर्ष को बल मिला और निरंतर विकास होता रहा।

नवंबर 1997 में इन्दु जैन की 'दो औरतें' और अल्पना की 'औरत' कविताएं प्रकाशित हुईं। इन कविताओं में बताया है कि कैसे पुरुष स्त्रियों को अपने अधीन रखता है। स्त्रियों पर जिम्मेदारियों का बोझ लादता है, मारता है, पीटता है, परिवार, समाज की दुहाई देकर उसे अपनी आप बीती कहने को भी रोका जाता है। स्त्री अपनी स्थिति को कानी गदहिया, दमयंती, द्रोपदी, भंवरी, मेधा, तमलीमा सब में उपस्थित मानती है क्योंकि हर काल में हर वर्ग में स्त्री शोषित ही होती हैं। नवंबर 1996 में नूपुर अशोक ने 'औरत' कविता में स्त्री के सम्पूर्ण जीवन जिसमें विवाह से पूर्व, विवाह, बच्चे की जिम्मेदारियों, बुढ़ापे तक की छवि को चंद पंक्तियों से बड़ी ही सहज भाषा में प्रस्तुत किया है। स्त्री के हंसने, बोलने, घूमने-फिरने पर पाबंदी, रसोई में निपुण बनने, पति सास की सेवा, बच्चों का पालन पोषण, और स्त्री की वृद्धावस्था का वर्णन तथा अंत में स्त्री को यह आभास होना एक अत्यंत मार्मिक क्षण है कि जिंदगी खत्म होने वाली है पर क्या मेरी जिंदगी शुरू हुई थी? अक्टूबर 2006 में हरेप्रकाश उपाध्याय ने 'औरतें' और जून 2004 में रूपाली सिन्हा की 'मुक्ति'

नाम से कविता लिखी। इन कविताओं में स्त्री के मुक्तिकामी विद्रोही स्वरों को देखा जा सकता है। मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही स्त्रियों की अभिव्यक्ति इन कविताओं में मिलती है। जहां अपनी बराबरी और आजादी के प्रश्न स्त्रियाँ उठाने लगती हैं तभी से पुरुषों की निगाह चढ़ जाती है। संघर्षशील स्त्रियाँ पुरुषों की आँख की किरकिरी बन जाती हैं फिर भी वह अपनी मुक्ति के लिए चौकट से बाहर निकल चुकी हैं।

स्त्री के अंग-प्रत्यंग को लेकर फिल्मों में कितने ही गीत लिखे जाते हैं जिसमें स्त्री को केवल देह साबित करने के कोशिश रहती है। ऐसा ही खलनायक फिल्म का एक मशहूर गाना है ‘चोली के पीछे क्या है’ इस गाने की देहवादी दृष्टि को समझते हुए तारानन्द की कविता ‘चोली गीत सुनकर’ जून 1996 में प्रकाशित हुई जिसमें कवि कहता है कि नायिका झूठ क्यों बोल रही है कि चोली में दिल है ? इतना सब स्त्रियाँ गंवा चुकी हैं तो झूठ बोलने का क्या औचित्य? किसका भय है उन्हें? मार्च 2011 में हरप्रीत कौर ने ‘औरत’ कविता में स्त्री के प्रति पुरुष की देहवादी दृष्टि स्पष्ट की है।

‘उसकी

देह से

उतरी है उम्र

जैसे

उतरती थी धूप

मेड़ पर से’¹

जनवरी 2011 में ऐसे विषय को उठाया गया जिसमें पुरुष की ऐसी देहवादी दृष्टि स्पष्ट होती है जहां पुरुषों की अपने सगे-सम्बन्धों के प्रति भी काम वासना जाग्रत होती है इस को सूरजपाल चौहान ने ‘कुछ कहा नहीं जा सकता’ कविता में उठाया है।

¹ हंस- सं. राजेन्द्र यादव, मार्च 2011 पृष्ठ सं. 49.

स्त्री मुक्ति के लिए 8 मार्च को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती, जुलूस में शामिल हजारों औरतों की कथा और उनके संघर्ष को अक्टूबर 1998 में अरुण कमल ने 'झंझा' कविता के माध्यम से लिपिबद्ध किया है। नीलेश रघुवंशी की दिसंबर 2002 में 'हिदायतें' और अप्रैल 2004 में आरती झा की 'पड़ोसी की लड़की अदिति' कविताएं स्त्रियों पर कदम कदम पर लगाई जाने वाली पाबंदियों और दी जाने वाली हिदायतों के हवाले से स्त्री के बन्दिशों से भरे जीवन की ओर इंगित करती हैं।

स्त्री के जीवन में मातृत्व ही उसकी सार्थकता साबित करने का एक महत्वपूर्ण मानदंड बना दिया गया है। मंजरी दुबे ने उन स्त्रियों की पीड़ा को बयान किया है जो इस सार्थकता से महरूम हैं, समाज उन्हें तिरस्कृत निगाह से देखता है और सामाजिक बहिष्कार के चलते उन्हें दरबंद भटकना पड़ता है। ऐसी पीड़ा को मुखरित करती हैं मंजरी दुबे की कविताएं 'काश मैं भी एक बच्चा जनती' और 'बांझ औरत और बंजर ज़मीन का कहाँ ठिकाना है'। कुछ कविताएं कवियों ने माँ को समर्पित की हैं नवंबर 2002 में 'सोनी सिंह की माँ की चिट्ठी' और अगस्त 1992 में अर्चना वर्मा ने 'कविताओं में इन दिनों माँ', सुजाता चौधरी की 'माँ और पृथ्वी', फरवरी 1999 में अर्चना वर्मा की 'बड़ी हो गयी बेटी'। और जून 2011 में राजेन्द्र कुमार कनौजिया की 'माँ'। माँ की चिट्ठी बच्चों में ऊर्जा उत्पन्न करती है चाहे उसमें डांट हो या दुलार। माँ अपनी बच्ची को सिंहासन पर बैठाना चाहती है पर वह अपने जैसे जीवन की कामना अपनी बच्ची के लिए नहीं करती और ये कामना हर पीढ़ी की माँओं की है। 'माँ और पृथ्वी' में माँ अपने बच्चों को पृथ्वी की तरह सहनशील होने की सीख देती है परंतु जानते हैं कि पृथ्वी से अधिक सहनशील, करुणामयी, रक्षक, माँ होती हैं। पृथ्वी तो क्रोधित होकर फट जाती है और हजारों जानों को अपना ग्रास बना लेती है जैसा गुजरात में हुआ, परंतु माँ कभी अपनी संतानों पर आंच नहीं आने देती। वही असली रक्षक है और पृथ्वी को माँ से सीखना चाहिए। 'बड़ी हो गयी बेटी' में माँ अपनी बेटी को सही राह चुनने की स्वतन्त्रता देना चाहती है और उसे अपने फैसले लेने के लिए प्रोत्साहित करती है। माँ नहीं चाहती मेरी बेटी

मेरे चले हुए मार्ग का अनुसरण करें। जून 1999 में 'माँ का नाच' कविता में बोधिसत्व ने स्त्रियां सामूहिक नाच-गान के माध्यम से अपनी रोज की उदासी पीड़ा को कुछ समय के लिए विराम देने का प्रयास करती हैं पर नाच-गाने के दौरान भी वह उसी पीड़ा में जीती हैं। उसकी नाच की धमक में हर तरफ उसकी पीड़ा से निकला राग व्याप्त था। मार्च 2004 में प्रमोदकुमार तिवारी और मार्च 2013 में ममता किरण ने भी 'माँ' कविता में माँ की तमाम भूमिकाओं को, उसके गृहस्थ जीवन के लिए किए त्याग को रेखांकित किया है।

अप्रैल 2001 में पवन करण ने अपनी कविता के माध्यम से एक अलग माँ से हमारा साक्षात्कार कराया है 'प्यार में डूबी माँ'। माँ से सामान्यतः समाज यही अपेक्षा करता है कि वह त्याग, करुणा, ममत्व की देवी बनी रहे, अपना सब कुछ परिवार, बच्चों पर न्योछावर कर दें। अपने अस्तित्व का विलय कर दें। इस कविता से माध्यम से एक नयी सोच देखने को मिलती है कि माँ होकर भी बिना किसी सामाजिक अपेक्षाओं का बोझ लादे, उसे अपने बारे में सोचने का पूरा अधिकार है और बेटी उसे सहर्ष स्वीकारती है यही इस कविता की सबसे बड़ी खूबी है। फरवरी 2009 में डॉ. रंजना जायसवाल की 'चाची' कविता भी स्त्री के परपुरुष प्रेम पर आधारित है। विनोद शर्मा ने मई, 2008 में 'औरत' कविता में स्त्री को देवित्व गुण को त्यागकर, औरत बनाने की चेष्टा की है। "क्या स्त्रियों की मुक्ति का रास्ता इस बात से आरंभ नहीं होता कि पहले वे एक मुकम्मल औरत बन जाएं!"¹

अप्रैल 1993 में कात्यायनी की एक अति महत्वपूर्ण कविता प्रकाशित हुई "औरत और घर" घर औरत को हिफाजत देने के लिए बनाए जाते हैं। यह सुरक्षा स्त्रियों के लिए बंधन है और यह सुरक्षा का अहसास नशीली शराब है जो उन्हें बचपन से ही पिला दी जाती है। घर स्त्रियों के लिए एक सख्त अनुशासनप्रिय अभिभावक है जिसे लड़कियों का घर से बाहर जाना कतई गवारा नहीं। कविता यह सोचने पर विवश करती है कि क्यों आज भी स्त्रियों का देर रात बाहर रहना असुरक्षित

¹ 'हंस', सं. राजेन्द्र यादव, मई 2008 पृष्ठ सं. 81.

है? इसके लिए उन्हें घर में बैठने की जरूरत है या उन असामाजिक तत्वों को समाज से उखाड़ फेंकने की जिनके कारण अव्यवस्था बढ़ रही है। अगस्त 1998 में भी वीरेन डंगवाल की कविता 'जहां की महिलाएं हों गयीं कहीं' और अगस्त 2009 में शकुन बन्जाड़े की 'जिसे मैं बेहद प्यार करता हूँ' में भी स्त्री को घर तक ही सीमित रखा गया है और यह भाव उत्पन्न किया गया है कि औरत चाहे कहीं भी जाए परंतु कहाँ तक जा पाएगी खैर आखिर लौट कर तो यहीं आना है। ज्यादा दूर और वर्जित स्थान पर ना जा सके इसके लिए स्त्रियों के घर काट दिये हैं। गले में काला डोरा बांध दिया है जिससे वह चाहकर भी गले से नहीं उतार पाती। इस कैद से जो औरतों में मुक्तिकामी चेतना का संचार होता है वही इन कविताओं का और 'हंस' का मूल उद्देश्य रहा है।

जनवरी 1989 में कात्यायनी की 'प्रार्थना', 'साथ भाइयों के बीच चम्पा', 'नहीं हो सकता तेरा भला!' 'शहर की चुनौती', 'गुड़ की डली' कविताएं स्त्री मुक्ति की चेतना को समाज के समक्ष रखकर समाज को विभिन्न मुद्दों पर सोचने के लिए बाध्य करती है। फरवरी 1989 में अर्चना वर्मा ने 'दिनचर्या' कविता में स्त्री की दिनचर्या को बड़ी की मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है। स्त्री की जिंदगी सुबह चाय बनाने से शुरू होती है, पूरा दिन सबकी जरूरतों को पूरे करते, गालियां, धिक्कार सहते गुजरता है फिर रात में अपनी थकी हारी देह को भी पति के स्वागत हेतु सजाना पत्नी का धर्म माना जाता है। स्त्री दैनिक धिक्कार को अधिकार और कर्तव्य के आवरण से ढके रहती हैं। अगस्त 1989 में दानिश की 'तरीका', 'गृहस्थन होती एक लड़की' और गोविंद माथुर की 'कमीज़ धोने के लिए' स्त्री मुक्ति केन्द्रित कविताएं प्रकाशित हुईं। 'तरीका' में स्त्री की अस्मत् के लिए, उसके नगर बंधू बनने, सती होने से रोकने के लिए प्रत्येक मनुष्य को आगे आने के लिए प्रेरित किया है। ताकि उनकी पहले साधी गयी चुप्पी के लिए पश्चाताप ना करना पड़े। 'गृहस्थन होती एक लड़की' कविता में लड़कियाँ कैसे बचपन से ही औरत बनने की ट्रेनिंग लेना शुरू कर देती हैं। सिलाई-बुनाई, रसोई के कार्यों में निपुण होना ही उनकी उपलब्धि का मानक बनाया जाता है जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं है गृहस्थी के कामों में एक पुरुष भी निपुण हो सकता है और स्त्री

बाहर के कामों में दक्ष। नवम्बर 1999 में सुरेन्द्र काले ने ‘एक स्त्री का सच’ कविता में स्त्री के उस गृहस्थ गुण, और उसके कुशल प्रबंधन की ओर इशारा किया गया है जिससे वह पूरे दिन इसी उधेड़बुन में लगी रहती है कि किस प्रकार सब व्यवस्थित रहे जिससे उसके प्रबंधन में कोई व्यवधान उत्पन्न ना हो और इन सबके बीच वो लगातार अपनी सत्ता, अपने व्यक्तित्व से अलग होती रहती है। अप्रैल 2007 में निर्मला गर्ग ने ‘हम तो सिर्फ शीशियाँ हैं खाली’, और जुलाई 2011 में सुधा अरोड़ा की ‘धूप तो कब की जा चुकी है’ कविता में गृहस्थ जीवन में दशकों तक खपती स्त्री की छवि चित्रित की है जो इतने समय तक गृहस्थी में अपना सर्वस्व अर्पित करने पर भी जब खुद को तोलती है तो स्वयं को नितांत खाली पाती हैं और वह अपने अकेलेपन और उदासी को पहचान नहीं पाती। जनवरी 2012 में प्रभा ने ‘गृहस्थी और काव्य संरचना’ कविता में स्त्री की घरेलू छवि देखने को मिलती है। गृहस्थन स्त्री से समाज अपेक्षा ही नहीं रखता कि वह घरेलू कामकाज के इतर कोई भी ऐसा काम करें जिससे वे जागरूक बनें। इस समस्या को देवेन्द्र आर्य की ‘अखबार पढ़ना कोई काम नहीं होता औरतों के लिए’ और जून 2012 में ऋतुपर्णा मुद्राराक्षस की ‘औरतें लिखती हैं कविताएं इन दिनों’ कविता में उठाया गया है जो स्त्री मुक्ति की राह में व्यवधान उत्पन्न करती है क्योंकि जब तक स्त्रियाँ अपने आसपास, अपने समाज के प्रति जागरूक नहीं होंगी, अपनी मुक्ति के लिए कैसे संघर्ष कर पाएँगी।

जनवरी 1992 में कल्पना सिंह की ‘तफतीश जारी है’ कविता मानवीय मन को करुणा से भर भीतर तक झकझोर देने की क्षमता रखती है। एक स्त्री जिसकी अस्मत् पर आघात हुआ और मारी गयी, उसकी चीखें और संघर्ष, उसके बदन पर पुरुष रूपी जानवरों के दांतों के निशान, सबकी तफतीश हो रही है और पहाड़ी, गाँव, जंगल सब में उसकी कराह भरी चीखें गुम हो गयी हैं। विडम्बना है कि सबने मौन साध लिया है। फरवरी 2002 में डिंपल बोरीचा ‘सहर’ की ‘कब तक रोएंगी’ कविता में भी कुछ-कुछ ऐसी ही परिस्थिति को शब्दों में बांधा गया है। आखिर कब तक रोएंगी कुछ समय बाद चुप होकर नित्य कामों में लग जाएंगी पर इससे यह परिवर्तन जरूर होगा कि

अब लड़की पंख फैला मुक्त आसमान में उड़ने की जुर्रत नहीं करेगी। बाहर समाज में फैला मौन उसके भीतर समाता जाएगा। यौन शोषण के प्रति समाज के मौन को बार-बार कवियों ने प्रश्नांकित किया है। सितम्बर 2003 में रजत रानी मीनू ने अपनी कविता ‘तब देखूँगी’ में न्यायिक व्यवस्था और प्रशासन को कठघरे में खड़ा कर दिया है। आम आदमी के साथ होनी वाली बलात्कार की घटनाओं पर प्रशासन पर जून तक नहीं रेंगती और यदि यही घटना उनके साथ होती है तो संसद हिल जाती है, महिला सांसद चींखती है, महिला आयोग की नींद उड़ जाती है। न्याय सबके साथ एक सा होना चाहिए क्योंकि नरभक्षियों के मुंह खून लग गया है। तो किसी की भी बेटी के साथ ऐसी घटनाएँ हो सकती हैं यहाँ कवयित्री कहती हैं कि तब मैं देखूँगी कौन मौन साधता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। नवम्बर 2007 में राधेश्याम तिवारी ने ‘संजीवा की कविता’ में भी बलात्कार की घटना को विषय बनाकर समाज को संवेदनशील मानव बनाने का प्रयास किया गया है। जुलाई 2012 में रंजना श्रीवास्तव ने ‘यह खबर एक झुनझुना है’ रेप जैसे गंभीर मुद्दे को समाज खेल समझता है। समाज में ना मानवता बची है ना ही न्याय प्रणाली। ना इस विषय की रोकथाम के लिए कुछ प्रभावशाली कदम उठा पायी है।

“ यह एक रेप केस का

लाइव टेलिकास्ट है

उत्तेजना है, भीड़ है,

आवाजें हैं पुलिस है,

सबूत है, गवाह है

आरोप-प्रत्यारोप है

माफी है और सज़ा की

दरख्वास्त भी

यह खबर एक झुनझुना है

जिसे सब

अपने -अपने तरीके से बाजा रहे हैं।”¹

दिनेश कुशवाह की ‘लड़की और सोना’, ‘लड़की और उदासी’, ‘लड़की और रोटी’, लड़की और सपने’ चार कविताएं अक्तूबर 1991 में प्रकाशित हुईं। इन कविताओं को पढ़कर लड़की के स्वभाव उसकी इच्छाओं, उसके सरल सपने, स्त्रियों के लिए रोटी बनाना कविता रचने से जरूरी समझा जाता है। इन तमाम छोटे छोटे मुद्दों को बड़ी गंभीरता से इन कविताओं में उठाया गया है।

सदानंद शाही की जून 1993 में ‘स्त्री : चार कविताएं’ प्रकाश में आईं। इन चारों कविताओं को कवि ने बेहद सहज, सरल भाषा में लिखा है। स्त्री की समाज में अनेक भूमिकाएं हैं, अनेक सपने हैं, खुद को समाज के सम्मुख बेहतर स्थिति में प्रस्तुत करने के लिए निरंतर संघर्षरत रहने का हौसला है। इन सब की झलक हमें इन कविताओं में मिलती है।

‘उस स्त्री के दिन’ कविता पवन करण की कविता है जो फरवरी 1994 में ‘हंस’ में प्रकाशित हुई। इस कविता में कवि ने स्त्री की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्त्री उड़ना चाहती है और पंख पुरुष की कैद में है, उसकी असंतुष्ट कराह भी मेरे होठों पर है मेरी इजाजत के बिना बोल भी नहीं सकती।, उसकी इच्छाएँ, कामनाओं पर भी मेरा अधिकार है। वे भी मेरी जेबों में रखी है जिन्हें मैं अपनी सुविधानुसार खर्च करूंगा। उसकी देह पर भी हमेशा मेरा ही स्वामित्व, मेरा वर्चस्व है। वो स्त्री जो कभी मेरी संगिनी बनकर आई थी अब वह मेरे अंधकार में गुम हो गयी है और वो अपनी तलाश में लगी है। फरवरी 2001 में रामलखन यादव की ‘एक स्त्री की दुनिया’, प्रेमशंकर शुक्ल की ‘स्त्री की हंसी’, रमन कुमार सिंह की ‘कोहबर लिखती औरतें’ और सविता सिंह की ‘दूसरी स्त्री’ कविताएं प्रकाशित हुईं। स्त्री की एक दुनिया होती है जहां वह अपनी इच्छाएँ अपने

¹ हंस सं. राजेन्द्र यादव, जुलाई 2012 पृष्ठ सं. 42

भीतर ही रखती हैं, स्त्री की हंसी न जाने कितनी पीड़ाओं और इच्छाओं का शमन करके फूटती है। ‘दूसरी स्त्री’ में एक स्त्री के मानसिक द्वंद को देखा जा सकता है कि कैसे एक स्त्री अपने मूल स्वरूप, मूल व्यक्तित्व को भुला बैठती है और बार-बार वह पहली स्त्री अपनी मौजूदगी का आभास कराने प्रकट भी होती है। खुद से अपने ही अंश का साक्षात्कार देखकर वह दूसरी स्त्री छिपने भागने की कोशिश करती है परंतु पहली स्त्री उसे घेर अपने जीने का अधिकार मांगती है। अपने अस्तित्व और अस्मिता की खोज करती स्त्री की झलक हमें जुलाई 2011 की सुधा अरोड़ा रचित कविता ‘उसका अपना आप’ में देखने को मिलती है।

सितंबर 2001 में सविता सिंह की चार कविताएं ‘आओ देखो’, दर्पण की हंसी’, ‘चंपई गुलाबी शाम सी’, ‘दृश्य में थका बैंगनी एक फूल’ स्त्री जीवन के विभिन्न रंगों को जिसमें उसका सौंदर्य, उसकी हंसी के पीछे हमेशा छलछलाई आँखें, गिलट की बेड़ियों में खुद को समेटे, तरह-तरह के आभूषणों से खुद को लादे और इन बेड़ियों में भी गौरवान्वित महसूस करती औरत की छवि इन कविताओं में देखने को मिलती है। मदन कश्यप ने नवंबर 2005 में ‘छत पर स्त्री’ कविता के माध्यम से स्त्री सौंदर्य को कलमबद्ध किया है। रश्मि बड़थवाल की क्षणिकाएँ अक्टूबर 2001 में प्रकाशित हुई। रश्मि जी ने तीन-चार पंक्तियों में स्त्री मन की उधेड़बुन को बड़े ही मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है

“अस्तित्व तक बेच दिया अपना,

बहुत महंगा पड़ा,

घर बसाने का सपना।”¹

फरवरी 2012 में मदन कश्यप ने ‘ऐसा क्यों होता है’ कविता के माध्यम से यह भाव स्पष्ट किया है कि पुरुष मानता है कि गृहस्थी का दायित्व केवल स्त्रियों पर ही होता है। चाहे वह घर पर

¹ ‘हंस’ सं. राजेन्द्र यादव, अक्टूबर 2001, पृ. 50.

मौजूद हो या नहीं। पुरुष खुद को केवल अधिकारों का हकदार मानता है, जबकि एक सुखद गृहस्थ जीवन निर्वाह के लिए पति पत्नी दोनों का यह साझा दायित्व होना चाहिए कि प्रत्येक विपदाओं, समस्याओं से मिलकर पार पाया जा सके।

पहाड़ी स्त्री के जीवन संघर्ष की झलक हमें मई 1999 की फ़रेन की कविता ‘पहाड़ी स्त्री’ और मई 2003 में प्रमोद कुमार तिवारी की कविता ‘पहाड़ की एक लड़की के बारे में सोचते हुए’ में देखने को मिलती है। अप्रैल 2003 में ‘लेखिकाओं के घर’ में अनामिका जी ने स्त्री के गृहस्थ जीवन और लेखिका होने के द्वंद को साफ किया है। औरत का औरतपन उसी क्षण खत्म हो जाता है जब वह तलवार और तलवार रूपी कलम उठाती है।

मई 2003 में मीना किश्वर कमाल की एक अत्यंत महत्वपूर्ण कविता का अनूदित रूप प्रकाशित हुआ जिसे मैनेजर पांडेय जी ने ‘मैं लौटूंगी नहीं’ नाम से अंग्रेजी से अनुवादित किया। यह कविता एक जगी हुई स्त्री का घोषणापत्र है कि अब वह उसका स्वरूप समस्त त्रासदी को झेलकर फौलादी बन गया है। उसने बच्चों, भाइयों की मौत ने, राष्ट्र प्रेम ने उसे ताकत दी है। मैंने गहनों का त्याग कर दिया है और मेरा नया जन्म प्रतिरोध और साहस से हुआ है। गुलामी की जंजीरों को तोड़ने और यातना भरे दिनों का अंत करने के लिए मैंने नया स्वरूप अपनाया है, अब मैं लौटूंगी नहीं।

मई 2001 में विनय भण्डारी ने ‘पुनर्जागरण’ कविता में भारतीयों के लिए असली पुनर्जागरण कहाँ तक सीमित है, उनकी सोच कितनी संकीर्ण हो चुकी है इसका परिचय देखने को मिलता है

‘जिस दिन,

माधुरी दीक्षित,

दिखा देगी दर्शकों को,

अपनी गोरी, चिकनी नितंब,

समझ लेना कि,
वही है रेनेसां का शुभारंभ,
भारत-वर्ष में'¹

स्त्रियों को केवल उसकी देह तक ही सीमित कर देने की विकृत सोच को यहाँ कवि यह कहकर व्यंग्यात्मक चुटकी लेते हैं कि सिर्फ माधुरी दीक्षित ही भारत वर्ष में रेनेसां ला सकती है।

जुलाई 2000 में संजय ग्रोवर ने कविता 'हमारी किताबों में हमारी औरतें' में व्यंग्यात्मक रूप से स्पष्ट किया कि पुरुषवर्चस्ववादी सोच मानती है कि स्त्री अधिकारों को अपनी किताबों में से तय करके भीख और कृपादृष्टि से दिये जाने पर पुरुष गौरवान्वित महसूस करें और औरतों को इसके लिए पुरुष का अहसान मानना चाहिए। कविता में ये प्रश्न हर शब्दों में झलकता है कि पुरुष आखिर होते कौन हैं जो स्त्रियों को अपने समान अधिकार देने का दावा करें। ये अधिकार उन्हें किसने दिया कि स्त्रियों के अधिकार और कर्तव्यों को तय करें? अगस्त 2008 में सुनीता ठाकुर ने 'सोचो.....' कविता के हवाले से समाज को यह सोचने पर बाध्य किया है कि स्त्रियाँ यदि अपनी जबान से इतिहास बना सकती हैं तो सोचो यदि वे अपने अधिकारों को पाने के लिए कटिबद्ध हो जाएंगी तो पितृसत्ता का क्या हथ्र होगा।

2005 अगस्त में नारी मुक्ति की महत्वपूर्ण कविता दस्तावेज़ : 'एक प्राचीन कविता' (आइसिस की स्तुति, ई पू तीसरी या चौथी शताब्दी : इसको नाग हम्माही से खोज निकाला गया था) जिसका अनुवाद नरेंद्र तोमर ने किया है, प्रकाशित होती है। इस कविता में स्त्री ने अपने तमाम स्वरूप को व्याख्यायित किया है। अपने पूजनीय, निंदनीय, अश्लील और साथ ही भव्य स्वरूप को स्वीकारती है। नारी अपने वारांगना, साध्वी, पत्नी, माँ, पुत्री, बांझ, ब्याहता, अनेक स्वरूप के

¹ 'हंस, सं. राजेन्द्र यादव, मई 2001, पृ. 51.

माध्यम से नारी जीवन की त्रासदी को सामने रखती हैं। खुद को अपनी माँ का विस्तार घोषित करती हैं।

अक्टूबर 2006 में हरे प्रकाश उपाध्याय ने ‘झोपड़पट्टियों की बच्चियों’ कविता में गरीब लाचार बच्चियों के साथ होने वाले यौन शोषण और उनकी लाचारी को दिखाया है। छोटी-छोटी बच्चियों के शरीर को ये मर्द कैसे अपना शिकार बनाते हैं जैसा चाहे इस्तेमाल करते हैं। जिसको पढ़कर प्रत्येक पाठक क्षुब्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

‘मिथक में स्त्री’ जुलाई 2007 में रामप्रकाश कुशवाहा की एक अत्यंत संवेदनशील कविता है जिसमें मिथकों में स्त्री की दमित छवि को माँ सीता को केंद्र करके दिखाया गया है। मिथकों के आरंभ से ही स्त्री एक विवश और निरीह हंसी के साथ चुपचाप रोती है। वह ऐसी मुक्त दुनिया की कल्पना करती है जहां वह अपना सुखी जीवन व्यतीत कर सके। मिथकों से ही यह धारणा पनपी है कि स्त्री की डोली उठने पर उसकी अर्थी ससुराल से ही उठेगी। स्त्री अपने पिता के घर लौट नहीं पाती चाहे उसे कहीं भी अपने प्राण त्यागने पड़ें। मिथक में पुरुष स्त्री का शिकार भी करता है। स्त्री का सौंदर्य भंग करता है। मिथक में कहीं भी काली स्त्री के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। मिथक में त्यागी गयी स्त्री अपनी सारी पूंजी पुरुष को सौंपकर धरती में समा जाती है। मिथकों को बदलने की जरूरत है क्योंकि स्त्री को योग्य और आत्मनिर्भर बनना है, पढ़ना है, क्योंकि यदि वे फिर घर से निष्कासित की जाएँ तो वह एक बेहतर जीवन के लिए नौकरी पा सकें और पुरुषों के समान स्वयं अपनी भी एक अयोध्या बना सके। जुलाई 2004 में रंजना जायसवाल ने ‘मैं हर बार बेचारी अहल्या’ कविता में कथाओं द्वारा सोचने पर विवश किया गया है कि स्त्री की बेचारी स्थिति को पुरुष (चाहे इन्द्र हो, गौतम, या प्रभु राम) उद्धारक के रूप में क्यों और कैसे नियंत्रित करते हैं। जुलाई 2009 में कुमुद ‘वस्त्र हरण’ कविता में स्पष्ट करती हैं कि पुरुष स्त्री की देह को अपनी संपत्ति मानता आया है। जब चाहे उसे भरे बाज़ार में नीलाम करता आया है। स्त्री को अश्वमेघ घोड़ा समझता है जो उसकी हर कामना पूर्ण करती रहे। युद्धों का कारण स्त्रियाँ बनती है, जिसे संपत्ति

स्वरूप हस्तांतरित भी किया जाता है। स्त्रियों की चेतना में यह विचार इस कविता के माध्यम से पनपता है कि आखिर क्यों उनकी अपनी देह पर पुरुष आधिपत्य जमाए बैठा है? स्त्री का अपनी देह पर अधिकार ही स्त्री मुक्ति की पहली शर्त समझी जानी चाहिए।

नवम्बर 2006 में अपनी दो कविताओं 'चल बेवड़े मेरे सहारे', 'पी लेती हूँ शराब' के माध्यम से महिपाल भूरिया ने यह चित्रित किया है कि गृहस्थ जीवन में शराब से क्या-क्या विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं और एक औरत का जीवन कैसे नारकीय बनता जाता है। कविता को पढ़कर संवेदनशील हृदय के भीतर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्यों औरत को मार झेलते हुए भी पत्नी धर्म का निर्वाह बिना किसी विरोध के करना पड़ता है? दिसंबर 2010 में रंजना जायसवाल ने अपनी कविता 'शराबखाने में स्त्री' में पुरुष मानसिकता के दोहरे मानदंडों को स्थापित किया है। जहां पुरुष के लिए शराब पीना रौब रुतबे, शौक की बात समझी जाती है वहीं यदि स्त्री शराब पीने लगे तो आवारा बन जाती है। हर किसी की निगाह उसे हिकारत की नज़र से देखने लगती है, जैसे शराब पीना केवल पुरुषों का ही क्षेत्र हो।

दिसम्बर 2006, में राजी सेठ ने 'माँ तुमने कहा था', 'मैं स्त्री हूँ, 'मेरे पीछे', 'उड़ान उड़ गयी तो', रास्ता भी, रोशनी भी', कविताओं में स्त्री के माँ, बेटे के रूप को पितृसत्ता कितना नियंत्रित रखती है। पिता के आगे स्त्री अपनी विद्रोही रूप को दबाए रखती है। पिता उसे शुचिता का पाठ पढ़ाता है जिसके कारण वह पूर्णता में अपने आपको बुला देती है। स्त्री को संपूर्णता में अपने व्यक्तित्व को प्राप्त करना चाहिए इसके लिए यह कविता स्त्रियों को प्रेरित करती है।

भ्रूण हत्या जैसे गंभीर मुद्दे को भी कविगण अपनी कविताओं के माध्यम से उठाते रहे हैं। अमिता मिश्र ने दिसंबर 2008 में 'कुछ अनावश्यक लड़कियाँ' में इस विषय की गंभीरता को व्यक्त किया है और समाज को उनके इस निर्लज्जतापूर्ण कार्य के लिए शर्मसार किया है। जुलाई 2013 में वंदना शर्मा की 'धत्त' कविता में उन औरतों को बेहया बोला गया है जो खुली आजादी की अपेक्षा रखती हैं। अगर ये बेहया औरतें समाज में न होती तो आज की स्त्रियों के स्वतन्त्रता और समानता

का विचार केवल कोरी कल्पना ही होता। समाज की स्त्रियाँ अपने-अपने प्लेटो, अरस्तू और देरिदा को अपने बाहुपाश में नहीं बांधतीं? फिर आखिर क्यों जाते हैं वे उस बेहया औरत की पनाह में? जब वे उन्हें इतना ही निंदनीय समझते आए हैं।

मई 2013 में दिनेश कुशवाह की ‘हर औरत का एक मर्द है’ कविता समाज में स्त्री की छलना, माया, नागिन, ठगिनि, दुधारी, गँवार, पशु, कामिनी, कुटिल, कुलटा, कुनारी, दायाँ, चुड़ैल, अबला दीन बिचारी, तिरिया चरित्तर, सावित्री, सतभतरी रसहल्या, अहिल्या, सती, पतिव्रता नारी के रूपों की चर्चा की है। जो नारी चुपचाप सब सहती है उसे पतिव्रता और अन्याय का विरोध करने वाली स्त्री को कुलटा साबित कर दिया जाता है। यह कविता स्त्री मुक्ति की राह को प्रशस्त करती है।

नवंबर 2013 में तसलीमा नसरीन की ‘मैं रंडी हूँ’ जिसका अनुवाद भरत तिवारी ने किया और किरण येले की कविताएं स्त्री सशक्तिकरण की मिसाल है। स्त्रियाँ अपनी पहचान को लेकर, अपने सम्मान को लेकर कोई समझौता करने को तैयार नहीं हैं। अपने स्वरूप को स्वीकृत कर निर्भय होकर समाज के सम्मुख रखने का साहस इन कविता के माध्यम से मिलता है। जिससे पितृसत्ता और पुरुष वर्चस्व को आश्चर्य होता है साथ ही अनेक स्त्रियों को अपने मान-सम्मान, अधिकारों के प्रति जागरूक होने का सबल मिलता है।

दिसंबर 2012 में दामिनी की ‘हर महीने’ कविता में स्त्री की माहवारी पीड़ा और पुरुष द्वारा उस पीड़ा को न समझना साथ ही स्त्री की उस स्थिति का उपहास बनाते हुए ये कहना कि ‘और इनको बराबरी का हक चाहिए’, जो अपने ही शरीर को हर महीने झेल नहीं पाती हैं। स्त्री इस मानसिक स्थिति को व्यक्त करती हुई कहती है

“और इसी माहवारी के दर्द से

वो अभ्यास पाती हूँ

जब अपनी जान पर खेल
तुम्हें दुनिया में लाती हूँ.
इसीलिए, ओ पुरुष!
ना हंसो मुझ पर
जब मैं इस दर्द से छटपटाती हूँ,
क्योंकि,
इसी की बदौलत मैं तुम्हें
भ्रूण से इंसान बनाती हूँ।”¹

जनवरी 2009 में अनिल गंगल की ‘सानिया मिर्जा के लिए’ कविता में स्त्रियों को चेताया गया है कि घाघ व्यापारियों को तुम्हारी मेहनत, अपने देश के लिए जीते गए सम्मान और गौरव से कोई लेना देना नहीं है। वे तुम्हें केवल उत्पाद की तरह देखेंगे। वे चाहते हैं कि तुम सुखियों में बनी रहो ताकि वे समय आने पर तुम्हारा इस्तेमाल कर सकें। अप्रैल 2010 में सीमा स्वधा की कविता ‘लड़की और खबर’ में बताया गया है कि समाज में स्त्रियाँ हमेशा महत्वपूर्ण विषयों की चर्चाओं के हाशिये पर रही हैं। बस उन्हें सनसनीखेज खबर बनाया जाता है।

सितम्बर 2010 में सरिता स्निग्ध ज्योत्स्ना ने ‘कल्पना चावला के प्रति’ कविता में देश की सभी स्त्रियों को कल्पना चावला की तरह अपने अपने सपनों की उड़ान भरने का साहस दिया है। कल्पना चावला की तरह स्त्रियों को रूढ़ियों की बेड़ियाँ खोलकर, चूल्हा-चौका त्याग कर अपने सपनों के अन्तरिक्ष में कदम रखने की प्रेरणा इस कविता के माध्यम से मिलती है।

¹ ‘हंस’, राजेन्द्र यादव, दिसम्बर 2012, पृ. 51.

‘मेरा स्लोगन’ 2010 में रंजना जायसवाल की कविता है जिसमें पुरुषों और लेखकों द्वारा स्त्री को वेश्या, छत्तीसी कहने पर स्त्री को फर्क नहीं पड़ता क्योंकि ये हमेशा से ही ऐसा कहते आए हैं परंतु जब स्त्री या लेखिका ही स्त्री को इन शब्दों से संबोधित करें तब जरूरी है अपना विरोध दर्ज करना क्योंकि ‘स्त्री नहीं होती स्त्री की शत्रु’ इस स्लोगन का प्रचार जरूरी है ताकि पहले से निर्धारित भ्रांतियों को जड़ से समाप्त किया जा सके।

मई 2010 में अनामिका की ‘चुड़ैल’ और ‘पगड़ी’, सविता भारद्वाज की ‘नजमा बानो’, पूनम तुसामड़ की ‘मैं चाहती हूँ’ कविताएं समाज में व्याप्त रुग्ण मानसिकता पर तंज कसते हुए स्त्री को चुड़ैल मानने पर कटाक्ष करती हैं। स्त्री को हिदायत दी जाती है कि हमेशा संभल कर रहे क्योंकि उसकी इज्जत ही पिता की पगड़ी की शान है। स्त्री उन सभी मर्यादाओं को तोड़ने के लिए तैयार हैं जो उसे स्त्री होने के कारण सजा का अधिकारी बनाती है। वह उन सभी शक्तियों से दो हाथ करने को तत्पर है जो उसे स्त्री न समझ घर की कोई सजावटी वस्तु समझता है। स्त्री चाहती है उन्मुक्त गगन में अपनी आज़ादी से उड़ना और मुक्ति के गीत गाना। स्त्री की इच्छाएँ और मुक्ति की चाह को इन कविताओं में देखा जा सकता है।

सितम्बर 2011 में रज्म नटराजन पिल्लै ने ‘तुम्हारा ‘अपना’ नाम क्या है गांधारी’? में एक महत्वपूर्ण प्रश्न की तरफ इंगित किया गया है कि स्त्री का अपना नाम, व्यक्तित्व होना उसके लिए कितना आवश्यक है और समाज में उसे कितना उपेक्षित किया जाता है। प्रत्येक वस्तु, पहाड़, नदियाँ, यहाँ तक कि जानवरों के भी अपने नाम होते हैं, तुम्हारा क्या नाम है ‘गांधारी’? इन प्रश्नों से कवि स्त्रियों को अपने खुद के नाम, अपनी पहचान समाज में स्थापित करने के लिए सजग करता है।

निष्कर्षतः हमने यहाँ ‘हंस’ में स्त्री केन्द्रित कविताओं के माध्यम से ‘स्त्री-मुक्ति’ में बाधक रूढ़ियों, समस्याओं को जाना जिसे समय-समय पर कवियों ने अपनी सशक्त कविताओं के माध्यम से

अभिव्यक्त किया। 'हंस' की इन कविताओं ने स्त्री मुक्ति संघर्ष के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

5.3.3 'हंस' की स्त्री मुक्ति केन्द्रित लघुकथाएँ

'हंस' ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। 'हंस' में साहित्य की विभिन्न विधाओं को पोषित किया गया हालांकि 'हंस' मुख्यतः कहानी पत्रिका के रूप में प्रसिद्ध है पर 'हंस' ने किसी भी विधा को उपेक्षित नहीं किया। 'हंस' में 'लघुकथा' कॉलम पाठकों के प्रिय कॉलमों में से एक है। तकरीबन 'हंस' के प्रत्येक अंक में कुछ लघुकथाएँ प्रकाशित होती रही हैं जो समाज की अव्यवस्था पर प्रहार करती हैं। इन लघुकथाओं के लिए बिहारी जी का दोहा सटीक जान पड़ता है, 'देखन में छोटे लगे घाव करे गंभीर'। इन लघुकथाओं के सभी विषय समाज केन्द्रित होते हैं। 'हंस' जो स्त्री मुक्ति का 'हंस' है, जिसकी उड़ान को विस्तार देने में स्त्री केन्द्रित लघुकथाओं का बड़ा योगदान है। स्त्री मुक्ति केन्द्रित सभी विषयों पर लघुकथाओं को 'हंस' ने प्रकाशित किया और स्त्री मुक्ति के विभिन्न आयामों को अपनी इस मुहीम से जोड़ा। यहाँ कुछ अति महत्वपूर्ण लघुकथाओं का जिक्र करते हुए हम 'हंस' के स्त्री मुक्ति दृष्टिकोण को स्पष्ट समझ सकेंगे।

अक्टूबर 2011 में फज़ल इमाम मल्लिक की लघुकथा 'पाबंदी', जुलाई 2012 में पूर्णिमा मित्रा की 'गंदी सोच' और अप्रैल 2013 में सुकेश साहनी की 'आधी दुनिया' लघुकथा में स्त्री की दोयम दर्जे की स्थिति को बड़े ही सहज ढंग से छोटी सी कथा में पिरोया गया है। पितृसत्ता किस प्रकार स्त्री को अपने इशारे पर नचाती है, उसके पहनने-ओढ़ने, चलने-फिरने, खाने-पीने, साज-शृंगार, दहेज, हमेशा पुरुषों को आकर्षित करने वाली छवि, यह सब पुरुष के नियंत्रण में होता है और सभी नियम पितृसत्ता द्वारा पूर्वनिर्धारित हैं। इन लघुकथाओं के द्वारा इन तथ्यों को समझा जा सकता है। मई 2013 में मुकेश कुमार की 'नईका साड़ी' में प्रत्येक वर्ग की स्त्री का शोषण होता है, कहीं शारीरिक तो कहीं मानसिक तो कहीं जातीया। 'नाइका साड़ी' में नौकरनी के साथ होते शारीरिक शोषण और उससे पत्नी की मानसिक यंत्रणा को यहाँ दिखाया गया है। पत्नी की ऐसी ही यंत्रणा को जुलाई 2012 की अमरीक सिंह दीप रचित 'अर्थ' लघुकथा में भी दिखाया गया है।

प्रत्येक वर्ग, जाति में स्त्री की स्थिति अन्या के रूप में ही है। हर जाति में स्त्रियों के दुख एक जैसे हैं, इस स्थिति को कमल चोपड़ा फरवरी 2012 की 'दुख बराबर' लघुकथा में पंडताइन और जमादारनी की पीड़ादायक कहानी से देखा जा सकता है। कृष्ण कुमार भगत अपनी 'लाड़ो जाग उठी' अगस्त 2013 की लघुकथा से राजनैतिक क्षेत्र में स्त्री की नगण्य स्थिति को प्रश्नांकित करते हैं और स्त्रियों को इस क्षेत्र में अपने अधिकारों और पद के दायित्वों का स्वयं निर्वहन करने को प्रेरित करते हैं नाकि अपनी पतियों से दवाब में या पितृसत्ता के षडयंत्रों के जाल में फँसकर। 'मर्दन' अक्तूबर 2013 में राहुल सिंह की एक महत्वपूर्ण लघुकथा है जिसमें समाज की विकृत सोच को केंद्र में रखा गया है कि किस प्रकार समाज में स्त्री खुद को सुरक्षित महसूस नहीं करती और उसके साथ हुए अपराध के लिए भी उसे ही अपराधबोध करवाया जाता है। इस लघुकथा में स्त्री की अस्मिता का पुरुष अपनी कुछ मिनटों की असंतुलित मानसिक विकृति के कारण मर्दन करता है जिस अस्मिता को बचाने के लिए स्त्री आत्महत्या को बेहतर विकल्प मानकर अपने प्राण त्याग देने के लिए तैयार है। पुरुष स्त्री को देह मात्र ही समझता है और उसके शरीर का मर्दन करने को हमेशा सामूहिक रूप से भी तैयार रहता है। जून 1996 में पूर्णेन्दु शेखर की 'भोजन' लघुकथा में भी इसी स्थिति को दिखाया गया है कि पुरुष के लिए स्त्री एक भोजन की तरह है और जिसका समय समय पर सेवन करना वह अपना कर्तव्य मानता है।

नवम्बर 1997 की लघुकथा 'सबसे बड़ा अपराधी' में ज्ञानेन्द्र मिश्र बुद्धिजीवियों की चेतना को झकझोरते हैं कि वे बलात्कार जैसी नृशंस घटनाओं को सुनकर, पढ़कर खामोश क्यों है? समाज का सबसे बड़ा अपराधी वह बुद्धिजीवी ही है जो इन खबरों से सिर्फ चटखारे लेते हैं और इन जघन्य वारदातों पर अपना विरोध दर्ज नहीं करते। नवंबर 2012 में पप्पू मिश्र 'पुष्प' की 'झूठ' और नवंबर 1996 में संजय अर्थव की 'कवच' लघुकथा छपी जिसमें स्त्री अपने साथ होने वाले बलात्कार की आशंका होने पर बचाव के लिए झूठ बोलती है कि वह एचआईवी पॉजिटिव है।

स्त्री अपनी स्थिति को नियति मान किस प्रकार उसकी अभ्यस्थ हो जाती है इस स्थिति को ऋचा शर्मा की 'मैडम! चलता रहता है ये सब' में दिखाया गया है। विवाह के बाद स्त्री को अपने जीवन में कितने बदलाव लाने पड़ते हैं, कितना सहनशील होना पड़ता है। अपनी इच्छाओं का कितना दमन करना पड़ता है। इस लघुकथा ने इन समस्याओं को बड़ी बारीकी से हम सबके सामने लाया है। इसी विषय पर केन्द्रित 'सवाल' एक अन्य लघुकथा है जो शुक्ला चौधरी ने लिखी और मार्च 2012 में प्रकाशित हुई की। यह 'सवाल' नाम की लघुकथा वाकई हम सब के सामने अनेक सवाल खड़े करती है कि क्या स्त्री की पहचान उसके पिता, पति, भाई के माध्यम से ही होती रहेगी? विवाह उपरांत स्त्री का धर्म क्या केवल अपने पति को खुश रखना है चाहे उसके लिए उसकी अस्मिता ही दाव पर क्यों ना लग जाए? क्या स्त्री का अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं रहता? इन सवालों पर विचार करने पर यह लघुकथा विवश करती है। गृहस्थ जीवन में स्त्री की स्थिति को जुलाई 2012 में अमरीक सिंह दीप की लघुकथा में 'स्त्री के आठ हाथ' में भी देखा जा सकता है।

एक धारणा जो स्त्रियों को लेकर समाज में हम सभी सुनते आए हैं कि 'औरत ही औरत की सबसे बड़ी दुश्मन होती है' हालांकि आज के समय में इस धारणा को स्त्रियां मानने से इंकार करती है और यह भी मानने लगी हैं कि यह पुरुषों द्वारा स्त्री एकीकरण को रोकने के लिए बनाई गयी धारणा है क्योंकि स्त्री एकता पुरुष वर्चस्व के लिए खतरा है। फिर भी इन धारणाओं से प्रभावित उदाहरणों को भी समाज में देखा जा सकता है। कमल चोपड़ा की 'निशानी' लघुकथा मई 2012 में प्रकाशित हुई। यह लघुकथा इसी धारणा को पुष्ट करती है जिसमें एक औरत यह जानते हुए कि मेरा बेटा कुछ ही महीनों तक जीवित रहेगा केवल उसकी निशानी की प्राप्ति के लिए उसकी शादी बिना सच्चाई बताए करवा देती है। इस बात से उसको कोई सरोकार नहीं कि ऐसा करने से एक औरत की जिंदगी खराब होगी। इसी कथ्य को लेकर अक्तूबर 2007 की 'रीत' लघुकथा देखने को मिलती है जो आलोक कुमार सातपुते रचित है, जिसमें सास द्वारा बहू को बच्चे पैदा करने के लिए

कहती है। उसे कुल को बढ़ाने वाली बहू चाहिए इसलिए वो बहू को चेतावनी देती है कि यदि ऐसा नहीं होता तो वह बेटे की दूसरा ब्याह करवा देगी। चाहे दोष उसके पुत्र में ही क्यों ना हो।

जून 2012 में अशोक गुजराती की 'अंदाज़ नया' राकेश रंजन की 'सुबह का भूला' , विश्वम्भर प्रसाद चंद्रा की 'पुरुष तंत्र' लघुकथा छपी। 'अंदाज़ नया' में मज़ाकिया लहजे में एक गंभीर प्रश्न को उठाया है कि कैसे पुरुषों के लिए दूसरी शादी की बात करना सहज है और वह खुद को स्त्रियों से अधिक सक्षम मानता है। स्त्रियाँ भी अब अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं और स्त्रियाँ भी अब परिस्थिति के अनुकूल खुद को अधिक समर्थ बना रही हैं। राकेश रंजन ने 'सुबह का भूला' लघुकथा लिखी जिसमें इस प्रगतिशील धारणा को सामने लाया गया कि स्त्री सशक्तिकरण के लिए स्त्रियों का शैक्षणिक रूप से स्वावलंबी होना जरूरी होता है तथा इसके लिए परिवार से उसको समर्थन और प्रोत्साहन दोनों की जरूरत होती है। अगस्त 2011 में कुमुद की दायबद्ध लघुकथा छपी इसमें भी स्त्री सशक्तिकरण के लिए शैक्षणिक सबलता को ही गुरु मंत्र माना गया है। स्त्री के लिए सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा बेहद महत्वपूर्ण पहलू है परंतु कुछ गरीब माता-पिता अपने बच्चों से बालश्रम करवाने को विवश होते हैं और उनके लिए शिक्षा से महत्वपूर्ण धन की पूंजी है। इसी स्थिति को मार्च 2003 की पवित्रा अग्रवाल रचित 'फाइदा' लघुकथा व्यक्त करती है। 'पुरुषतंत्र' में यह बताया गया है कि स्त्री का गूंगापन पुरुष को पसंद है ताकि स्त्रियाँ केवल उसकी सुने और विरोध में कुछ बोल न सके। दिसंबर 2012 रजनी मोरवाल ने स्त्री के शरीर में होने वाले जैविक परिवर्तनों से उसके व्यवहार में जो-जो परिवर्तन आते हैं इसको 'मोनोपोज' लघुकथा के माध्यम से बताया है।

समाज में हर वर्ग की नारी को इज्जत के साथ जीने का पूर्ण अधिकार है चाहे वह वेश्या ही क्यों न हो। सम्मान का हर कोई अधिकारी होता है। वेश्या जीवन पर केन्द्रित घनश्याम अग्रवाल ने 'गाली' लघुकथा लिखी है जो दिसम्बर 2011 में 'हंस' में प्रकाशित हुई। जून 2011 में भी वेश्यावृत्ति पर ही केन्द्रित 'ग्राहक' नाम की लघुकथा है जिसके लेखक मुरलीधर वैष्णव है। कैसे

बच्चे की छोटी से छोटी इच्छा के लिए भी ग्राहक के आने का इंतजार करना पड़ता है। यहाँ माँ की विवशता और बच्चे की नादानी दोनों देखी जा सकती है। बच्चा माँ की झोपड़ी में ड्राइवर को घुसता देख खुशी से चिल्लाता है 'ग्राक आयो ग्राक आयो' क्योंकि अब माँ उसे कुल्फी के लिए दो रुपए दे सकेगी। दिसम्बर 2004 में कमल चोपड़ा की 'चंगुल' लघुकथा प्रकाश में आती है यह लघुकथा वेश्यावृत्ति में संलग्न औरतों की सामाजिक अस्वीकृति पर ध्यान आकृष्ट करती है कि परिजनों द्वारा भी उनका बहिष्कार होता है। इन कार्यों में संलग्न औरतें चाहकर भी इस मकड़जाल के चंगुल से निकाल नहीं पाती हैं क्योंकि उन्हें समाज द्वारा स्वीकृत नहीं किया जाता।

नवंबर 2011 में 'गरीब' लघुकथा छपी जिसमें निम्न वर्ग और उच्च वर्ग में सोच के विभेद को देखा जा सकता है। कैसे उच्च वर्ग वाले खुद को बड़ा सभ्य समझते हैं और ना जाने कितनी ही नन्हें जानों को वे निर्दयता से जन्म से पहले ही मार डालते हैं। निम्न वर्ग भी लड़की को जन्म देना नहीं चाहता पर धन के अभाव के कारण और पुत्र मोह के बरकस ही लड़कियों की लाइन लगा देते हैं। इस लघुकथा के माध्यम से भ्रूण हत्या जैसी गंभीर समस्या को उठाया गया है। भ्रूण हत्या पर ही अप्रैल 2010 में उदय ठाकुर की 'हम आदमी नहीं हैं', फरवरी 2009 में पुरुषोत्तम कुमार की 'आदमखोर जात', जुलाई 2009 में सुनील कुमार सिन्हा की 'मृत आत्माएँ' और दिसम्बर 2008 की 'भेद' लघुकथा भी प्रकाशित की गयी हैं। 'भेद' में जानवर खुद को मनुष्यों से बेहतर मानते हैं क्योंकि वो अपने बच्चों में भेद नहीं करते और कन्या भ्रूण हत्या नहीं करते। बच्ची यदि भ्रूण हत्या से बच जाए तो उसका और उसकी जननी को कई तरह के अपमानों को झेलना पड़ता है, इसी स्थिति को चरितार्थ करती है मई 2006 की प्रवीण पंकज द्वारा लिखी 'उपहार' लघुकथा। जिसमें नवजात शिशु का पिता अपने बच्चे के लिए उपहार स्वरूप कुछ लाने का विचार करता है क्योंकि उसे भ्रम होता है कि कुल के दीपक ने जन्म लिया है परंतु जब उसके भ्रम के बादल छटते हैं कि कन्या ने जन्म लिया है तो उपहार बच्ची की जगह उसकी माँ को मिलता है तलाक के रूप में। हमारे द्वारा यह कैसी व्यवस्था बनाई जा रही है? जहां समाज की आधी हिस्सेदारी वाले वर्ग को

कन्या जीवन देने और जन्म लेने वाली बच्चियों को ऐसे भेदभाव को झेलने पर विवश किया जाता है। जुलाई 2005 में सुधा गोयल क 'सज़ा' लघुकथा भी इसी मुद्दे को उठाती है।

जुलाई 2011 में राजुषा उपाध्याय की लघुकथा 'हर बार की तरह' में स्त्री की सहनशीलता और परिवार के लिए अपने अस्तित्व को हमेशा ही तरह मारती स्त्री की कहानी है। जिसमें औरत अपने अस्तित्व को पति के आगे न झुकाने की कायदे कसती है पर परिवार के लिए फिर वह अपने मूल रूप में आ जाती है। पत्नी के भीतर जगी स्वाभिमानी स्त्री पर पत्नी धर्म और बच्चों के प्रति ममत्व का पलड़ा भारी हो जाता है और शेष बचती है पत्नी और माँ की भूमिका। इसी अंक में मोहम्मद साजिद खान की 'बकरियाँ' लघुकथा एक प्रतिकात्मक लघुकथा है जहाँ बकरियाँ स्त्रियों का तथा बाघ क्रूर पितृसत्ता का प्रतिनिधित्व करते नज़र आते हैं। लघुकथा में स्त्री एकता और साहस को दिखाते हुए स्पष्ट किया गया है कि स्त्रियाँ अपनी ही शक्ति से अनभिज्ञ हैं यदि स्त्रियाँ सही से आकलन करें और समुचित सूझबूझ के साथ आमना-सामना करें तो वे बाघ रूपी क्रूर पुरुष को भी पराजित कर सकने में भी सक्षम हैं।

समाज में स्त्री और पुरुष के लिए अलग अलग मानदंड निर्धारित किए गए हैं। 'संज्ञान' लघुकथा उमाकांत खुबालकर की लघुकथा है जो जून 2011 में प्रकाशित हुई। इसमें ऐसी ही स्थिति को रेखांकित किया गया है। पुरुष के अंदर भले ही अनेक बुराइयाँ हों। वह जुआरी, शराबी हो और पत्नी के होते भी अनेक स्त्रियों से संबंध रखे तो समाज को कोई आफत नहीं आती परंतु इस लघुकथा में पति के मरने के बाद यदि स्त्री ऐसा काम स्थिति के आगे मजबूर हो करे तो उसे बेशर्म, कुलटा बताया जाता है चाहे उसे ये सब अपने बच्चों की जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए ही करना पड़ रहा हो।

जाफ़र मेहदी जाफरी की मई 2011 में स्त्री मुक्ति केन्द्रित तीन लघुकथाएँ प्रकाशित हुईं। 'पहली औरत या पहला मर्द' इस लघुकथा में बताया गया है कि कैसे मुस्लिम स्त्रियों को यह बोला जाता कि उनको जन्नत तभी मिल सकती है जब वे अपने शौहर की खिदमत करें। मार डांट खाने में

पीछे ना रहें बल्कि डंडा खुद तैयार रखें। जन्मत उन्हें तभी मिल सकती है। दूसरी स्त्री मुक्ति केन्द्रित लघुकथा छपी ‘बबूल’। इस लघुकथा में एक लड़की खुद को बबूल की तरह धारदार और खतरनाक बनाना चाहती है ताकि जब भी वह घर से बाहर निकले कोई आवारा लड़का उसको छेड़े ना और ना ही छेड़छाड़ के कारण उसकी इज्जत पर खतरा मानकर घरवाले उसकी पढ़ाई में कोई व्यवधान उत्पन्न करें इसीलिए वह लड़की खुद को बबूल बनाना चाहती है ताकि कोई उस पर बुरी नज़र न डाले। ‘बबूल’ शीर्षक से ही जून 2009 में कुंअर बेचैन की लघुकथा भी प्रकाशित होती है। उसमें भी स्त्री की अंगिया बबूल की दांतों छीलते समय फट जाती है जिसका फायदा उठाने एक पुजारी वहाँ आता है। अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए पुजारी की हत्या कर देती है। स्त्रियों को अपने स्वाभिमान के लिए अस्त्र भी उठाने पड़े तो सोचना नहीं चाहिए। मई 2011 में तीसरी लघुकथा ‘थोड़ी सी हिम्मत’ नाम से छपी जिसे पढ़कर वाकई लगता है कि स्त्रियों को अपने लिए, अपनी बच्चियों की शिक्षा के लिए हिम्मत जुटाकर पितृसत्तात्मक सोच को नेस्तनाबूद करना होगा। पुरुष को जब लगता है कि औरतें उनके फैसले को मानने से इंकार कर रही हैं तब औरतों की हिम्मत को तोड़ने के लिए तलाक की धमकी भी देते हैं ऐसा ही इस कहानी का पात्र हामिद करता है परंतु नुसरत यह कहकर अपने फैसले पर अड़िग रहती है कि ‘आप इससे ज्यादा कर भी क्या सकते हैं’।

‘तुम आबाद रहो, मेरा क्या?’ सुधा गोयल की लघुकथा है जो ‘हंस’ के अप्रैल 2011 के अंक में प्रकाशित हुई। इसमें समाज में व्याप्त अंधविश्वास के चलते कैसे दो साल की बच्ची का विवाह पेड़ से कराया जाता है क्योंकि उसके ऊपर के दाँत पहले निकले और ऐसा होना अपशगुन माना जाता है और इसका असर कन्या के पति पर होता है और वह काल का ग्रास बन जाता है। इस कन्या दोष को खत्म करने के लिए पेड़ से उसका विवाह होता है। स्त्रियों को लेकर आज भी ऐसे अनेक अंधविश्वास समाज में व्याप्त हैं कभी उसे डायन बना दिया है तो कभी पति को खाने वाली। फरवरी 2011 में ‘डायन’ जो हरिचरण अहर वाल ‘निर्दोष’ द्वारा लिखी गयी है और मई 2008 में

भावना द्वारा लिखी गयी 'डायन' लघुकथा पढ़ने को मिलती है। स्त्री मुक्ति के लिए आवश्यक है कि ऐसी कुप्रथाओं के प्रति जागरूकता बढ़ाई जाए और समाज से इन अंधविश्वासों को दूर रखा जाए।

'सुराही' पूरन सिंह की फरवरी 2011 में छपी लघुकथा है जो आज के समय के ढोंगी बाबाओं पर केन्द्रित है। कैसे ये बाबा स्त्रियों का शोषण करते हैं और साथ ही अपने वर्णश्रेष्ठ होने का दंभ भी भरते हैं। यह लघुकथा बाबाओं की ऐसी ही व्यवस्था का पर्दाफाश करती है। स्त्रियों के साथ सरेआम छेड़छाड़ के मामलों कोई नयी बात नहीं है। लड़कों को इसकी सजा देने के बदले उल्टा लड़कियों को ही बाहर न निकलने, बातचीत ना करने, पढ़ाई तक छोड़ने की हिदायतें दी जाती हैं। लड़के को इंकार अपना अपमान लगता और वे बदले की आग में एसिड से लड़की के शरीर को जला कर आत्मतृप्ति का अनुभव करते हैं। न्याय के लिए संघर्ष करती लड़की को यह कहकर चुप करा दिया जाता है कि उसे अपने सौंदर्य को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करना चाहिए। इस संदर्भ में मार्च 2010 में ऋतु सारस्वत की लघुकथा 'सीढ़ियाँ' को देखना उपयुक्त होगा। मार्च 2003 की 'निर्णय' लघुकथा में दिनेश कुमार स्त्री सौंदर्य को उनके लिए संकट बताते हैं क्योंकि लड़कियाँ ऐसे समाज में जी रही हैं जहां उनके साथ मनुष्य न होकर पाशविक वृत्ति वाले लोग रहते हैं। जो हमेशा सौंदर्य का भक्षण करने को आमादा रहते हैं।

पुरुष स्त्री को अपनी संपत्ति मानता है और उसकी इजाजत के बिना ही किसी के साथ भी उसका सौदा करने में जरा भी सकुचाता नहीं है। अक्टूबर 1998 में जोगीन्दर पाल की 'जागीरदार' और जून 2010 की 'वचन' लघुकथा इसका एक अच्छा उदाहरण है। जून 2010 अंक में योगेन्द्र शर्मा की लघुकथा 'इंकलाब' स्त्री मुक्ति की चेतना को मजबूती देती हुई प्रतीत होती है। पति द्वारा स्त्रियाँ हमेशा से ही घरेलू हिंसा का शिकार होती आई हैं और समाज में इससे कोई ज्यादा हड़कंप भी नहीं होता। यह सुनना आम बात है कि मारा भी है तो क्या हुआ पति है, परंतु इस लघुकथा में औरत घरेलू हिंसा से इतना व्यथित हो जाती है कि वो पति की अच्छे से पिटाई कर देती है और यह घटना अगले दिन अखबार की सुर्खी बन जाती है। स्त्री रोज पीटे तो समाज इसे सामान्य रूप से

लेता है परंतु लघुकथा में स्त्री निर्णय कर लेती है कि जो भी हो अब वह आगे से कोई अन्याय नहीं सहेगी। घरेलू हिंसा पर ही केन्द्रित जून 2007, की हरीराम कहार रचित लघुकथा ‘दया ही दुख’ प्रकाशित हुई है। इसमें स्त्री हिंसा का विरोध तो करती है परंतु अंत में पति पर दया करती है और सेवा करने लगती है जो उसके दुख का कारण भी है। मार्च 2003 की ‘काहे का मर्द’ और नवंबर 2002 की मनोज कुमार पांडेय रचित ‘पुरुष’ लघुकथा भी घरेलू हिंसा पर केन्द्रित है।

स्त्री की स्थिति घर में ऐसी होती है कि घर के प्रत्येक सदस्य और वस्तुओं के लिए वो अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है। वह अपनी अस्मिता को घर में विलीन कर देती है। इसका उदाहरण जून 2010 में सुशांत सुप्रिय की ‘सबके लिए’ लघुकथा है। “एक दिन पुरुष घर आया उसे स्त्री कहीं नहीं दिखी, दरअसल स्त्री घर बन गई थी अपने पति और बच्चों के लिए, दरअसल स्त्री फलदार और छायादार वृक्ष बन गई थी। पुरुष के लिए। दरअसल स्त्री रोटी बन गई थी, कपड़ा बन गई थी, पालना बन गई थी।.... लेकिन पुरुष के पास वे आँखें ही नहीं थीं कि वह स्त्री को पहचान पाता।”¹ दिसंबर 2010 में उग्रनाथ नागरिक की लघुकथा ‘साक्षात्कार’ सामने आती है जो एक लेखिका की कहानी है जो स्त्री-विमर्श के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रही हैं परंतु सामाजिक कटु यथार्थ लिखने के कारण उनकी आलोचना भी हो रही है उनका कहना है कि “मैं अगली किताबों में इस बात का ध्यान रखूंगी कि वीभत्स स्थितियों को किस प्रकार पाठकों के बीच ग्राह्य बना सकूँ।”²

स्त्री मुक्ति स्वरों को बुलंद करती फरवरी 2009 की लघुकथा है ‘कैद बा-मशक्कत’ जो कमल चोपड़ा द्वारा रचित है। लघुकथा अत्यंत मार्मिक और स्त्री मन को भीतर तक झकझोर देने वाली है। इसमें एक गृहणी की दशा को व्यक्त किया गया है कि पति द्वारा प्रताड़ित है, सपने और अपनी इच्छाओं का दमन कर चुकी है। पति की आज्ञा के बिना अपने घर तक जाने की उसमें हिम्मत नहीं है। घर में वह कैदी की भांति गुजर बिसर कर रही है। उसकी स्थिति से बेहतर तो उसकी नौकरनी की स्थिति है वह अपने मालिक से कहती है “ओ मालिक ये चिकचिक मुझे भी पसंद नहीं। मैं तेरी

¹ हंस- सं राजेन्द्र यादव, अंक- जून 2010 पृष्ठ. 87

² हंस- सं राजेन्द्र यादव, अंक- दिसंबर 2010 पृष्ठ. 88

बीवी नहीं हूँ जो इस तरह गाली-गलौच से बात करेगा? मुफ्त में नहीं देते हो पैसा! घर की बहू नहीं, जो थप्पड़ लात खा के भी पड़ी रहूँगी! वह भी दो रोटी के लिए! मुझे नहीं करना काम। ये पड़ी तेरी नौकरी.....!”¹

जुलाई 1992 में ‘निर्माण प्रक्रिया’ लघुकथा जो कमला चमोला रचित है, उसमें उस निर्माण प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है कि कैसे एक स्त्री अपनी गृहस्थ जीवन में अपने बेटे में एक पुरुष को निर्मित करती है जो उसकी बेटी जैसी ही लड़की पर आदेश चलाये तथा अपने अधीन रखे, और अपनी बेटी को एक ऐसी औरत बनाती है जिस पर उसके पुत्र की ही तरह कोई मर्द शासन करे।

पुरुष की दोहरी मानसिकता पर चोट करती मई, 2009 की एक लघुकथा है ‘मैं जानती हूँ तुम्हारा यथार्थ’ जो डॉ. पून सिंह द्वारा लिखी गयी है। इस लघुकथा में पुरुष की उस मानसिकता पर प्रहार किया गया है जिसको प्रेमिका तो एकदम इक्कीसवीं सदी की मॉडर्न चाहिए और पत्नी अठ्ठारहवीं सदी की एकदम संस्कारी। अप्रैल 2009 की लघुकथा ‘लाइव रेप’ आशीष कुमार ‘अंशु’ की अत्यंत हृदयविदारक लघुकथा है जिसमें मानवीयता इस कदर मर गयी है कि रेप जैसी वारदात की लाइव कवरेज की जा रही है कोई उसे रोकने की कोशिश नहीं कर रहा क्योंकि वे नौकरी को बचाना ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। यह लघुकथा सामाजिक यथार्थ को उसकी सभी विकृतियों के साथ प्रस्तुत करती हुई हमारे सामने गंभीर प्रश्न रखती है और सोचने पर विवश तो करती ही है साथ ही प्रेरित भी करती है कि अभी स्त्री मुक्ति की राह भले ही दुर्गम और टेढ़ी मेढ़ी है पर संघर्षरत हो सभी बाधाओं को एकजुटता के साथ पार किया जा सकता है।

अप्रैल 1993 में देवेन्द्र की ‘पंचायत’ लघुकथा जानवरों के माध्यम से मनुष्य समाज को तुच्छ बताया गया क्योंकि जानवर न बलात्कार करते हैं और ना ही वे भ्रूण हत्या करते हैं और न ही दहेज के लिए अपनी बहुओं की आहुती देते हैं। इस लघुकथा में स्त्री की सामाजिक अवस्थिति को स्पष्ट

¹ हंस- सं राजेन्द्र यादव, अंक- फरवरी 2009 पृष्ठ. 91.

किया गया है और जानवर से बदतर बताकर मनुष्यत्व को जगाने तथा इन सामाजिक बुराइयों से समाज को मुक्त करने की चेतना का भी विकास किया गया है।

अगस्त 2008 में कृष्णलाल परख की 'नारी रूप' नाम की दो लघुकथा प्रकाशित हुई। जिसमें नारी के विभिन्न रूपों को दिखाया गया है पहली में नारी का विवाह भले ही एक बूढ़े के साथ होता है परंतु उसको चारों भाइयों के साथ रहना उसकी विवशता है। दूसरी लघुकथा में एक पत्नी के होते हुए एक और लड़की को खरीद कर लाया जाता है। इस तरह समाज में स्त्री को पुरुष किन-किन रूपों में देखता है तथा इससे स्त्री की स्थिति कितनी बद से बदतर होती जा रही है ऐसा सोचने पर ये लघुकथाएँ विवश करती हैं।

पुरुष समाज किस तरह स्त्री को कष्ट देकर, उनका करुण स्वर सुनकर आत्मतृप्ति का अनुभव करता है, उन्हें छोटी उम्र की और गूंगी लड़कियाँ भाती हैं जो चुपचाप बिना बोले सब सहती रहें। इसे राणा प्रताप ने 'गुड़िया' लघुकथा के मध्यम से स्पष्ट किया है। जो नवंबर, 2008 में प्रकाशित हुई। व्यवस्था में भी कुछ ऐसे धूर्त लोग कुर्सी पर बैठे होते हैं जो स्त्रियों का शोषण करते हैं। यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' ने मई 2004 में ऐसी ही स्त्रियों के आक्रोश को अपनी लघुकथा 'यमीन्द्र' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। स्त्रियाँ समाज में अपनी समान हिस्सेदारी दर्ज करवाना चाहती हैं। घर-बाहर दोनों जगह बराबरी का हक चाहती हैं। घर की व्यवस्था को ठीक से चलाने के लिए काम पर जाने की लिए आत्मविश्वास से भरी हैं। विनीता शास्त्री की 'बराबरी' दिसम्बर 2004 की लघुकथा है जिसमें स्त्री मुक्ति के आयाम को आर्थिक सबलता और समानता के साथ जोड़ती है।

जून 1991 में प्रकाशित प्रहलाद श्रीमाली की लघुकथा 'खेल' पढ़कर हमें स्त्री पराधीनता की समझ का और इस बात का पता चलता है कि कैसे बचपन से ही लड़के लड़कियों को इसके लिए अभ्यस्त बना दिया जाता है। स्त्रियों में पराधीनता के प्रति समझ उत्पन्न हो रही है और साथ ही विरोध ही भावना का भी उनमें संचार हो रहा है। दहेज प्रथा, सती प्रथा, डायन प्रथा जैसी

कुरीतियों का तथा साथ ही रणचंडी बन इन कुरीतियों के संहार करने की स्त्रियों में जागरूकता का भी वर्णन किया गया है।

अगस्त 1992 में राजेन्द्र यादव की 'सिद्धांत' लघुकथा समाज के उस नियमित सिद्धांत पर तीक्ष्ण प्रहार करती है जो एक बेटी के पिता को दहेज देने को मजबूर और बेटे के पिता को दहेज का हकदार बनाती है। हर स्त्री को लघुकथा की नायिका की तरह यह बोलने का साहस राजेन्द्र यादव देना चाहते हैं कि "मैं ऐसे झूठे-लालची लोगों के यहाँ नहीं जाऊँगी! मैं या ये कैसे एक दूसरे को सम्मान और प्यार दे पाएंगे? आप इन्हें दस लाख भी दे दें, इनकी मांग बढ़ती ही जाएगी! इनके लिए सवाल न इज्जत का है न सिद्धांत का। इनके लिए सवाल सिर्फ लालच का है! क्या इज्जत खुद अपनी कीमत तय करके दूसरे को लूटना है? और इन्हें सिद्धांतों से क्या लेना देना? सवाल सिद्धांत का होता तो ये सिर्फ एक रुपया लेकर सिद्धांत की रक्षा करते...लेकिन नहीं"¹

'आह्वान' एक अत्यंत गंभीर मुद्दे को हमारे सम्मुख रखती है कि स्त्री चाहे किसी भी वर्ग की हो, किसी भी जाति की हो, शिक्षित हो या अनपढ़। गरीब हो या अमीर हर वर्ग की स्त्री को शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना को झेलना पड़ रहा है। इस लघुकथा में पुलिस उपायुक्त संध्या बरदोलाई आत्मघात कर लेती है क्योंकि वह आत्मग्लानि को झेल नहीं पाती। वह अपने पास मदद के लिए आई स्त्रियों के हक के लिए लड़ाई लड़ती है और उन्हें न्याय दिलवाती है परंतु स्वयं अपने पति द्वारा घरेलू हिंसा का शिकार है। 2020 में अनुभव सिन्हा की फिल्म 'थप्पड़' में भी प्रत्येक वर्ग की स्त्री का संघर्ष दिखाया है तथा घरेलू हिंसा के विरुद्ध स्त्रियों को सजग किया है।

स्त्री मुक्ति की चेतना पर आधारित कुछ अन्य लघुकथाएँ हैं अगस्त 2012 की 'बदलाव', दिसम्बर 2011 की 'मदद' और 'गाली', मई 2011 की 'उलटफेर', अप्रैल 2011 की 'टटा बटन उधड़ी सिलाई', जनवरी 2011 की 'नुमाइश', मई 2010 की 'एक चिड़िया ने दी', जुलाई 2010 की 'पराया धन', सितम्बर 2010 की 'कवयित्री', दिसम्बर 2010 की 'कारण', मई 2009 की

¹ 'हंस', संपादक- राजेन्द्र यादव, अ-गस्त 1992, पृष्ठ सं. 26.

‘संभावना’, मार्च 2009 ‘एटीएम’, फरवरी 2007 में ‘रामदुलारियों के सपने’, और सुरेश गर्ग की ‘साक्षात्कार’ , नवम्बर 2007 की ‘गर्भवती महिला ध्यान दें’, दिसम्बर 2004 ‘उनका सच’, 2005 मई ‘शुभ चिंतक’, ‘युवा पीढ़ी’, और ‘वेलंटाना डे’, मई 2005 कि ‘औरत’, मार्च 2005 में ‘रेत के पौधे’, सितम्बर 1998 में ‘मर्द, और ईश्वर’, मार्च 1991 में ‘भयमुक्ति’, अप्रैल 1993 में ‘पंचायत’, सितम्बर 1991 की ‘आबरू’, अगस्त 1992 की ‘मरण कामना’, अप्रैल 2002 ‘जन्मों की प्यास’, नवम्बर 2002 ‘अवतार’, दिसम्बर 2002 की ‘सुंदरता’, दिसम्बर 1996 की ‘अभिशाप’, अप्रैल 1996 की ‘तंदूरी औरत’।

ये लघुकथाएँ स्त्री मुक्ति में ‘हंस’ की भूमिका को समझने में सहायक सिद्ध होती हैं।

5.3.4 'हंस' के स्त्री मुक्ति केन्द्रित वैचारिक लेख

'हंस' एक वैचारिक विमर्शी पत्रिका रही है। 'हंस' ने सभी हाशियेकृत समाज में चेतना का संचार किया। 'हंस' में 'सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्ष और बहुसंख्यकवाद', 'हिन्दी प्रदेश का वैचारिक संकट', 'आरक्षण, सामाजिक न्याय और बुद्धिजीवी', 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता', 'बाज़ार और संस्कृति', 'सेक्स, जनवाद और अश्लीलता', 'गांधी बनाम आंबेडकर', 'बैंडिट क्वीन', 'स्त्री, दलित और दलित स्त्री' आदि सभी महत्वपूर्ण सामाजिक विषयों पर केन्द्रित लेखों के माध्यम से लंबी बहसें होती रही हैं।

स्त्री मुक्ति को लेकर हंस ने अग्रणी भूमिका निभाई है। 'हंस' ने समाज का यथार्थ से साक्षात्कार कराया और उन सभी मामलों को समाज से ही उठाया जिन्हें लोग अक्सर कुछ समय के बाद भूल जाते हैं और फिर आगे घटित होती है, उससे भी अधिक मन को झकझोर देने वाली घटना। 'हंस' में प्रकाशित आलोचनात्मक लेख स्त्री की अवस्थिति में परिवर्तन, स्त्री की अस्मिता और पहचान के लिए, अधिकारों के प्रति जागरूक करती है। 'हंस' के प्रत्येक अंक में स्त्री उत्थान केन्द्रित विशिष्ट लेखों को हमेशा ही स्थान मिलता रहा है। स्त्री सबलीकरण के लेखों से 'हंस' का प्रत्येक अंक समृद्ध रहा है। स्त्री मुक्ति की विशद सामग्री हमें 'हंस' में देखने को मिलती है। उस समय ऐसे बेबाक और विवादित लेखों को छापना भी एक चुनौती से कम नहीं रहा। यहाँ 'हंस' में प्रकाशित कुछ प्रासंगिक और ज्वलंत लेखों के माध्यम से मैं स्त्री मुक्ति के वैचारिक दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करूँगी।

'हंस' की स्त्री मुक्ति मुहिम को उसके शुरुआती अंकों के माध्यम से ही देखा जा सकता है। अरविंद जैन ने अक्तूबर 1986 में 'पर 'कमला' नहीं मिली' और अर्चना वर्मा ने 'वह 'कमला' चुप नहीं रही....' लेख के माध्यम से स्त्री देह व्यापार से जुड़े मुद्दे को सामने लाया जहाँ औरत को बैल से भी आधी कीमत पर खरीदा और बेचा जा रहा है। लेख की कमला कोई काल्पनिक पात्र नहीं बल्कि यह एक सत्य घटना है जिसका खुलासा अप्रैल 1981 में इंडियन-एक्सप्रेस के एक खोजी

पत्रकार अश्वनी सरीन ने मध्यप्रदेश में तथा देश के अन्य स्थानों पर चल रहे स्त्री देह व्यापार का पर्दाफाश किया। इस घटना पर आधारित फिल्म भी 1984 में बनी। देह व्यापार पर तसलीमा नसरीन का जुलाई 2011 में 'वेश्यावृत्ति वैध माने स्त्री-शोषण वैध' एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। जहां वेश्यावृत्ति वैध होगी वह कोई गणतन्त्र नहीं नितांत वह एक पुरुषतंत्र की नींव पर खड़ा तंत्र है। ऐसे समाज से केवल बर्बरता ही अपेक्षित है, जहां स्त्रियों की मान-हानि, शोषण ही होगा इसीलिए ऐसी सोच, ऐसी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की दरकार है। स्त्री देह शोषण जिसमें स्त्री को अपनी नग्न देह को पुरुष चित्रकार का आगे परोसना होता है। तसलीमा नसरीन ने 'घेरा' लेख में इस विषय को जोर देकर उठाया कि ऐसी चित्रकार स्त्रियों की संख्या इतनी नगण्य क्यों होती है जो पुरुष की नग्नता को चित्र में उकेरे, यह लेख अक्तूबर 1994 में प्रकाशित हुआ।

स्त्रियों को मुक्ति के लिए संघर्ष करने, अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध करने में 'हंस' पत्रिका हमेशा ही प्रतिबद्ध रही है। स्त्रियों को उनके द्वारा किए गए आंदोलनों के प्रति अवगत करा कर आगे भी संघर्षशील रहने की प्रेरणा 'हंस' के लेखों में मिलती है। दुनियाभर में वामपंथी आंदोलन ने समाज में उम्मीद का लौ जलायी। जिसके कारण इस आंदोलन से प्रेरित होकर बहुत से लोग इस विचारधारा के समर्थक बने जिनमें महिलाओं की भी अच्छी खासी संख्या थी। यह आंदोलन वंचितों, शोषितों तथा महिलाओं की आवाज़ बना। महिलाओं को सर्वहारा की श्रेणी में रखा किन्तु वर्गीय संघर्ष में महिलाओं की समस्याएँ, उनके सवाल उपेक्षित रह गए। 'हंस' के अप्रैल 1991 में 'तेलंगाना आंदोलन में स्त्री की भूमिका' लेख के माध्यम से मीनाक्षी मुखर्जी ने स्त्रियों को संघर्ष के लिए नेतृत्व करने की लिए प्रोत्साहित किया है। इस आंदोलन में स्त्रियों को आवश्यकता के लिए घर-गृहस्थी को पीछे छोड़ आंदोलनों में भागीदार तो बनाया गया परंतु अंत में उन्हें फिर से सत्ताधारियों द्वारा घर वापसी करा दी जाती है। पार्टी में अब स्त्रियों का कोई काम नहीं था इसीलिए स्त्रियों को केवल निराशा ही मिलती है। इसके प्रमाण हमें ऐतिहासिक आंदोलनों के अध्ययन से मिलते हैं। अगस्त 1991 में कात्यायनी ने 'नारी मुक्ति आंदोलन और कुछ बुनियादी सवाल' लेख

में पाश्चात्य चिंतकों के हवाले से नारी की अस्मिता के सवाल को प्रबलता के साथ उठाया। लेख में स्त्रियों के साथ यौन आधार पर कायम सामाजिक असमानता और भेदभाव जैसे मुख्य प्रश्नों को उठाया गया है।

हिन्दू समाज में जातीयता एक ऐसी कटु संस्था है जो व्यक्ति को उसके जन्म से प्राप्त होती है और मृत्यु तक जाति उसके साथ रहती है। कोई भी व्यक्ति चुनाव से किसी जाति को अपनाता नहीं है। वर्ण आधारित समाज में कुछ वर्णों के लिए उनकी जाति गौरव, और श्रेष्ठता का विषय है तो वहीं कुछ जाति के लोग ताउम्र अपनी जाति को लेकर हीनता का शिकार होते हैं। भारत में 1990 में पिछड़ी जातियों के सर्वांगीण विकास के आंकलन हेतु मण्डल कमीशन ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें स्त्रियों को पिछड़ों में शामिल किया गया। जिससे उच्च वर्गीय जातियों की महिलाओं ने विरोध किया क्योंकि उनकी पारिवारिक स्थिति ही उनके लिए सामाजिक स्थिति थी। ये महिलाएं जातीय दंभ, और श्रेष्ठता बोध से ग्रस्त थीं। जब समाज में ऐसा विरोध देखने को मिला तो स्त्री मुक्ति के सवालों को जाति की दृष्टि से परखने की एक नयी सोच की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। यह बहस काफी आगे बढ़ी और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को देखते हुए बहुत से चिंतकों ने स्त्री को दलित से जोड़ा। स्त्री को दलित की श्रेणी में रखने में 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव भी रहे हैं। उनके मतानुसार "वर्ण व्यवस्था में हर औरत शूद्र है"¹ जब इस तरह के विचार सामने आने लगें तो इससे स्त्री-विमर्श की धारणा में एक नए आयाम जुड़ा और इससे बहसों, पक्ष-विपक्ष भी तैयार हुआ।

प्रेमचंद जयंती के अवसर पर 1992 में 'हंस' द्वारा आयोजित वार्षिक आयोजन का 'साहित्य और दलित चेतना : विशेष संदर्भ प्रेमचंद' विषय रखा गया। इसी आयोजन में मृदुला गर्ग ने स्त्री को दलित के साथ जुड़े जाने पर अपना कड़ा विरोध दर्ज किया। अपनी इसी धारणा को फिर से उन्होंने अपने लेख 'मत बनाओ स्त्री को दलित' में स्थापित किया, जो नवभारत टाइम्स के 'दूसरा पहलू'

¹ हंस, सं राजेन्द्र यादव, जनवरी 1991, पृ. 6

कॉलम में प्रकाशित हुआ था। राजेंद्र यादव ने मृदुला गर्ग के इस लेख के बाद मार्च 1993 में अपने संपादकीय 'तुम्हारे गले में किसकी आवाज़ है उमा भारती' में उमा भारती को केन्द्रित कर स्त्री को दलित श्रेणी में रखा और स्त्रियों को अपनी नियति पहचानने की हिदायत दी। इस संपादकीय में बाबरी विध्वंस के समय उमा भारती की भूमिका को प्रश्नों के घेरे में रखा गया। हिन्दू स्त्री की इस दोगुनी स्थिति के लिए धार्मिक ग्रंथ जिम्मेदार हैं जो स्त्री को देवी स्वरूप प्रदान करते हैं जबकि यथार्थ के धरातल पर देखा जाए तो वही देवी स्वरूपा दमित, शोषित और पीड़ित है। शास्त्रों और उमा भारती को लगभग चेतावनी देते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है “भारतीय वर्ण व्यवस्था में आप कहीं भी क्यों न हों औरत को सेक्स और शूद्र को जाति बताकर चुटकियों में उसे उसकी ज़मीन दिखाई जा सकती है। वर्ण व्यवस्था न चुनाव का अधिकार देती है, न बराबरी का....शरीर धारण करते ही समाज में आपकी जगह तय है और इसे आप बदल नहीं सकते।”¹

राजेन्द्र यादव का मानना है कि जो चीज़ स्त्री को शूद्र बनाती है वह है उसकी देह- जो मूलतः अपवित्र है। राजेन्द्र जी मानते हैं कि शूद्र और स्त्री दोनों के शोषण की नियामक सत्ता एक ही है- धर्मग्रंथों की सत्ता। दोनों ही जीवन में ऐसे दंड की सज़ा को झेलने के लिए अभिशप्त हैं जो उन्होंने किया ही नहीं। अगस्त 1994 में तसलीमा नसरीन ने 'औरत के हक में' लेख में विभिन्न उदाहरण द्वारा बताया कि कैसे और क्यों वैदिक साहित्य में नारी को कहीं भी 'मनुष्य' समझा नहीं गया। अक्टूबर 2011 में कन्या भ्रूण हत्या की समस्या को तसलीमा नसरीन ने राज्यों तथा आकड़ों के माध्यम से 'भारत में बचे रहेंगे सिर्फ पुरुष' में दिखाया है।

अपने लेख में राजेन्द्र यादव ने मृदुला गर्ग की दर्ज आपत्तियों का खुलकर जवाब दिया है। इस लेख के बाद इस मुद्दे पर बहस का आगाज हो गया और अगले अंकों में मृदुला जी ने 'स्त्री दलित नहीं है' में अपने पक्ष हो अधिक मुखरता के साथ स्पष्ट किया। इस विषय पर बहस द्वारा पक्ष-विपक्ष दोनों प्रतिक्रियाओं से अनेक लोगों ने इस स्त्री-विमर्श की समझ को मजबूत बनाने तथा एक नयी

¹ 'हंस', सं राजेन्द्र यादव, मार्च 1993, पृ. 6

दिशा प्रदान की। मृदुला गर्ग ने जिन तर्कों के माध्यम से स्त्री को दलित मानने से इंकार किया उन तर्कों में उच्च जाति का अभिमान और खुद को श्रेष्ठ मानने को बोध होता है। उनके अनुसार “आज स्त्री जाति में भी दो वर्ग हैं दलित और गैर दलित जब तक दलित अपने को कमतर मानने के अहसास से मुक्त नहीं होंगे, उनके भीतर क्रोध का लावा नहीं फूटेगा.... जब तक स्त्री अपने को कमतर मानकर दलित होने की आत्मदया से डूबी रहेगी वह विद्रोह नहीं करेंगी।”¹ वे दलित होने के मानसिक भान को प्रमुख समस्या के रूप में देखती हैं तथा संघर्ष करने के लिए इस बोधभाव से मुक्ति को आवश्यक मानती हैं। इस बहस में नीलम कुलश्रेष्ठ ने मृदुला गर्ग की ही बात को आगे बढ़ाते हुए जून 1993 में अपनी भी आपत्ति “मैं भी स्त्री को दलित से जोड़े जाने का विरोध करती हूँ” लेख के माध्यम से प्रकट की। उन्होंने लिखा “जिस तरह दलितों का पीढ़ी दर पीढ़ी शोषण एक बड़ी साजिश है उसी तरह स्त्री की शक्ति को नकार कर उसे दलित से जोड़ना या अपने से कमतर चीज बना देना पुरुष अहम की भारी साजिश है।”²

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय और अत्यंत समस्याग्रस्त है कि दलित होना कमतर होने का पर्याय क्यों माना जा रहा है? क्या ऐसा मानना उसी मनुवादी मान्यताओं का ही अनुसरण करना नहीं है जो समाज में स्त्रियों और दलित की हीन स्थिति का नियामक है। जैसे स्त्री होना किसी का अपना चुनाव नहीं होता वैसे ही दलित होना किसी का अपना चुनाव नहीं होता। स्त्री और दलित दोनों का संघर्ष उसी सत्ता से है जो उनकी स्थिति को अपने नियंत्रण में रखती है। उनकी यह सत्ता विरोधी लड़ाई साझी होनी चाहिए नाकि आपस में एक दूसरे से अपनी स्थिति को श्रेष्ठ मानने की होड़।

जातीय भेदभाव और श्रेष्ठता का दंभ स्त्रियों में भी पुरुषों के मुकाबले कम नहीं होता। उच्च जाति की महिलाएं और वर्गीय संरचना से विकसित स्त्रियाँ भी मानसिक रूप से इस जातीय गौरव का शिकार होती हैं और निचले तबके की स्त्रियों को भी अपने साथ जोड़ने से कतराती हैं। मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं “दलितों के प्रति उनकी घृणा इतनी क्यों है? नीलम कुलश्रेष्ठ का

¹ ‘हंस’, सं राजेन्द्र यादव, अप्रैल 1993, पृ. 67

² ‘हंस’, राजेन्द्र यादव, जून 1993, पृ. 73

मानना है कि स्त्री दलित नहीं, इस बात की तरफ संकेत नहीं करता कि दलितों से हम श्रेष्ठ हैं?..... दलित को दलित रखने की परंपरा तथा उन्हें अपने से छोटा समझने की मानसिकता जब इस देश की महिलाओं के भीतर भी उतरेगी तब उन महिलाओं का क्या होगा जो आज भी दलित होने के कारण दोहरे अत्याचार की शिकार हैं?”¹ इस तरह की रुग्ण मानसिकता से नारीवादी आंदोलन को स्वयं को सुरक्षित रखना है जो स्त्रियों को स्त्रियों से और खुद को किसी भी मनुष्य से श्रेष्ठ मानती है। इस आंतरिक चुनौती से नारीवादी आंदोलन को बचना होगा जिससे आंदोलन कमजोर ना हो पाए। प्रभा खेतान स्त्री को मानवीय इकाई मानती हैं। जो कई वर्गों में विभाजित ना होकर एक कोटि है। उन्होंने इस बहस को एक नया आयाम दिया और लिखा “स्त्री अपने आप में एक जीवित विरोधाभास है। मृदुला जी की स्त्री चेतना अन्य स्त्रियों की तरह दलित्व के प्रति सचेत है इसलिए अपनी समस्या के बारे में सवाल उठा रही है या अपने दलित होने के भाव से मुक्तिपथ पर है। लेकिन सम्पूर्ण मुक्त होने का वे दावा नहीं कर सकती।.... स्त्री दलित है भी और नहीं भी। जहां एक ओर वह पुरुष सत्ता के विरोध में अभिव्यक्त होती है वहीं कुछ कदमों के बाद उसी सत्ता के साथ चलने पर विवश हो जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि स्त्री चेतना दलित है और सदियों से रही है किन्तु.....पहले हमें स्त्री के अस्तित्व की सत्ता, उसे अस्तित्व को स्वीकारना होगा चेतना तो बाद में उभरती है।”²

प्रभा खेतान मानती हैं कि स्त्रियों की समस्या आधी आबादी की समस्या है इसलिए वे दलित और गैर दलित के विभाजन के बजाय स्त्रियों में वैश्विक बहनापे की भावना को बढ़ावा देने की हिमायती हैं। प्रभा खेतान दलित पुरुष और स्त्री को अलगाकर देखती हैं। उनका मानना है “स्त्री दलित वर्ग की हटे हुए भी केवल दलित वर्ग नहीं ही। एक दलित वर्ग के पुरुष में और उसकी स्थिति में जैविक भिन्नता है या केवल सामाजिक, इस बात पर गौर करना होगा। यदि दलित मुक्ति आंदोलन में वह भाग लेती है तो इस आंदोलन में कौन अधिक लाभकारी होगा, दलित वर्ग का

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, सितम्बर 1993, पृ. 75

² हंस, सं. राजेन्द्र यादव, अगस्त 1993 पृ. 68.

पुरुष या स्त्री?”¹ दलित स्त्री का संघर्ष दलित पुरुष की तुलना में अधिक जटिल है। इसकी वजह यह भी है कि अपनी मुक्ति की लड़ाई में दलित स्त्री को दलित पुरुषों का भी विरोध झेलना पड़ता है। वह अपनी लड़ाई खुद से लड़ना चाहती हैं इसीलिए वह वैश्विक बहनापे की बात करती हैं।

समाज में (2003-2004) के आसपास जब स्त्री आरक्षण के विचार सामने आए तो स्त्री की जाति के सवाल ने फिर से ज़ोर पकड़ा। इस संदर्भ में विभिन्न चिंतकों ने अपने मतों को रखा। हंस के यशस्वी संपादक राजेन्द्र यादव लिखते हैं “भारतीय समाज में न नारी का अपना कोई व्यक्तित्व है न जाति। वह ऐसा ‘रत्न’ है जिसे कहीं से भी उठाया जा सकता और जिसके पास है उसी की संपत्ति है।”² राजेन्द्र यादव की इन मान्यताओं का राजकिशोर ने नवंबर 2001 में ‘स्त्री, तुम्हारी जाति क्या है?’ नामक लेख के माध्यम से अपना विरोध जताते हुए कहा कि पुरुषों की भांति स्त्रियों की भी जाति होती है। तो वहीं दिसम्बर 2001 के ‘हमसे जाति पूछते हो!’ लेख में मैत्रेयी पुष्पा का कहना है कि स्त्रियों की जाति नहीं होती। “ब्राह्मणी कोई जाति नहीं होती वह ब्राह्मण की स्त्रीलिंग बनाई गयी है। ब्राह्मण पुरुष होता है जैसे कि शूद्र भी पुरुष को ही कहते हैं। औरत के मामले में कहना पड़ेगा शूद्र स्त्री.....पति उसको छोड़ता है तो अपनी जाति भी छीन लेगा। वह दूसरी जगह जाएगी तो दूसरे की जाति पहन-ओढ़ लेगी और वर्तमान मालिक से पहचानी जाएगी, दरअसल स्त्रियाँ दलित नहीं होती, वे दलित स्त्रियाँ होती हैं।”³

मनीषा ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उस मर्दवादी सत्ता के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है जो स्त्रियों की इस नियंत्रित व्यवस्था का नियामक है और इस व्यवस्था में स्त्रियों को चल संपत्ति और केवल भोग की वस्तु मानती है। “औरत की जाति सिर्फ औरत होती है। औरत गरीब, अमीर, पंडित-चमार, अमरीकी-अफ्रीकी कुछ नहीं होती, वह केवल औरत होती है। मर्द के इस्तेमाल का सामान होती है और केवल जननांग होती है। जब आप किसी औरत को ‘यूज’ कर रहे होते हैं तो

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, अगस्त 1993, पृ. 70.

² ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, जनवरी 1991, पृ. 5.

³ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, दिसम्बर 2001, पृ. 47.

उसकी जाति को नहीं खंगालते जाते, दरअसल जननांगों को कोई जातियां नहीं बाँट सकती।”¹ जहां मैत्रेयी पुष्पा सभी स्त्रियों को एक समान इसीलिए बताती हैं क्योंकि उनकी न स्वतंत्र सत्ता है और न जाति। वहीं मनीषा ने भी एक जाति बताकर सभी औरतों को एक समान माना है। जातीय दंभ और हीनता के नाम पर भारतीय समाज में शताब्दियों से भेदभाव होता रहा है। जो आज भी समाज को दीमक की तरह धीरे धीरे खोखला करता जा रहा है। स्त्रियों और दलितों को धार्मिक ग्रन्थों में इस हीनता से बचाने का कोई प्रावधान नहीं है चाहे कानूनन कितने ही समानता के फरमान जारी हो जाएँ। यह असमानता समाप्त नहीं हुई है। इस बात को पुष्ट हाल ही बीते कुछ वर्षों के एक मामले से हम समझ सकते हैं कि समाज अभी भी किस तरह विक्षिप्त मानसिकता का शिकार है। स्त्रियों को अपवित्र माना जाता है। केरल के ‘सबरीमाला’ मंदिर पर सर्वोच्च न्यायालय के आदेश (28 सितंबर 2018) के बाद भी स्त्रियों के प्रवेश पर रोक लगाई गयी और तर्क यह दिया गया कि यदि स्त्रियाँ मंदिर में प्रवेश करेंगी तो मंदिर अपवित्र हो जाएगा। जिसका जोरदार विरोध किया गया। स्त्रियों को हर आंदोलन की रूपरेखा, मुद्दों व मांगों को सुनिश्चित कर अपनी बराबरी की हिस्सेदारी के लिए संघर्ष करना है। अपनी लड़ाई के लिए स्वयं ही लड़ना होगा तभी आंदोलन अपने वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जिसके लिए वैश्विक बहनापे की आवश्यकता है।

जाति और जेंडर के सवाल को अपेक्षित कर कोई भी सामाजिक आंदोलन मुकम्मल उद्देश्य को नहीं पा सकता। ‘हंस’ जुलाई 1996 में विमल थोराट ने ‘दलित नारी और हिन्दू असंवेदनशीलता’ लेख में दलित स्त्री के दोहरे शोषण को ही केन्द्रित किया गया है। सितंबर 2013 में दिनेश राम का लेख ‘बुद्ध की स्त्री-दृष्टि का सच’ ऐतिहासिक सच्चाई को निर्वस्त्र करता है चाहे बुद्ध हों या अन्य कोई स्त्री का सच किसी भी धर्म में नहीं बदल सकता, जब तक समाज के मन में, हीन दृष्टि में परिवर्तन नहीं होता। दृष्टि में बदलाव होगा तभी सृष्टि में बदलाव की संभावना होगी।

¹ ‘हंस’, सं राजेन्द्र यादव, दिसम्बर 2001, पृ. 49.

फिर किसी बुद्ध को स्त्रियों के लिए नियम नहीं बनाने पड़ेंगे। बुद्ध धर्म को सुधारवादी और समतावादी बताया जाता है परंतु इस लेख ने वास्तविकता को सामने रखा है

‘स्त्री-विमर्श व्यक्तिगत का सामाजिक होना’ प्रभा खेतान का लेख दिसम्बर 1996 में प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्रभा खेतान स्त्रियों के व्यक्तिगत पक्ष के होने का समर्थन करती हैं, उनका मानना है “स्त्री-मुक्ति आंदोलन के वैश्विक संदर्भ को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता, किन्तु साथ ही आंदोलन के वैयक्तिक पक्ष पर भी ध्यान देना अनिवार्य है। व्यक्ति से समाज या समाज से व्यक्ति के संबंध का विवेचन किया जा सकता है, किन्तु स्त्री तो अभी तक व्यक्ति ही नहीं हुई, उनके पास निर्णय का अधिकार ही कहाँ है? क्या समाज ने उसे मानवीय स्तर पर रखा है? जहां आंदोलनकर्ताओं के स्वर में कभी व्यक्तिगत आक्रोश है, तो कभी सामाजिक सरोकार, कभी मुक्ति की समर्थक होते हुए भी स्त्रियाँ अपना वस्तु होना प्रदर्शित करती हैं तो कभी स्वतंत्र व्यक्ति होने का अधिकार मांगती हैं”¹ किसी भी वैचारिक प्रतिबद्धता के लिए व्यक्ति स्वतन्त्रता का होना अपरिहार्य होता है। स्त्रियों का अपने विषय में निर्णय लेना अपने आप में एक द्वंदात्मक प्रक्रिया है, जिसे पार करते हुए स्त्री और विकसित होती जाएंगी।

मणिमाला ने दिसम्बर 1996 में ‘सौंदर्य-प्रतियोगिता सीता से द्रोपदी तक’ लेख में स्त्री देह प्रदर्शन, बाज़ार, आज़ादी के बदले स्त्री शोषण की दास्तां अनेक मसलों पर तंज़ कसा है। वे लिखते हैं “जो लोग आज भी अपनी स्त्री रिश्तेदारों को अपने बारे में फैसला करने की आज़ादी नहीं दे सकते, वे सौंदर्य प्रतियोगिताओं और स्त्री-देह बाज़ारों को स्त्री की आज़ादी की अभिव्यक्ति मानते हैं, दरअसल यह रास्ता देह से देह तक जाता है”² इसी अंक में अरविंद जैन ने ‘मातृत्व : स्त्री की सार्थकता या बेड़ियाँ?’ लेख स्त्रियों से संबंधी अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाते हैं कि स्त्रियों के लिए मातृत्व कब और क्यों उनकी सार्थकता का नियामक है। यदि विवाहपूर्व गर्भधारण या विवाहोपरांत बच्चा न हो तो क्या समाज स्त्री को बिना किसी लांछन के जीने का हकदार मानता

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, दिसम्बर 1996, पृ. 30

² हंस, सं. राजेन्द्र यादव, दिसम्बर 1996, पृ. 40

है? इस तरह स्त्री मुक्ति के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को अरविंद जैन ने उठाकर स्त्री मुक्ति राह को और प्रशस्त किया है।

सितम्बर 2008 में 'हाशिए पर एक सवाल : नारी मुक्ति' लेख में शिल्पी ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या देह मुक्ति ही वास्तविक स्त्री मुक्ति है? वे लिखती हैं “उच्चस्तरीय जीवन वाली स्वतंत्र या सम्पन्न महिलाओं के लिए देह या दैहिक स्वतन्त्रता समस्या नहीं बल्कि यह समस्या उनके लिए है जो स्वतंत्र नहीं हैं, यानी कि आर्थिक, मानसिक और विभिन्न प्रकार की आज़ादी जिनके पास नहीं है और पितृसत्ता की कट्टरपंथी सोच ने जिनके दिमाग में यह भर रखा है कि इस तरह की आज़ादी के बारे में सोचने पर औरत औरत नहीं रह जाती।”¹ फरवरी 2009 में डॉ. रोहिणी अग्रवाल ने 'नैतिकता के कोलाहल में देह विमर्श की धमक', मार्च 2009 में नीलम कुलश्रेष्ठ ने 'आम औरत की दैहिक या मानसिक यातना के लिए दहकते सवाल', अप्रैल 2010 में सूर्यकांत नागर ने अपने लेख 'स्त्री-विमर्श: समग्रता में परखने की जरूरत' के द्वारा स्त्री मुक्ति के इस अहम मुद्दे को विचार का विषय बनाया है कि क्या देह स्वतन्त्रता ही स्त्री मुक्ति का केंद्र है? वास्तव में स्वतन्त्रता का अर्थ बराबरी, आज़ादी, मानसम्मान और आपसी कुशल व्यवहार से होना चाहिए। देह मुक्ति एक स्त्री मुक्ति का एक महत्वपूर्ण अंग हो सकता है परंतु केवल इसी के माध्यम से स्त्री मुक्ति को संपूर्णता में पाना संभव नहीं। सूर्यकांत नागर लिखते हैं “मुक्त नारी के नाम पर अत्यधिक खुलापन, विवाह-संस्था के प्रति अनास्था, बिन ब्याही माँ, क्लब लाइफ, धूम्रपान, शराबखोरी, आगे जाने के लिए गलत तरीकों का इस्तेमाल आदि से स्त्री इस कथित सभ्य समाज में पुरुष शोषण का शिकार होती हैं और कई तरह से गुप्त रोगों का शिकार हो असमय मर जाती हैं। मैं स्त्री की आज़ादी, बराबरी, समान अधिकार, तथा परिवार और समाज में उसके मान-सम्मान का प्रबल पक्षधर हूँ। बस चिंता इतनी भर होनी चाहिए कि मुक्त नारी के नारे के कारण स्थिति अराजक न हो

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, सितम्बर, 2008, पृ. 66.

जाए और स्त्री वेश्या बनकर न रह जाए। इसे पुरुषवादी सोच या स्वार्थ के नजरिए से न देखकर समग्र दृष्टि से देखा परखा जाए।”¹

तसलीमा नसरीन ने भी विवाह संस्था के प्रति अनास्था को अपने मई 2013 के लेख ‘असभ्य-अशिक्षित समाज की प्रथा है विवाह’ में प्रकट किया है। इस विवाह संस्था में पति अपनी पत्नी पर पूर्ण अधिकार मानता है, उसे अपनी संपत्ति समझता है और केवल यौनांग मानता है। ‘पुरुषतंत्र : रोग एक लक्षण अनेक’ लेख में तसलीमा नसरीन ने 16 जुलाई 2012 को घटी इंदौर की एक घटना² को सामने रखा। जिसमें पुरुषों की विकृत मानसिकता को देखा गया। पुरुष ने अपनी पत्नी के यौनांग पर ताला लगाया था। यहाँ कोई पितृसत्ता या पुरुषतंत्र की सोच का लाक्षणिक ताला नहीं बल्कि वास्तविक ताला था। जिसे योनि के दोनों तरफ छेद करके ताले से बंद किया गया था जिससे कोई अन्य पुरुष उस योनि का उपयोग ना करे और पति अपनी आवश्यकतानुसार उसे खोले और भोगे। इस स्थिति से परेशान होकर स्त्री ने जहर खा लिया था। इक्कीसवीं सदी में ऐसी घटनाएँ मन को झकझोर देती हैं। पितृसत्ता और पुरुषतंत्र का एक अदृश्य ताला तो हमेशा ही स्त्रियों को महसूस करना पड़ता है। तसलीमा नसरीन एक अत्यंत महत्वपूर्ण विचार को हमारे सामने रखती हैं जो स्त्री मुक्ति के लिए एक मूल मंत्र साबित होगा। वे कहती हैं, “यौन स्वाधीनता का मतलब अपनी पसंद के इंसान के साथ सोना है, और सोते समय हमेशा ‘हाँ’ नहीं ‘ना’ कहना भी यौन स्वाधीनता है। यौन संपर्क के लिए राजी हो जाना ही यौन स्वाधीनता नहीं, बल्कि राजी न होना भी है। यौनांग पर बंदिश, यौन पराधीनता, घरेलू हिंसा, कन्या भ्रूण हत्या, शिशु कन्या हत्या, दहेज, बहुओं की हत्या, यौन दासत्व या वेश्यावृत्ति, नारी व शिशु का अवैध व्यापार, बलात्कार आदि रोग नहीं, रोग के लक्षण हैं। रोग का नाम है पितृतंत्र या पुरुषतंत्र।”³

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, अप्रैल, 2010, पृ. 73-74.

² <https://navbharattimes.indiatimes.com/state/madhya-pradesh/bhopal/indore-man-kept-wifes-private-parts-locked-for-four-years/articleshow/15028257.cms>

³ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, सितम्बर 2012, पृ. 89.

सुरेश श्रीवास्तव का अपने दिसम्बर 2010 के लेख ‘नारी-मुक्ति के मानदंड अर्थव्यवस्था से तय होंगे, न कि आत्मकथाओं से’ में कहना है कि “आप मानें या न मानें, आज के समाज में नारी-मुक्ति और देह-मुक्ति के मानदंड तय होंगे उन्हीं उत्पादन संबंधों तथा उसी अर्थव्यवस्था से जो स्त्री या स्त्री देह को एक पण्य उत्पाद के रूप में ही देखती है, न कि कुछ काल्पनिक कहानियों या आत्मकथाओं से”¹

24 मार्च 2000 को इंडियन एक्सप्रेस ने वृंदावन की विधवाओं पर पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा जारी एक सर्वेक्षण को सार्वजनिक कर दिया। इस सर्वेक्षण में वृंदावन की तीर्थनगरी में विधवाओं के साथ होने वाले ‘यौन शोषण’ को पुष्ट करते साक्ष्य दिए गए हैं। प्रभा खेतान ने मई 2000 में ‘नारी का मुक्ति-प्रसंग और नारीवादी कलाकर्म’ और भवदेव पांडेय के ‘पानी रे पानी तेरा रंग कैसा’ लेख में दीपा मेहता की पटकथा ‘वाटर’ से स्पष्ट किया है कि हिन्दू समाज की जिस समस्या को बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में दिखाया गया, वह आज भी कैसे कायम है। विधवाओं की चिंतनीय स्थिति पर विचार करते हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर हिन्दू विधवा विवाह के प्रसंग में लिखते हैं “समाज के भय से विधवा स्त्री यदि अपने अनैतिक आचरण के कारण भ्रूणहत्या जैसा पाप करें तो करती रहें..... और इसके बावजूद तुम शास्त्रों के निर्देश का पालन नहीं करोगे.... कि उनका पुनः विवाह करवाओ और वैधव्य की दारुण असहाय यातना से उन्हें मुक्ति दिलाओ, ताकि इन बुराइयों से वे छुटकारा पा सकें, क्या पति की मृत्यु के बाद उनका शरीर, शरीर नहीं रहता, क्या वे पत्थर की हो जाती हैं? क्या वे उदास नहीं होती? क्या वे अपनी चाहत और कामना से हमेशा के लिए छुटकारा पा जाती हैं? कम से कम किसी औरत को ऐसे देश में जन्म नहीं लेना चाहिए। जहां पुरुष के मन में उसके प्रति करुणा का अभाव हो”²

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, दिसम्बर 2010, पृ. 71.

² हंस, सं. राजेन्द्र यादव, मई 2000, पृ. 53

अजन्ता लोहित ने फरवरी 2002 में स्त्री मुक्ति के एक महत्वपूर्ण मुद्दे को अपने लेख 'महिला लेखन और सेंसरशिप' के माध्यम से उठाया। स्त्रियों का जीवन जन्म से मृत्यु तक बंधनों और वर्जनाओं से नियंत्रित रहता है। उसके जीवन पर हर कदम सेंसरशिप है। महिला लेखिकाएँ अपनी रचनाओं में अपने जीवन की पीड़ा को परत-दर-परत उधेड़ती है, परंतु लेखन में भी सेंसर की नज़र से स्त्रियाँ बच नहीं पाती और उनके लेखन को पुरुष निर्धारित और निर्देशित करते रहे हैं। 15 जुलाई 2001 में अंग्रेजी के द हिन्दू दैनिक में एक रिपोर्ट आई जिसमें दस भाषाओं की लगभग 150 लेखिकाओं ने बताया कि रोक-टोक व सेंसरशिप उनके जीवन और लेखन में हमेशा ही रही है, ताकि स्त्रियाँ केवल उतना ही लिखें जितना पुरुष वर्चस्व पर कोई आंच ना आए। कुछ स्त्रियों ने बताया कि उनके पति उनकी रचनाओं को फाड़ देते हैं। अच्छी लड़की के रूप में जानी जाऊँ इसलिए भी कई लेखिकाएँ व्यक्तिगत और पारिवारिक मसलों पर कुछ भी लिखने से कतराती हैं जिससे स्त्रियों का रचनाकर्म भी बाधित होता है। एक लेखिका ने लिखा "रचनात्मकता हमारे लिए बरसाती कोट की तरह है। जब मैं अपने घर लौटती हूँ, तो अपने रचनात्मकता रूपी बरसाती कोट को खूँटी पर टांग देती हूँ। मैं हमेशा सोचती हूँ कि यह कोट मेरी चमड़ी बन सके, पर ऐसा अभी तक नहीं हुआ।"¹ कई लेखिकाओं को तो अपने बेबाक लेखन के कारण देश निकाला तक झेलना पड़ा तो किसी को अदालत में चक्कर काटने पड़े। जिसमें तसलीमा नसरीन (बांग्लादेश), तहमीना दुरानी (पाकिस्तान), और इस्मत चुगताई (भारत) शामिल हैं। इन सभी बन्दिशों और सेंसरशिप से आड़े हाथ कर स्त्रियाँ अपनी आपबीती लिख पा रही है यही स्त्री मुक्ति संघर्ष के लिए आवश्यक है।

मई 2001 में क्षमा शर्मा ने 'पत्रकारिता में महिलाएं' लेख में एक कार्यशाला में विभिन्न राज्यों से आई पत्रकार महिलाओं की आपबीती की चर्चा की है। पत्रकार महिलाओं ने खुलकर अपने साथ कार्यस्थल पर हुए यौन शोषण की बात रखी। अप्रैल 2003 में 'प्रभा खेतान ने 'अंजु पाल जो कल्पना चावला नहीं थी.....' लेख में एक पच्चीस वर्षीय अंजु पाल लड़की की कहानी है जिस के

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, फरवरी 2002, पृ. 60

साथ बलात्कार की घटना घटी। स्त्री यौन शोषण और उसके बाद परिवार के मजबूर करने पर भी गर्भपात न करवा कर अंजुपाल एक बेटे को जन्म देती है। अंजु में उस घटना के बाद भी एक बेहतर जीवन जीने की जिजीविषा कायम थी परंतु जब उसके ही परिवार ने उसको अपनाने से मना कर उसको एक भ्रष्ट लड़की घोषित कर दिया तब वह भीतर से टूट गयी और अपनी जान गवां बैठी। यह एक आम लड़की की कहानी है, कल्पना चावला नहीं जिस पर हमें गर्व हो। जिसे अखबार के मुख्य पृष्ठ पर जगह मिले। ऐसी कहानी को केवल गुमनामियत ही हासिल होती है।

जून 2011 में कमलेश जैन ने ‘सामूहिक बलात्कार : सजा तीन वर्ष, जुर्माना पचास हजार’ लेख में लुधियाना जिले के एक वास्तविक सामूहिक बलात्कार की घटना¹ में पीड़िता की लाचारी और बलात्कार जैसे गंभीर विषय पर लचर न्यायिक व्यवस्था को दिखाया गया है। तसलीमा नसरीन का जनवरी 2013 में प्रकाशित ‘क्या हो नाबालिग से बलात्कार की सजा?’ लेख स्त्री की अस्मिता के साथ खिलवाड़ करने वाले गिद्धों को उनके जघन्य कर्मों के लिए कड़ी से कड़ी सजा मिलने का दस्तावेज़ है। क्षमा शर्मा का मार्च 2010 का ‘आभाजी, आप अपनी बेटी को छेड़ने वाले को क्या कहेंगी?’ लेख हरियाणा के रुचिका गिरहोत्रा केस जो 12 अगस्त 1990 में हुआ था , पर आधारित है जिसमें डी. जी. पी. राठौर ने रुचिका के साथ छेड़छाड़ की और उनकी वकालत उनकी पत्नी आभा राठौर ने की और केस जीत अपना पत्नी धर्म निभाया। रुचिका को ‘लूज मॉरल्स’ और उसके परिवार को बदनाम किया गया। क्षमा शर्मा आभा जैसी सभी औरतों से प्रश्न करती हैं कि क्या शिक्षित और सक्षम औरत होने के नाते उसका समाज की शोषित महिलाओं के प्रति कोई दायित्व नहीं है? चाहे पति कितना ही व्यभिचारी हो, परस्त्रीगामी हो क्या स्त्रियों को उसके प्रत्येक दुराचार में साथ दे आज्ञाकारी पत्नी होने का तगमा पहनना जरूरी है? महादेवी वर्मा के शब्दों में “एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने पर उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ

¹ <http://archive.indianexpress.com/news/sc-frees-rape-convicts-after-compromise-with-victim/754026/>

उसके अकारण दंड को अधिक भारी बनाए रहती हैं”¹ स्त्रियों को जरूरी है कि अन्याय के खिलाफ एकजुट होकर इंसाफ के लिए आंदोलित रहना तभी समाज में स्त्रियों के खिलाफ हो रहे इन अपराधों को रोका जा सकता है वरना नारी मुक्ति हमेशा एक दिवास्वप्न ही बना रहेगी।

नवंबर 2013 में अशोक कुमार ने ‘निर्भया के हाथ में पिस्तौल होती तो क्या होता’ लेख 16 दिसम्बर 2012 दिल्ली के रेप घटना पर आधारित है। इस लेख के जरिये लेखक उन प्रश्नों को उठाते हैं जिन्हें राजेन्द्र जी ने आने संपादकीय में भी उठाया था कि “क्या फांसी से किसी भी अपराधी ने सबक लिया है? क्या रेप करने वाले सचमुच मनोरोगी हैं और उनकी जगह जेल नहीं मानसिक चिकित्सालय है? क्या हमें बीमारी के इलाज पर विचार नहीं करना चाहिए?”² बलात्कार एक लड़की के लिए एक भयानक आघात है, परंतु लड़की को यह बार बार अहसास नहीं करवाना चाहिए कि यह उसके लिए लज्जा का विषय है। लज्जा और अपयश का अधिकारी तो वे बलात्कारी हैं जो मनुष्य देह में पशुवत व्यवहार करते हैं।

चारु गुप्ता ने सितम्बर 2002 में ‘कहाँ खोया, कहाँ पाया : नारी और नवजागरण’ लेख में स्त्री मुक्ति और नवजागरण की अच्छी समझ विकसित की है। राष्ट्रवादी लेखन में भारतीय नवजागरण की एक स्पष्ट समझ दिखती है। यहाँ इन तथ्यों को बिना किसी संदेह के मान लिया जाता है कि नवजागरण से भारतीय स्त्रियां विशेषकर हिन्दू महिलाओं की स्थिति बेहतर हुई है, वे पहले से ज्यादा आज़ाद और स्वतंत्र हुई हैं। मध्यकाल से अठारहवीं सदी तक जो कैद में रही अब वे सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति की राहगीर बन रहीं थीं। सती प्रथा समाप्त करने वाला, नारी को शिक्षित करने वाला, विधवा विवाह, जैसी कुरीतियों पर रोक लगाने वाला नवजागरण स्त्री मुक्तिरूपी ताकत की तरह नज़र आता है। महिलाओं के लिए नवजागरण जिन सामाजिक प्रथाओं, रूढ़ियों, हिंसा के प्रतिमानों को समाप्त करने का सपना देखता था नारीवादियों द्वारा उन्हीं मसलों की अनदेखी दिखने पर भी इसी में सामाजिक सुधार की गति, और प्रकृति का जटिल, बहुआयामी

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, मार्च 2010, पृ. 47.

² ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, नवंबर 2013, पृ. 46.

दृष्टिकोण देखने का प्रयास किया गया। आंशिक पर्दा उन्मूलन, स्त्री शिक्षा का धार्मिक, नैतिक शिक्षा और गृह शिक्षा तक काफी हद तक सीमित होना। नैतिकता, श्लील, अश्लील, शादियों में गाए जानेवाली गालियां का भी उल्लेख किया है। हिन्दू सुधारवादी के दायरे में पुनर्विवाह जिससे हिन्दू विधवाएँ मुस्लिम घरों में ना जाए ऐसे तमाम तरह के आंशिक सुधारों का उल्लेख इस लेख में हुआ। इस लेख के माध्यम से चारु गुप्ता ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि औपनिवेशिक उत्तर भारत में नवजागरण ने पतिव्रता और आदर्श महिला की नई-नई भूमिकाएँ और छवि स्थापित की। सुधारों की राह बेहद तंग थी। भारतीय नवजागरण को महिलाओं की दृष्टि से नफा या केवल नुकसान की तरह परखना सरलीकरण होगा। देखना यह आवश्यक है कि उन्होंने कहाँ खोया और कहाँ पाया।

सती प्रथा जो भारतीय हिन्दू स्त्रियों को जबरन जलती चिता में स्वाहा कर देती है। ‘हिन्दू स्त्री’ की मनोसंरचना हमेशा से ही सदा सुहागिन रहने की तथा पति से पहले ही मृत्यु प्राप्ति की रहती है। किंचित इस तथ्य के पीछे सती होने का भय तथा जिंदा जलने की असहनीय पीड़ा ही है जो उन्हें सदा सुहागिन बने रहने और खुद को उस पीड़ा से दूर रखने की सोच काम करती है। ‘हंस’ में इस कुप्रथा के पीछे स्थापित तथ्यों की तफ्तीश समय समय पर होती रही है साथ ही साथ ‘हंस’ ने स्त्रियों को इनसे मुक्त कराने के लिए इन अंधविश्वासों और रूढ़ियों को समाप्त करने की कोशिश की और स्त्री मुक्ति में अहम भूमिका निभाई। फरवरी 2008 में अनुराधा का ‘सती प्रथा, भक्तिकाव्य और हिन्दी मानसिकता’ लेख, मार्च 2008 में कांतिकुमार जैन का ‘सती विषयक हिंदू मानसिकता का शव परीक्षण : कुछ और पहलू’, अगस्त 2008 में ही बजरंग बिहारी तिवारी ने ‘सती प्रथा और बाणभट्ट’ नवम्बर 2011 में वैभव सिंह के ‘सती, हिन्दू परंपरा और साहित्य’ लेखों में सती प्रथा के ऐतिहासिक यथार्थ को समकक्ष रख विशद विचार विमर्श किया गया है। सती प्रथा की हकीकत को क्षमा शर्मा ने अपने ‘लड़के-लड़कियों के लुढ़कते सिर पड़े हैं कुर्सियों के नीचे’ लेख में रूपकुंवर केस से स्पष्ट की है।

जनवरी 2007 के अंक में पत्रकारिता से संबंधित अनेक महिला पत्रकारों ने अपने लेखों के माध्यम से अनेक अनुभवों को साझा किया है। एंकर बनने तक का संघर्ष और बॉस से महिला होने के कारण अतिरिक्त स्नेह मिलने की चर्चा को अधिकांश स्त्रियाँ सहती हैं। स्त्रियों को ट्रेडिंग फैशन, मेहंदी जैसे सॉफ्ट मुद्दों पर लिखने पर मजबूर भी किया जाता है। स्त्रियों को स्वयं को उपभोक्तावादी इस्तेमाल होने से बचाने के लिए अनेक प्रयास करने पड़ते हैं। मीडिया जगत में भी यदि देखा जाए तो अधिकांश बॉस पद पर पुरुष सत्ता ही स्थापित है इसीलिए स्त्रियों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि बॉस के तुम्हारे प्रति सॉफ्ट कोर्नर है या स्त्रियाँ शॉर्टकट अपनाती हैं। जबकि स्त्रियाँ भी तरक्की के लिए संघर्ष और मेहनत करती हैं। अपने इन्हीं संघर्षों से प्राप्त अनुभवों को अनेक महिला पत्रकारों ने इस अंक में साझा किया है।

जून 2006 में अभय कुमार दुबे ने ‘स्त्री की बौद्धिकता पर एक खुफिया बहस’ लेख में स्पष्ट किया है कि स्त्री की रचनात्मकता को पुरुष समाज कैसे आँकता है? अंत में उसे केवल देह तक ही लाकर पटक दिया जाता है। “स्त्री साहित्यकारों की हर कृति कोई न कोई वरिष्ठ पुरुष साहित्यकार ही दुरुस्त करता है, या फिर उसका पुनर्लेखन करता है, या किसी न किसी प्रकार उसे प्रस्तुति योग्य बनाता है और कोई स्त्री उस समय तक किसी पत्र-पत्रिका में स्तम्भ नहीं लिख सकती जब तक कल्पना की उड़ानें किसी न किसी प्रकार उसका संबंध संपादक के साथ न जोड़ दें। इसके साथ ही यह अनकही धारणा अपने आप जुड़ जाती है कि बदले में उस पुरुष ने स्त्री रचनाकार का अगर दैहिक नहीं तो रागात्मक साहचर्य अवश्य प्राप्त किया होगा”¹

फरवरी 2007 के ‘पर-स्त्रीगमन बनाम पर-पुरुषगमन’ लेख में अभय कुमार दुबे ने स्त्री यौनेच्छा को समाज कैसे अनावश्यक मानता है और दमित करता है, इस प्रश्न को उठाया गया है। “स्त्री के पास स्वतंत्र कामेच्छा नहीं होती। वह तो काष्ठ के समान है जिसमें पुरुष की सेक्सुअलिटी जब तक

¹ हंस, सं. राजेन्द्र यादव, जून 2006, पृ. 82.

स्फुलिंग पैदा न करे, तब तक वह कुछ नहीं कर सकता।”¹ जबकि यह तथ्य बिल्कुल बेबुनियाद है। अगस्त 2007 में भी अभय कुमार दुबे ने ‘देह का नक्सलवाद और प्रेम के सवाल’ लेख में स्त्री मुक्ति से संबंधी देह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न को सत्य घटनाओं के माध्यम से उठाया है। मणिपुर में सशस्त्र बलों द्वारा किए गए बलात्कार का विरोध वृद्ध स्त्रियों ने अपने कपड़े उतार कर किया जिससे पूरे राष्ट्र की आत्मा हिल उठी थी। गुजरात में पूजा चौहान घरेलू हिंसा का विरोध करते हुए ब्रा फेंटी में ही सड़क पर निकाल कर पुलिस कमिश्नर के दफ्तर तक गयीं। महाश्वेता देवी की कहानी ‘द्रौपदी’ में भी एक स्त्री भारत के मानचित्र पर निर्वस्त्र लेटकर अपनी अस्मिता के लिए विरोध करती नज़र आती है।

क्षमा शर्मा मार्च 2007 के अपने लेख ‘बाज़ार ही सुधार सकता है औरतों की आर्थिक स्थिति’ में स्त्री की सामाजिक स्थिति में सुधार हेतु उसकी आर्थिक स्थिति में बदलाव की दरकार को आवश्यक मानती हैं जिसके लिए स्त्रियों का शिक्षित होना पहली शर्त मानी जाती है। स्त्रियों के घरेलू काम को जो प्रत्येक स्त्री के जीवन का बड़ा हिस्सा होता है, को उसके कर्तव्यों में शामिल कर दिया जाता है। इसे ‘केयर इकानामी’ की संज्ञा दी जाती है। स्त्रियों के घरेलू कामों में थोड़ी भी लापरवाही हो या पुरुष का किसी भी कारणवश मूड खराब हो तो स्त्रियों को घरेलू हिंसा को भी झेलना पड़ता है। स्त्रियों के श्रम का अवमूल्यन कर पुरुष उन्हें सबल नहीं बनने देते। अक्सर स्त्रियों के हित के लिए बने कानून का उन्हें ज्ञान ही नहीं होता। अपने कल्याण के लिए बनी योजनाओं से वे बिल्कुल बेखबर रहती हैं। आर्थिक सुधार के लिए स्त्रियों के समय को बचाना जरूरी है जिससे बचे समय में स्त्रियाँ धनोपार्जन कर सकें। स्त्रियों के श्रम के लिए बाज़ार और खरीददार का होना जरूरी है जिससे स्त्रियों की आय हो सके और स्त्रियों के आर्थिक सुधार से उसकी स्थिति में बदलाव आए। दिसम्बर 2006 में अभय कुमार दुबे ने ‘बदलता परिवार और घरेलू हिंसा’ लेख में घरेलू हिंसा, तलाक जैसे मुद्दों के माध्यम से स्त्री सशक्तिकरण के मुद्दों को तरजीह दी है।

¹ ‘हंस’ सं. राजेन्द्र यादव, फरवरी 2007, पृ. 61.

‘हंस’ नवंबर 2005 में हेमलता महिश्वर ने ‘स्त्री: बेरोजगारी की वजह’ लेख में मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल के पाठ्यक्रम में संकलित डॉ आनंद पयासी. के निबंध ‘गरीबी तथा बेरोजगारी’ की चर्चा की है। इस निबंध में भारत की बेरोजगारी के कारणों में एक प्रमुख कारण स्त्रियों का नौकरीपेशा होना बताया गया है। इस लेख में स्त्री मुक्ति के अनेक प्रश्न इर्द-गिर्द घूमते नजर आते हैं जिनका जिक्र हेमलता महिश्वर ने किया है। जैसे क्या डॉ पयासी भारत की संवैधानिक अवधारणा से अनभिज्ञ हैं? क्या वे स्त्री की मानवीय स्थिति को नकारते हैं? स्त्री शिक्षा विरोधी हैं? स्त्रियों को भारतीय नागरिकता का दर्जा नहीं है? क्या शिक्षित स्त्रियों को विवाह कर केवल बच्चों के लालन-पालन का ही दायित्व है? क्या ऐसी तुच्छ मानसिकता भरे विचारों से आधी आबादी के प्रति नफ़रत का माहौल नहीं बन जाएगा? समाज से श्रेष्ठताबोध की जगह समानता की स्थापना करने के लिए ऐसे लेखों का समय समय पर विरोध किया जाना आवश्यक है।

‘हंस’ ने स्त्री मुक्ति केन्द्रित लेखों के साथ-साथ कुछ नियमित स्तंभों को भी अंकों में शामिल किया। जिनमें एक स्तम्भ ‘परख’ है। प्रत्येक अंक में इस स्तम्भ के अंतर्गत कुछ पुस्तकों की समीक्षाएं होती हैं। इन पुस्तकों में स्त्री मुक्ति केन्द्रित विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा दी जाती हैं। इन समीक्षाओं के माध्यम से पाठक वर्ग स्त्री मुक्ति की विभिन्न पुस्तकों की जानकारी प्राप्त कर जिज्ञासु होकर, मूल पुस्तक को पढ़ सकता है। इससे स्त्री विमर्शी साहित्य को मजबूती भी मिलती है और लेखक तथा पाठक दोनों ही उत्साहित होते हैं। शीबा असलम फहमी स्तम्भ ‘परदा इधर : परदा उधर’ फरवरी 2009 से शुरू हुआ और जुलाई 2010 तक वे नियमित रूप से इसी स्तम्भ में लिखती रहीं इसके बाद अगस्त 2010 से उनके स्तम्भ का नाम बदलकर ‘मुख्यधारा के अहंकार’ हो गया जिसमें शीबा ने मार्च 2012 तक लिखा। अपने इन स्तम्भों के लेखों में शीबा ने मुस्लिम महिलाओं की त्रासद स्थिति को रेखांकित किया है। शीबा ने मुस्लिम स्त्रियों को शिक्षा, अधिकारों, इस्लाम में उनकी स्थिति के प्रति विद्रोह के लिए हर लेख में प्रेरित किया है। ‘शब्दवेधी/ शब्दभेदी स्तम्भ’ में तसलीमा नसरीन ने नियमित रूप से जून 2011 से लिखना शुरू किया। तसलीमा ने स्त्री

अशिक्षा, वेश्यवृत्ति, गुलामी, यौन व्यापार, बलात्कार, यौन उत्पीड़न, घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न, कन्या भ्रूण हत्या, पितृसत्ता का विरोध, स्त्री विरोधी परम्पराओं के खिलाफ आदि स्त्री मुक्ति के सभी महत्वपूर्ण मुद्दों को अपने लेख में शामिल कर सभी स्त्रियों को मुक्ति के लिए अग्रसर कर नया मार्ग दिखाया है।

‘हंस’ ने समाज से वास्तविक घटनाओं को आधार बनाकर तथा स्त्री मुक्ति के लिए आवश्यक मुद्दों को लेखों में वैचारिक बहस और चर्चा का विषय बनाया। ये लेख स्त्री मुक्ति में एक अहम भूमिका निभाते हैं।

षष्ठम अध्याय

स्त्री मुक्ति के संदर्भ में 'हंस' का महत्व और योगदान

षष्ठम अध्याय :- स्त्री मुक्ति के संदर्भ में 'हंस' का महत्व और योगदान

राजेन्द्र यादव सरीखा जनतांत्रिक व्यक्ति हिन्दी संसार में विरले है। 'हंस' में हमें उनकी इस जनतांत्रिक सहजता, स्वाभाविकता और आत्मीयता के साक्षात्कार होते हैं। उनकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म और उदार रही है कि पीढ़ियों का अंतराल और वैचारिक असहमतियों के बावजूद 'हंस' हमेशा इन दूरियों को तिरोहित करता रहा। राजेन्द्र यादव के 'हंस' की प्रगतिशीलता की पहचान, सार्थकता और ताकत उसकी निर्द्वंद्व समकालीनता में है। आज स्त्री-विमर्श ने एक नया मुकाम हासिल किया है। जहां पहले लेखिकाएँ स्त्रीवादी होने के तगमे से कतराती रहीं। वहीं आज स्त्रीवादी होना प्रगतिशीलता का पर्याय बन चुका है। न केवल स्त्रियाँ बल्कि पुरुष भी स्त्रीवादी होकर अपनी वैचारिक समझ को पुष्पित करते हैं। स्त्री-विमर्श को अंग्रेजी की चौहद्दी से निकालकर हिन्दी पट्टी में लाने तथा स्त्री चेतना को प्रसारित करने में पत्रिकाओं की अहम भूमिका रही है, जिनमें 'हंस' का स्थान सर्वोपरि है।

स्त्री-विमर्श को एक आंदोलन के रूप में तथा साहित्य की मुख्यधारा में प्रबलता से स्थापित करने में 'हंस' और राजेन्द्र यादव का ऐतिहासिक योगदान रहा है। 'हंस' का दौर ऐसा दौर था जब स्त्रियों की रचनाओं को अपरिपक्व साहित्य या कलात्मक अभाव का साहित्य बोल कर संपादक लेखिकाओं की कृतियों को वापिस लौटा देते थे। ऐसे समय में 'हंस' ने सभी उपेक्षाओं और विरोधों को सहते हुए लेखिकाओं को लिखने के लिए प्रेरित किया और उनकी रचनाओं को एक स्वतंत्र मंच प्रदान कर उनकी रचनाओं को निरंतर छपा। 'हंस' ने अपने शुरुआती समय से ही समाजशास्त्रीय, वैचारिक सामग्री को बढ़ावा दिया। 'हंस' ने छद्म शालीनता और भाषाई बन्दिशों से 'हंस' को मुक्त रखने के अभियान की शुरुआत की। मुख्यतौर पर दमित, स्त्री-विमर्श को मुख्यधारा में लाने का श्रेय 'हंस' को ही जाता है। 'हंस' से पहले इन मुद्दों को मुख्यधारा में शामिल ही नहीं किया जाता था। नारी मुद्दों को केंद्र में लाने के कारण बहुत से लोग उनसे खफा हुए किन्तु स्त्री मुक्ति के योगदान में उनकी भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनकी इस पहल और प्रोत्साहन से ही

कई प्रतिभावान साहित्यकार लेखन के लिए प्रेरित हुई। “जिस तरह तमाम आरोपों के बावजूद राजेन्द्र यादव द्वारा अनेक लेखिकाओं को प्रश्रय देकर स्त्री-विमर्श को प्रोत्साहित किया गया, उनकी लीक से हटी वर्जित विषयों पर केन्द्रित रचनाओं को प्रकाशित किया, उन पर बहस कराई, वह एक प्रगतिशील, परिवर्तनकारी और दूरदर्शी संपादक द्वारा ही संभव था।”¹ अगर संसद और विधानमंडलों में महिलाओं के आरक्षण का मुद्दा उठाया जाता है तो महिला के पक्ष को साबित करने में तथा इस आरक्षण की अहमियत समझने में राजेन्द्र यादव जी के लेख और संपादकीय सहायक होते हैं। स्त्री की मुक्ति के प्रश्न पर राजेन्द्र यादव के विचारों से हिन्दी में काफी वैचारिक रक्तपात हुआ। स्त्री मुक्ति को लेकर उनके विचार पर्याप्त उत्तेजक और भड़काऊ भी रहे।

स्त्री अस्मिता के लिए राजेन्द्र यादव हमेशा चिंतित रहे और उनकी इस बैचेनी को उनके संपादकीय में देखा जा सकता है। उन्होंने स्त्री की स्थिति को गंभीरता से लिया और स्त्रियों को प्रेरित किया कि वे अपनी नियति को समझें और उसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए आगे आएं। एक लंबे अरसे से स्त्री रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक जनतांत्रिक मंच की तलाश में थीं और ‘हंस’ ने उन्हें वो साहित्यिक मंच प्रदान किया जिसके माध्यम से स्त्रियों ने अपनी त्रासद स्थिति और संघर्षी जीवन को निर्भीकता से अभिव्यक्त किया। नारी मुक्ति को राजेन्द्र यादव ने उनकी देह की मुक्ति से जोड़ा। उनका मानना था कि स्त्री की देह पुरुष की अपेक्षा अधिक कैद में रहती है। स्त्रियाँ यदि अपने शरीर को भूलकर उससे उठना चाहे तो इसकी इजाजत उसे न प्रकृति देगी और न ही समाज। पुरुष समाज स्त्री को केवल योनि समझने का अभ्यस्थ है। राजेन्द्र यादव जनवरी 1991 के संपादकीय में लिखते हैं कि “नस्ल में माँ का तो कुछ होता ही नहीं, जो भी खून बच्चे में होता है वह सिर्फ बाप का होता है। मानो माँ एक जड़ डिब्बा है जहाँ बाप का वीर्य पलता है।”² स्त्रियों के मूल्यांकन का केंद्र उनके गुण न होकर उनका शरीर ही है। स्त्रियों को ऐसी दृश्यवस्तु समझा जाता है जिसकी सार्थकता पुरुष की नज़र में सुंदर दिखना हो और पुरुष उनका उपयोग भी कर सके।

¹ ‘हंस’, राजेन्द्र यादव, अगस्त 2011, पृ. 106.

² ‘हंस’, राजेन्द्र यादव, मेरी तेरी उसकी बात, हम सबके माथे पर दाग, जनवरी 1991.

नवम्बर 2009 के अंक में राजेन्द्र यादव ने यही लिखा कि “सबसे पहले तो स्त्री को देह के स्तर पर ही मुक्त होना पड़ेगा क्योंकि नैतिकता, संस्कृति, धर्म और देहशुचिता के सारे बंधन स्त्री देह को लेकर ही हैं। यहाँ उस खतरे का भी पूरा अंदाज़ा था कि इस मुक्त देह को बाज़ार लपक लेगा और भरपूर इस्तेमाल के बाद कचरे में फेंक देगा।”¹ मनोरंजन जगत में स्त्री का जिस तरह शोषण होता है उसे राजेन्द्र यादव स्पष्ट करते हैं। जिन सवालियों से कई संपादक दो-दो हाथ करने से कतराते रहें। वहीं राजेन्द्र यादव उनसे मुठभेड़ करते और अपने तर्कों से आलोचकों को निरंतर निरुत्तर करते रहें। राजेन्द्र यादव का ही अभूतपूर्व, क्रांतिकारी और ऐतिहासिक योगदान है कि लेखिकाएँ ‘कितनी बिस्तरों में कितनी बार’ के अनुभवों को अपनी-अपनी आत्मकथाओं में कहने का साहस जुटा पायीं। स्त्री देह मुक्ति पर विचार करते हुए यादव जी कहते हैं कि “संस्कृत में स्त्री को ‘अंगिनी’ कहा गया है..... यानी वह सिर्फ देह में स्थित है। उसकी पहचान भी उसके अंगों के नाम से ही की जाती है- सुभगे, सुमुखि, सुनयना आदि.... उसे परिवार या पुरुष बचपन से ‘देह-चेतन’ बनाते रहते हैं- यह प्रशिक्षण या कंडीशनिंग इतने बारीक और अचूक होते हैं कि वह स्वयं भी अपना सम्पूर्ण अस्तित्व देह के संदर्भों से ही परिभाषित करती है उसकी एकमात्र योग्यता उसकी देह है; उसी को लेकर भाषा के सारे सौंदर्य-मूलक शब्द हैं तो उसी के लिए वीभत्सतम गालियां भी।”² स्त्रियों का अपने शरीर पर उतना अधिकार नहीं होता जितना पुरुष का विभिन्न भूमिकाओं में स्त्री पर रहता है। राजेन्द्र यादव की स्त्री विषयक दृष्टि भी इसी विसंगति को केन्द्रित करती है और उनका मानना है कि मनुष्य होने के कारण स्त्री को अपने शरीर पर सबसे पहला अधिकार होना चाहिए तथा पुरुष समाज को स्त्री के इस अधिकार का सम्मान करना चाहिए।

‘हंस ने एक के बाद एक विशद सामग्री वाले स्त्री विशेषांक निकाल कर स्त्री-विमर्श पर लंबी बहसें चलाई। इन्हीं प्रयासों का ही फ़लीतार्थ रहा कि स्त्री-विमर्श साहित्यिक बहस के केंद्र में अपना एक मजबूत पक्ष स्थापित करने में सफल रहा। औरत उत्तरकथा अंक-1, नवम्बर-दिसंबर 1994,

¹ ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, नवंबर 2009, पृ. 6.

² ‘हंस’, सं. राजेन्द्र यादव, जनवरी 2005 पृ. 5.

औरत उत्तरकथा अंक-2, जनवरी 1995, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक-1, जनवरी-फरवरी 2000, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य अंक-2, मार्च 2000, स्त्री भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप, मार्च 2001, स्त्री विमर्श: अगला दौर (स्मृति प्रभा खेतान) नवम्बर 2009। ये विशेषांक स्त्री मुक्ति संघर्ष को बुलंद करते हैं और साथ ही ‘हंस’ की लोकप्रियता में अभिवृद्धि भी करते हैं। इन विशेषांकों में स्त्री मुक्ति केन्द्रित लगभग सभी मुद्दों को ज़ोर देकर उठाया गया। जिनमें मुख्य हैं ऐसी भारतीय संस्कृति पर कटाक्ष, जो स्त्रियों को हीन और शोषित करें, धार्मिक ग्रन्थों को प्रश्नांकित किया, जिसमें स्त्री को मनुष्य न मानकर उसको देवीरूप में महिमामंडित किया जाता है। अग्निपरीक्षा, सती और डायन प्रथा, बाल विवाह, पितृसत्ता द्वारा नियंत्रित स्त्री का चित्रण, बलात्कार, घरेलू यौन शोषण, स्त्री की आज़ादी की पक्षधरता, जो उसे किसी भी वर्ग, किसी भी विचारधारा के लोगों से नहीं मिली। जो लोग इंकलाबी हैं वे भी बाहर आज़ादी की बात करते हैं और अपनी पत्नी को कैद में रखकर केवल देह समझते हैं।

स्त्री को केवल देह साबित करने का विरोध, सिनेमाई जगत में स्त्री शोषण, घरेलू हिंसा और बच्चों पर उसका दुष्प्रभाव, स्त्री को स्त्रीत्व के लिए बचपन से अभ्यस्थ किया जाना, मुस्लिम समाज से जुड़ी समस्त स्त्री समस्याएँ, मार्क्सवादी कॉमरेडों द्वारा भी स्त्री स्वतन्त्रता और समान हिस्सेदारी की अवहेलना पर कटाक्ष, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, स्त्री का विवाहोपरांत अकेलापन, स्त्री को केवल प्रजनन की वस्तु मानना, वेश्यावृत्ति, दहेज के लिए प्रताड़ित स्त्री, स्त्री का केवल गृहस्थ स्वरूप स्वीकारने का विरोध, गृहस्थ जीवन के श्रम की अवमानना, गृहस्थी के लिए अपनी इच्छाओं तथा स्वप्नों को कुर्बान करती स्त्री, स्त्री की अपने अस्तित्व और अस्मिता की पहचान की प्रति सजगता, भूमंडलीकरण और स्त्री, अश्लीलता और नारी मुक्ति प्रश्न, स्त्रियों का अपने शरीर पर अधिकार, सहानुभूति और स्वानुभूति के प्रश्न, स्त्री की आर्थिक सुदृढ़ता, कन्या भ्रूण हत्या का विरोध, स्त्री सौंदर्य के मिथकों का विरोध, संसद में महिला आरक्षण जिससे स्त्रियों में राजनैतिक चेतना का प्रसार हो, कार्यस्थल पर लैंगिक भेदभाव और यौन शोषण आदि स्त्री मुक्ति के ऐसे

महत्वपूर्ण मुद्दों हैं जिन्हें 'हंस' ने अपने स्त्री विशेषांकों और लगभग सभी सामान्य अंकों में भी उठाया और स्त्री मुक्ति संघर्ष को सशक्त किया। कुछ यथास्थितिवादी आलोचक 'हंस' की इस स्त्री मुक्तिकामी चेतना पर कटाक्ष करते हैं कि 'हंस' को स्त्री विशेषांक की क्या आवश्यकता 'हंस' का प्रत्येक अंक ही स्त्रियों के लिए होता है किन्तु राजेन्द्र यादव ने ऐसी आलोचना को कभी तूल नहीं दी और अपनी इस मुहिम में हमेशा आगे बढ़ते चले। स्त्री मुक्ति केन्द्रित यह बहुमूल्य सामग्री हिन्दी साहित्य को 'हंस' की देन है। इससे हिन्दी साहित्य भंडार और स्त्री विमर्शी लेखन में बहुत अधिक वृद्धि हुई।

'हंस' से आत्मस्वीकृतियों के दौर की शुरुआत हुई। 'हंस' की इस आत्मस्वीकृतियों की शृंखला में अनेक लेखिकाओं ने साहस करके अपनी आत्मस्वीकृति प्रकाशित करवाई। तथाकथित यथास्थितिवादियों और शुद्धतावादियों को इसमें अश्लीलता दिखी और लेखिकाओं को इतना साहसपूर्ण लिखने पर आलोचना का भी सामना करना पड़ा। आत्मस्वीकृतियों का वह सिलसिला लेखिकाओं की 'बोल्डनेस' तथा लेखकों के विचलन तक सीमित था। इसीलिए यह अधिक लंबे समय तक नहीं चल सका पर लेखिकाओं को अपनी स्थिति के प्रति लिखने का साहस 'हंस' से प्राप्त हो चुका था। स्त्री मुक्ति के लिए यह 'हंस' की अहम उपलब्धि रही है।

राजेन्द्र यादव का मानना है कि दलितों और स्त्रियों की एक साझी लड़ाई होनी चाहिए। इसके लिए उन्होंने अनेक लेख भी लिखे। वे दोनों की पीड़ा को एक जैसा बताते हैं। एक संपादकीय में वे स्पष्ट लिखते हैं कि 'साहित्य में स्त्रियों और दलितों का साथ आना एक साझी क्रांति का प्रारंभ है, क्योंकि दोनों ही सही अर्थों में सर्वहारा हैं, इनकी वास्तविक मुक्ति भी सर्वहारा क्रांति के दर्शन से उदित होगी।' राजेन्द्र यादव ने धर्म और जाति दोनों को स्त्री उत्पीड़न के लिए जिम्मेदार समझा और दलित स्त्री की अस्मिता को भी चिंतन के वृहद आकार में शामिल किया। गैर दलित स्त्री और दलित स्त्री की स्थिति पर एक लंबी बहस को राजेन्द्र यादव जी ने 'हंस' में उठाया जिसमें राजेन्द्र यादव, मृदुला गर्ग, नीलम कुलश्रेष्ठ, कमल कुमार, बी.एल.नय्यर, प्रभा खेतान, परमानंद

‘अग्निपंथी’, जानकी प्रसाद शर्मा, मोहनदास नैमिशराय, मीनाक्षी सखी, मैत्रेयी पुष्पा, मनीषा ने आपसी मौखिक लड़ाई लड़ी और अपने अपने पक्षों को वाद-प्रतिवाद के माध्यम से सामने रखा। ‘हंस’ और राजेन्द्र यादव जी की यही खूबी उन्हें विरले संपादकों की कतार में खड़ा करती है कि वे असहमतियों का भी खुलकर स्वागत करते रहें। एक अद्भुत लोकतान्त्रिक साहस राजेन्द्र जी में देखते बनता है।

राजेन्द्र यादव के अधिकांश संपादकीय स्त्री मुक्ति की चेतना को जागृत करते दस्तावेज़ की तरह हैं। उनमें स्त्री मुक्ति संबंधी उन तमाम संवेदनशील मुद्दों पर चर्चा की गयी जिन्हें आज भी लोग चर्चा का विषय बनाने में संकोच करते हैं। राजेन्द्र यादव ने स्त्रियों को उनका इतिहास जानने और इतिहास में अपनी स्थिति की पड़ताल करने के लिए सचेत किया। उनका मानना था कि स्त्रियों और दलितों का अपना कोई इतिहास नहीं होता। इतिहास की वास्तविकता कभी भी एक नहीं होती, क्योंकि शोषक और शासक के इतिहास की पड़ताल करें तो उसमें हमें एक गहरा अंतर देखने को मिलता है। राजेन्द्र यादव के स्त्री मुक्ति अभियान का यह मूल ध्येय था कि सबसे पहले स्त्रियों को यह अहसास करवाया जाए कि आखिर उनकी इस स्थिति के लिए कौन सी मानसिकता काम करती है और उन्हें किस से मुक्ति चाहिए। राजेन्द्र यादव ने स्त्री पराधीनता को वैचारिक बहस का मुद्दा बनाया। अपने संपादकियों में राजेन्द्र यादव ने स्त्री मुक्ति के जिन-जिन मुद्दों को उठाया वे सभी मुद्दे आज तक ज्वलंत बने हुए हैं।

स्त्री की देह मुक्ति, स्त्री के शरीर दो रूप से देखे जाने पर तंज जिसमें कमर से ऊपरी हिस्से को ममतामयी, करुणा, शील, आध्यात्मिक माना गया और नीचे के हिस्सा को काम-कन्दरा, कुत्सित, अश्लील, ध्वंसकारी तथा नरक के समान माना जाता है। पुरुष हर मुमकिन कोशिश करता है कि स्त्री की स्वतन्त्रता को अपने नियंत्रण में रखें। राजेन्द्र यादव ने ‘हंस’ के माध्यम से न केवल स्त्री को सेक्स और शरीर समझने की सोच पर लगातार वैचारिक प्रहार किया बल्कि साथ ही उनके शरीर से पृथक उनके व्यक्तित्व, कुशलता और क्षमताओं को सबसे अधिक महत्व दिया। उनके कुछ विचार

इतने विवादास्पद थे कि उन पर आलोचनाओं के बादल आज भी छाए रहते हैं उनमें से सबसे विवादित बयान यह माना जाता है कि यदि स्त्रियों को स्वतन्त्रता चाहिए तो उनके पास वेश्या होने के अलावा कोई और रास्ता नहीं है क्योंकि समाज में केवल वही ऐसी स्त्री है जो बिना किसी के संरक्षण के जीती है। बाकी स्त्रियाँ कभी बाप, तो कभी भाई फिर पति और बेटे के हाथों की कठपुतली बनी रहती हैं, जो स्त्री की लगाम को जितना और जैसे चाहे कसता चला जाता है। परिवार संस्था, मिस इंडिया, मिस यूनिवर्स प्रतियोगिता चुने जाना जहां स्त्री को केवल देह माना जाता है और उसकी बौद्धिकता पर हमेशा संदेह किया जाता है परंतु इस पूर्वगृहित मानसिकता और मिथक को हाल ही 4 अगस्त 2020 के एक मामले ने तोड़ा है। जिसमें ऐश्वर्या श्योरण नाम की मॉडल ने यूपीएससी परीक्षा 93वीं रैंक के साथ उत्तीर्ण की और अनेक सौंदर्य मिथकों को तोड़ा। एम.टी.वी चैनल पर हाल ही में 22 अगस्त 2021 को सुपर मॉडल ऑफ द इयर प्रतियोगिता की शुरुआत हुई है। जिसमें अरुणाचल प्रदेश की रोशनी दादा और सिक्किम की एकषा हंगमा सुब्बा नाम की दो प्रतिभागी एक आदर्श हैं। ये दोनों प्रतिभागी भी समाज की पूर्वग्रसित संकीर्ण मानसिकता पर कटाक्ष करती हैं जो बौद्धिकता और सुंदरता को पृथक मानते हैं। रोशनी दादा एक नर्स हैं वहीं एकषा हंगमा सुब्बा एक बॉक्सर, पुलिस ऑफिसर, बाइकर है। इस प्रतियोगिता में आने का इन प्रतिभागियों का यही उद्देश्य है कि वे अपने सपनों को जीना चाहती हैं। ‘हंस’ में भी इन्हीं सौंदर्य मिथकों को तोड़ने और स्त्रियों को अपने सपने, अपनी इच्छाओं को जीने के लिए राजेन्द्र यादव और अनेक लेखक अपने लेखों के माध्यम से हमेशा प्रेरित करते रहें।

स्त्री मुक्त हो, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में दक्ष हों फिर भी उससे यही अपेक्षा की जाती है कि वह नैतिकता के क्षेत्र में वह अभी हजारों साल पहली वाली शील की देवी ही बनकर रहे। इसी अंतर्विरोध से ‘हंस’ ने समाज को रूबरू करवाया। विज्ञापन में बनी स्त्री छवि को राजेन्द्र यादव उनकी मुक्ति में बाधक मानते रहे। बलात्कार, वेश्यावृत्ति जैसे अपराधों द्वारा स्त्री जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों से राजेन्द्र यादव स्त्री समुदाय को मुक्त करना चाहते हैं क्योंकि

इससे केवल स्त्री को ही मानसिक, शारीरिक पीड़ा होती है। समाज की उपेक्षा की पात्र केवल स्त्रियाँ बनती हैं। इस सोच को बदलकर राजेन्द्र यादव इस अपराध का जिम्मेदार उस पुरुष को मानते हैं जो इस अपराध को करता है। बलात्कार विषय पर केन्द्रित 'हंस' में अनेक लेख और कहानियाँ प्रकाशित हुईं जो उस स्त्री की पीड़ा का दर्दनाक दस्तावेज़ माना जा सकता है। औरत को अपने जीवन में किसी भी विषय पर निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। 'हंस' के लेख उन्हें अपने अधिकार, अपने चुनाव के प्रति संवेदी बनाते हैं ताकि उनके लिए स्त्रियाँ सतर्क हो सकें और हर संघर्ष करने के लिए तैयार रहें। स्त्रियों के अधिकारों के लिए बने बिल और क़ानूनों पर 'हंस' में लगातार लेखन होता रहा। स्त्री अधिकारों के लिए कौन सा दल विरोध में है, कौन सा पक्ष में इस पर भी 'हंस' में चर्चा होती रही।

राजेन्द्र यादव ने समाज से ही ऐसे मुद्दे उठाए जिन विषयों पर सम्यक बहस होनी आवश्यक थी। दिवराला की सती रूपकुंवर मामला, नैना साहनी तंदूर कांड, पटना के बाबी, भागलपुर के पापिया बोस हत्याकांड और लातूर के सेक्स-स्केण्डल, समाजनेत्री सुषमा सिंह हत्या कांड, भंवरी बाई बलात्कार मामला, निर्भया कांड जैसे संगीन और संवेदनशील मुद्दों पर लिखना बेहद साहसी काम था, क्योंकि कोई मुद्दा किसी समाज विशेष की संस्कृति और गौरव का विषय था तो कहीं राजनैतिक ताकतों का दबदबा परंतु राजेन्द्र जी ने कभी किसी आलोचना और इस बेबाकी के दुष्परिणामों की परवाह नहीं की और स्त्री मुक्ति के लिए प्रयासरत रहें। रूपकुंवर के सती होने पर उसे महिमामंडित और नैना साहनी हत्या कांड पर संवेदना व्यक्त करने वाले जनसत्ता के संपादक प्रभास जोशी पर कटाक्ष करते हुए राजेन्द्र जी उनसे गंभीर प्रश्न करते हैं कि रूपकुंवर और नैना साहनी दोनों के प्रति उनकी संवेदना में भिन्नता क्यों है? राजेन्द्र यादव ने उन स्त्रियों के माध्यम से जिसने बलात्कार की विभीषिका को महसूस किया और जिसने इस प्रताड़णा को झेला है, उनके माध्यम से इस महत्वपूर्ण मुद्दे को वाद-विवाद विषय बनाया।

फूलन देवी दलित और स्त्री थी इसलिए शोषित और प्रताड़ित हुई। फूलन देवी पर आधारित शेखर कपूर की फिल्म 'बैंडिट क्वीन' पर 'हंस' में लंबी चर्चा हुई। जिसमें अनेक लेखकों ने शिरकत की। विष्णु खरे ने 'बैंडिट क्वीन' से कौन डरता है', सुधा अरोड़ा ने 'बैंडिट क्वीन : चौराहे पर रखी एक कलाकृति', मैत्रेयी पुष्पा ने 'राजनीति पर सवार डाकू', कृष्ण कुमार ने 'बैंडिट क्वीन : न देखी, न देखूंगा', मणिमाला ने 'अश्लीलता नहीं, डर', म. ना. नरहरि ने 'यानी औरत , औरत नहीं, केवल 'जीन्स' है' और सूर्यदेव उपाध्याय ने 'मूल बात को अछूता छोड़ दिया' में इस फिल्म और फूलन देवी के जीवन को केन्द्रित किया गया। फूलन देवी पर सत्ताईस दिन तक वीभत्स बलात्कार हुआ, पूरे गाँव भर में उसे निर्वस्त्र कर घुमाया गया। फूलन को खूंखार आदिम पशु-स्थिति तक पहुंचा दिया जाता है और फूलन उन लोगों को चुन चुनकर मार डालती है। जब फूलन को भरे गाँव में नंगा करके घुमाया जा रहा था तो तब वहाँ खड़ी औरतें तमाशबीन क्यों बनी हुई थीं, क्या फूलन की ऐसी दयनीय स्थिति को देखकर उनकी संवेदना उद्वेलित नहीं हुई? क्या स्त्रियाँ नहीं जानती कि सामंती पुरुष अहंकार वाले लोग बलात्कार के लिए किसी भी जाति की स्त्री को नहीं बख्शते। औरत चाहे किसी भी वर्ण, वर्ग जाति की हो जिस दिन पुरुष के हथ्थे चढ़ गयी उसी दिन उसे उसकी औकात बता दी जाती है। माया त्यागी के साथ पुलिसकर्मियों द्वारा दुष्कर्म, नैना साहनी तंदूर कांड, पॉश क्लब में शराब ना परोसने पर जैसिका लाल को गोली नहीं मारी गयी थी? क्या फूलन की बीहड़ों से संसद की यात्रा स्त्री-विमर्श की चेतना को व्यक्त नहीं करती? फूलन का जीवन स्त्री-पुरुष दोनों का प्रतीक रहा। वह पुरुष से प्रतिशोध लेने की होड़ में स्वयं पुरुष का प्रतिबिंब होती गयी और जिन यातनाओं से खुद गुजर चुकी है अन्य औरतों को वही यातनाएँ देकर वही आनंद महसूस करती है जो एक शिकारी पुरुष को मिलता है। 'बैंडिट क्वीन' फिल्म भारतीय समाज, इतिहास और सामाजिक यथार्थ को सामने लाती है। फिल्म पर 'कामोत्तेजक' और अश्लीलता के आरोप भी लगाए जाते हैं, परंतु यह औरत की देह, और उसकी आत्मा का अपमान है तथा स्त्री को जिन्स समझे जाने वाली सोच का ही परिणाम है। सोचो उन लोगों का दिमाग कितना बीमार होगा

जिन्हें बलात्कार की पाशविक स्थिति को देखकर कामोत्तेजना महसूस हो। भारत जैसे रूढ़िग्रस्त यौनदमित, स्त्री-भीरु और नारी को दमित रखने वाले देश में इसके अलावा और कुछ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हम सब की मानसिकता कितनी विकृत हो चुकी है कि हम ‘खटिया’ और ‘चोली’ को स्वीकारते हैं लेकिन सामाजिक नंगे यथार्थ को हमारी नैतिकतावादी निगाह देख नहीं पाती और उस यथार्थ चित्रण को सीता की भांति अदालत में एक के बाद एक अग्निपरीक्षाएं देनी पड़ती है।

हमारे समाज की दक्रियानूस नैतिकतावादी दृष्टि आज भी स्त्री को केवल देवी और वेश्य रूप में ही स्वीकारती है। उसके मानवीय स्वरूप की छवि तो भारतीय संस्कृति में है ही नहीं। ठाकुरों के अत्याचार की जगह जो दृष्टि फूलन या अभिनेत्री की नग्नता पर टिकी हो। ऐसी दृष्टि वाले लोग समाज में विकृति ही उत्पन्न करते हैं। समाज केवल यह याद करता है कि किसके साथ बलात्कार हुआ है जबकि जरूरत है कि याद यह रखा जाए कि औरत को नंगा करने वाला कौन है? बेंडिट क्वीन फिल्म पर ‘हंस’ में चली बहस में पति के जबरन बनाए गए यौन संबंध को वैवाहिक बलात्कार की श्रेणी में रखा गया है। यह मुद्दा आज भी चर्चा का विषय बना हुआ है। 16 मार्च 2021 की एबीपी न्यूज़¹ के अनुसार देश भर में 100 से अधिक ऐसे देश हैं जहां वैवाहिक बलात्कार को अपराध की श्रेणी में रखा जाता है। भारत ऐसे 36 देशों में शामिल हैं, जहां इसे अपराध नहीं माना जाता। आजकल इस मुद्दे ने तूल इसलिए भी पकड़ी हुई है कि एनसीपी सांसद वंदना चव्हाण ने राज्यसभा में वैवाहिक बलात्कार को अपराध मानने की मांग की है। कोरोना महामारी के दौरान इन मामलों में वृद्धि हुई है। विवाह के बाद औरत सिर्फ पुरुष की संपत्ति समझी जाती है। एक ऐसी यौन सामग्री जिसका मुख्य ध्येय केवल पुरुष की यौन इच्छाओं को संतुष्ट करना माना जाता है। जिसके लिए औरत की सहमति और असहमति के कोई मायने नहीं समझे जाते। 24 दिसम्बर 2020 को प्रदर्शित हुई रोहन सिप्पी और अर्जुन मुखर्जी निर्देशित वेब सिरीज़ ‘क्रिमिनल

¹ <https://www.abplive.com/news/india/debate-rages-on-over-criminalising-marital-rape-in-india-1818162>

जस्टिस : बिहाइंड क्लोज्ड डोर्स' में भी मैरिटल रेप के मुद्दे को विषय बनाया गया है। ऐसे महत्वपूर्ण विषयों को कई दशकों पहले से ही 'हंस' अपनी बेबाक वैचारिकी में शामिल किए रखा है। इससे ही 'हंस' की दूरदर्शी सोच का पता चलता है कि स्त्री मुक्ति के लिए वह कितना सजग रहा है।

स्त्रियों की राजनीति में शोचनीय स्थिति को भी राजेन्द्र जी महत्व देते हैं जहां यथास्थितिवादियों का मानना है कि राजनैतिक चेतना सम्पन्न होते ही स्त्रियों के पर निकाल आएं। हिन्दू कोड बिल का विरोध होना स्त्रियों को राजनैतिक चेतना से पृथक रखना ही है। 'हंस' ने स्त्री एकीकरण पर बल दिया। पितृसत्ता इसी एकजुटता से भयभीत रहती है। स्त्री आरक्षण पितृसत्ता और सम्पूर्ण समाज की मूल संरचना में परिवर्तन ला सकता है इसीलिए पुरुष समाज के यथास्थितिवादी लोग इसका विरोध करते रहे हैं। स्त्री को प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज में प्रताड़ना ही मिली है। राजेन्द्र यादव की चिंता का विषय यह भी रहा कि कुछ स्त्रियाँ जो सत्ता में रहीं वे भी स्त्रियों के हितों के लिए कुछ विशेष योगदान नहीं कर पाईं। बेशक वे भी सत्ता का निर्वाह पुरुष दृष्टिकोण से ही कर रही थीं ताकि सत्ता में उनकी स्वीकार्यता बनी रहे। पुरुष अपने द्वारा निर्धारित स्त्री के स्वाभाविक गुणों को बनाए रखना चाहते हैं और उनका मानना है कि स्त्रियों को भी बिना किसी संदेह के उन गुणों को अपनी नियति मानकर अपना लेना चाहिए और सड़कों पर उतरकर उनकी इज्जत का ठप्पा नहीं लगवाना चाहिए। क्यों घर की इज्जत का सारा दायित्व स्त्रियों के मत्थे मढ़ा जाता है? परिवार में सभी महत्वपूर्ण निर्णय पर पुरुषों का ही नियंत्रण होता आया है और स्त्रियों को केवल कामों के बोझ तले दबा दिया जाता है। स्त्रियों को अधिकारों से हमेशा वंचित और कर्तव्यों के बोझ से दबी गौरवशाली, महिमामयी प्रतिमा बनने को अभ्यस्त किया जाता है। स्त्रियों को अपनी पहचान बनाने के लिए 'हंस' ने हमेशा प्रोत्साहित किया क्योंकि समाज में उनकी न कोई जाति होती है, न धर्म और न भाषा। ये सभी स्त्रियों को पुरुष द्वारा प्राप्त होती है और स्त्रियों को इन्हें अपना पड़ता है। स्त्री की पहचान उसके सीमित कार्यक्षेत्र से

होती है जो बिस्तर से रसोई तक माना जाता रहा है। राजेन्द्र यादव स्त्रियों के लिए पूर्वनिर्धारित इन्हीं गुणों को उनका भाग्य मानने का विरोध 'हंस' के माध्यम से करते हैं।

स्त्रियों को केवल शारीरिक हिंसा का ही सामना नहीं करना पड़ता बल्कि स्त्रियों के साथ होने वाली भाषिक और मानसिक अभद्रता से उन्हें पहले ही पंगु बना दिया जाता है। न केवल स्तुति बल्कि स्त्रियों के साथ जो भाषिक दुराचार होता है, उससे स्त्रियों की देह का बखिया उधेड़ दिया जाता है। समाज में प्रचलित गालियां स्त्रियों की योनि और वासना को ही केंद्र में रखती हैं। इन्हीं गालियों के प्रयोग से समाज स्त्री को जानता है और विडम्बना है कि न केवल पुरुष बल्कि कुछ स्त्रियाँ भी इनके प्रयोग से स्वयं को गौरवान्वित महसूस करती हैं। ऐसे भाषिक शोषण को भी 'हंस' में उठाया गया ताकि समाज स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाली ऐसी शब्दावली से मुक्त हो सके और स्त्रियाँ भी खुद को केवल देह साबित करने वाली अभद्र भाषा से विचलित ना हों। राजेन्द्र यादव 'हंस' में इस महत्वपूर्ण विषय को भी उठाते हैं कि ऐसा क्यों होता है कि स्त्री लेखन को जनाना लेखन समझकर हीन मानकर सहानुभूति और प्रोत्साहन की दृष्टि से देखा जाता है? 'लेखक' की पहचान सिर्फ लेखक मानकर ही होनी चाहिए उसमें जेंडर भेदभाव नहीं होना चाहिए। उनके साथ महिला या स्त्री विशेषण जोड़कर उन्हें मुख्यधारा से अलग नहीं किया जाना।

'ओ' की कहानी के हवाले से राजेन्द्र जी स्त्रियों की उस स्थिति को स्पष्ट करते हैं जिसमें स्त्रियाँ गुलामी में आनंद और स्वतन्त्रता में खतरों को तलाशती हैं। यह कहानी बुद्धिजीवियों को सोचने पर विवश करती है कि क्यों स्त्रियाँ अपने स्व को विसर्जित करने को आनंद मानती हैं? 'ओ' इस गुलामी को इतना आनंदमयी मानती है कि ये तक मांग करती है कि जब भी मेरे पास आओ चाबुक लेकर आना। यदि मेरे चेतन मन में मुक्ति का कोई भी विचार तक आए जो मुझे तुमसे दूर करे, तुम उस ख्याल को खत्म करना। उसके लिए तुम्हें मेरे साथ जैसा भी व्यवहार करना पड़े तुम करो। स्वतन्त्रता में स्त्रियों को सामाजिक तिरस्कार और असुरक्षा का खतरा होने का भय होता है, इसीलिए वे गुलामी में आनंद को महसूस करती हैं। स्त्रियों को पुरुष अपनी मिल्कियत

मानते हैं उन्हें अपना उपनिवेश बना कर रखते हैं। ‘हंस’ स्त्री की इसी उपनिवेशिक स्थिति से मुक्ति के लिए संघर्षरत रहा है। राजेन्द्र यादव का मानना है कि स्त्रियाँ कभी भी अकेले मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकती। समूची मनुष्यता को इस पर विचार करना होगा, इसलिए पुरुषों को भी उनकी मुक्ति में अपनी भागीदारी देनी होगी। स्त्री मुक्ति पूरे मानव समाज की मुक्ति साबित होगी। इस ‘ओ’ कहानी से राजेन्द्र यादव स्त्रियों को ऐसी गुलामी से बाहर निकाल वास्तविक मुक्ति और स्वतन्त्रता को पहचानने का मार्ग दिखाते हैं। पाखी के सितम्बर 2011 के राजेन्द्र यादव केन्द्रित विशेषांक में संपादक प्रेम भारद्वाज लिखते हैं कि राजेन्द्र यादव जी के संपादकीय पढ़कर आज तो क्या 50-100 साल बाद भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि ये किस कालखंड के दौरान लिखे गए हैं। उनके लेखन में इतनी दूरदर्शिता और सामाजिक यथार्थ की ऐसी समझ थी कि स्त्री मुक्ति के वे सभी मुद्दे जो राजेन्द्र जी ने उठाए वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। यही राजेन्द्र यादव और ‘हंस’ का स्त्री मुक्ति में अहम योगदान है।

निष्कर्षतः ‘हंस’ ने ‘स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को पूर्ण निष्ठा और प्रतिबद्धता के साथ उठाया। ‘हंस’ में अस्मिता विमर्श को वैचारिक मुद्दा बनाया गया। ‘स्त्री-मुक्ति’ ‘हंस’ की क्रांतिधर्मिता के हमेशा केंद्र में रही। ‘हंस’ एक क्रांतिकारी और विमर्शी पत्रिका रही है। आज समाज में स्त्री विमर्श ने जो स्वीकृत स्थिति प्राप्त की है उसमें ‘हंस’ की अविस्मरणीय और अतुल्य भूमिका रही है।

उपसंहार

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में 'हंस' एक अत्यंत महत्वपूर्ण पत्रिका रही है। 'हंस' का प्रकाशन 1930 में प्रेमचंद द्वारा किया गया जिसमें प्रेमचंद ने समय के यथार्थ और आवश्यकताओं को समझते हुए तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक चुनौतियों को आत्मसात करते हुए समय की कमजोर नब्ज को पहचाना तथा 'हंस' को प्रगतिशील विचारों का एक लोकतान्त्रिक मंच बनाया। प्रेमचंद युगीन 'हंस' की क्रांतिधर्मिता के केंद्र में साम्राज्यवादी तथा सामंती शक्तियों का विरोध रहा है। इस विरोध को प्रेमचंद ने 'हंस' के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

प्रेमचंदोत्तर 'हंस' में ठोस यथार्थ को अभिव्यक्त करती सामग्री प्रकाशित होती रही। इस दौर में स्वतन्त्रता और राष्ट्रनिर्माण की समस्या को केंद्र में रखा गया। समसामयिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त करते हुए इस दौर के लेखकों ने प्रेमचंद की परंपरा का अनुसरण किया। तमाम अवरोधों व अंतरालों को झेलते हुए अगस्त 1952 के बाद 'हंस' के दूसरे उत्थान का पतन हुआ और 'हंस' का प्रकाशन पर ताला लग गया।

चौत्तीस वर्ष बाद अगस्त 1986 में राजेन्द्र यादव के नेतृत्व में 'हंस' का पुनः प्रकाशन हुआ। यह दौर हिन्दी पत्रकारिता के लिए बेहद कठिन दौर था। उस समय हिन्दी क्षेत्र में लोकप्रिय पत्रिकाओं का अभाव था। अनेक पत्रिकाएँ बंद हो चुकी थीं और अनेक अपनी अंतिम सांसें गिन रही थीं। साहित्यिक वैचारिक विचारों से ओत-प्रोत पत्रिकाएँ विलुप्त होती हा रहीं थीं। इस नाजुक समय में बिना किसी संस्थानिक सहायता के राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के माध्यम से उस अभाव को भरने का प्रयास किया और 'हंस' प्रगतिशील विचारों को विकसित करता एक मंच बना।

राजेन्द्र यादव के 'हंस' की प्रगतिशीलता की पहचान, सार्थकता और ताकत उसकी निर्द्वंद्व समकालीनता में है इस कथन की पुष्टि राजेन्द्र यादव संपादित 'हंस' के पहले अंक से ही हो जाती

है। प्रथम अंक से ही राजेन्द्र यादव ने समसामयिक मुद्दों को उठाया। ‘हंस’ में यथास्थिति और अतीत गाथा के प्रति कोई खास लगाव नहीं था बल्कि ‘हंस’ ने यथास्थिति पर चर्चा की अपेक्षा समकालीन सवालियों के माध्यम से समाज की चेतना, निष्क्रियता और बौद्धिकता को उत्तेजित किया जिससे समाज के लोग आंदोलित हो सकें।

इसी समसामयिक दृष्टि के चलते स्त्री विमर्श और स्त्री मुक्ति के प्रश्न ‘हंस’ के मुख्य सरोकार बने। अपने बेबाक और तल्ख तेवर के कारण राजेन्द्र यादव जाने जाते रहें। अपनी इसी बेबाकी का उन्हें खामयाजा भी भुगतना पड़ा। समय से विज्ञापन न मिलने पर ‘हंस’ के आर्थिक अभाव के कारण पत्रिका के बंद होने के कयास लगते रहे परंतु आर्थिक संकट होने पर भी राजेन्द्र यादव ने अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता से कभी समझौता नहीं किया। नए लेखकों की जमात को ‘हंस’ ने सहर्ष स्वीकारा और उन्हें एक लोकतान्त्रिक मंच प्रदान किया।

स्त्री विमर्श को साहित्य की मुख्यधारा में स्थापित करने में ‘हंस’ की भूमिका अतुल्य रही है। ‘हंस’ का दौर ऐसा दौर था जब स्त्रियों की रचनाओं को अपरिपक्व साहित्य या कलात्मक आभाव का साहित्य बोलकर संपादक दरकिनार कर लेखिकाओं की कृतियों को वापिस लौटा देते थे। ऐसे समय में ‘हंस’ ने सभी उपेक्षाओं और विरोधों को सहते हुए नवीन अनुभवों व भाषा से सुसज्जित स्त्री की रचनाशीलता को प्रेरित किया और प्रमुखता से ‘हंस’ में प्रकाशित किया।

स्त्री लेखन और स्त्री समस्याओं को लेकर ‘हंस’ में लंबी-लंबी वैचारिक बहसें चलीं। इन बहसों से स्त्री मुक्ति के प्रश्नों ने आंदोलन का स्वरूप लिया। ‘हंस’ के ये मुक्तिकामी आंदोलन एक परिवर्तनशील और दूरदर्शी संपादक द्वारा ही संभव है। मध्यवर्ग तक सीमित स्त्री मुक्ति आंदोलन की पहुँच को ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंचाकर प्रत्येक वर्ग को इस आंदोलन में शामिल करने का श्रेय ‘हंस’ को जाता है।

स्त्री लेखन को लेकर शुरुआती दौर में अनेक आरोप लगते रहे। कि उसमें सीमित अनुभवों को चित्रित किया जाता है। इस सीमित विषयवस्तु में एकरूपता है और विविधता का अभाव, इस लेखन पर अश्लीलता के भी आरोप लगे। ‘हंस’ और राजेन्द्र यादव को भी इन सवालों और आरोपों को झेलना पड़ा।

‘हंस’ को लेकर कई लोगों ने आरोप भी लगाए कि स्त्री लेखन में देह का चित्रण अधिक है और राजेन्द्र यादव ऐसी उत्तेजक विषयसामग्री को बढ़ावा देते हैं। इस विषय में यही उचित जान पड़ता है कि किसी कृति को अश्लील घोषित करके हम यथार्थ से नहीं भाग सकते। यदि समाज की नग्न वास्तविकता को स्पष्ट करने और समाज के सामने लाने में यदि ऐसे चित्रण सहायक हैं और रचना को उसके तार्किक, वांछित मंतव्यों तक पहुंचाने में ये चित्रण सहायक हैं तो ऐसे अनायास प्रयोगों से किसी को गुरेज नहीं होना चाहिए।

नारीवादी आंदोलन ने स्त्री देह जो स्त्रियों पर अत्याचार और शोषण का प्रमुख आधार मानी जाती है, उसे प्रतिरोध के अस्त्र के रूप में बदलकर प्रयोग किया। ‘हंस’ ने इन विचारों को प्रोत्साहित किया और स्त्रियों को अपने शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए आंदोलित किया। यह स्त्रियों के प्रतिरोध का अनोखा आयाम है इसे अश्लील घोषित कर दरकिनार कर उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए।

प्रत्येक पत्रिका का यह दायित्व होता है कि वह अपने समकालीन आंदोलनों, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक परिवर्तनों को आत्मसात करे। साहित्यिक पत्रिका पर तो यह दायित्व और भी गंभीरता से लागू होता है। इसी दायित्व को राजेन्द्र यादव ने पूरी निष्ठा के साथ निभाया और स्त्री की शोचनीय स्थिति और उसकी मुक्ति के प्रश्नों को ‘हंस’ के माध्यम से उठाया। ‘हंस’ पत्रिका के माध्यम से ‘स्त्री-विमर्श’ को नया मुकाम हासिल हुआ। इस दिशा में ‘हंस’ ही ऐसी एक मात्र पत्रिका रही जिसने स्त्री अस्मिता के प्रश्नों को मुख्यधारा से जोड़ा और हिन्दी चेतना में समाहित किया।

राजेन्द्र यादव के संपादनत्व में 'हंस' पत्रिका ने स्त्री मुक्ति के प्रश्नों के साहित्यिक मुद्दा बनाया तथा समय-समय पर महाविशेषांक प्रकाशित किए। इन विशेषांकों के माध्यम से हाशियेकृत समाज की सामाजिक यथार्थ स्थिति की खुलकर अभिव्यक्ति हो सकी।

'हंस' में राजेन्द्र यादव के संपादनत्व में छः स्त्री केन्द्रित विशेषांकों को प्रकाशित किया गया। जिनमें औरत उत्तरकथा दो अंकों में (नवंबर-दिसंबर 1994 और जनवरी 1995), अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य भी दो अंकों में (जनवरी- फरवरी 2000 और मार्च 2000) में, स्त्री भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप (मार्च 2001), स्त्री विमर्श : अगला दौर, स्मृति प्रभा खेतान (नवंबर 2009) में प्रकाशित किए गए। राजेन्द्र यादव को स्त्री मुक्ति के स्वरो को वाणी देने के लिए, इन विशेषांकों की योजना के लिए यथास्थितिवादियों के कोप और आलोचनाओं को भी सहना पड़ा पर राजेन्द्र यादव को आलोचनाओं का भय नहीं था इसलिए 'हंस' मुखरता से वैचारिक उत्पात मचाती स्त्री मुक्ति केन्द्रित सामग्री को प्रकाशित करता रहा।

इन विशेषांकों में स्त्री मुक्ति के सभी आयामों को स्पर्श किया गया है। हर वर्ग, धर्म, जाति। आयु की स्त्रियों की समस्याओं को समग्रता से बिना किसी पक्षपात के 'हंस' में क्रांति करते हुए रचनात्मक लेखन से अभिव्यक्त किया गया और स्त्रियों को संघर्ष के लिए तत्पर किया। 'हंस' की यह खासियत रही है कि 'हंस' समाज से ही मुद्दों को उठाता है जिन मुद्दों को समाज अनदेखा करता है तथा कुछ समय बाद भूल जाता है। अन्य पत्रिकाएँ जिन मुद्दों की सुध नहीं लेती। उन मुद्दों को 'हंस' में स्थान मिला तथा उन सभी मुद्दों को समय समय पर उठाया ताकि घटनाओं की संजीदगी को समझा जा सके और भविष्य में ऐसी दुर्घटनाओं से स्त्री पक्ष को बचाया जा सके। 'हंस' में जिन मुद्दों को राजेन्द्र यादव ने प्रकाशित किया वे मुद्दे आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं।

'हंस' में चित्रित स्त्री स्वच्छंद इच्छा रखती है। अपनी इच्छाओं के लिए वे परिवार के समक्ष खड़ी भी होती हैं और अपनी इच्छाओं की पहचान करना ही घरेलू स्त्री के लिए एक चुनौती होती है क्योंकि घरेलू स्त्री घर को ही अपनी पहचान का केंद्र बना लेती हैं। 'हंस' ने स्त्रियों को अपनी

पहचान अपनी इच्छाओं के प्रति जागरूक बनाया। स्त्री शिक्षा के महत्व को भी 'हंस' में प्रकाशित कहानियों, लेखों, संपादकियों आदि के माध्यम से देखा जा सकता है। 'हंस' ने स्त्री शिक्षा को महत्व दिया जिससे स्त्रियां स्वावलंबी और आत्मनिर्भर बनती हैं। 'हंस' ने स्त्री विमर्श के नए उभारों और स्त्री अस्मिता की आकांक्षाओं को पहचाना तथा साहित्य में उसे जगह दिलाने का अभियान चलाया।

बाल-विवाह निषेध, बाल-विधवा आदि समस्याओं को भी 'हंस' में वाणी प्राप्त हुई। स्त्रियों को विवाह पश्चात गृहस्थी तक सीमित कर दिया जाता है। उसकी दुनिया घर की चौहूदी तक सिमट जाती है। 'हंस' में उन स्त्रियों का भी खुलकर चित्रण हुआ जो विवाह के बाद अपनी गृहस्थी और पति से असंतुष्ट हैं तथा ऐसा जीवन काट रही हैं जिसे वे त्यागना चाहती हैं तथा नया जीवन साथी का चयन करना चाहती हैं। असंतुष्ट जीवन से बेहतर है कि स्त्रियाँ खुद को अपने आने वाले भविष्य को एक मौका दें। 'हंस' में स्त्री पात्र इतनी सबल दिखाई देती हैं। कहीं-कहीं यदि स्त्रियाँ असंतुष्ट स्थिति में फंसी रहती हैं तो उनमें स्वच्छंदता की इच्छा की ललक और टीस अवश्य बनी रहती है। इसी असंतुष्ट स्थिति से मुक्ति की राह का मार्ग प्रशस्त होता है। स्त्रियों के घरेलू श्रम का समाज में अवमूल्यन होता आया है। इस श्रम के महत्व और मूल्यों को 'हंस' ने सम्मान दिलाने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

समाज में स्त्री केवल प्रजनन की एक वस्तु समझा जाता रहा है। पुत्र प्राप्ति ही स्त्री की सबसे बड़ी उपलब्धि बना दी गयी है। 'हंस' स्त्री की इस पारंपरिक स्थिति पर चोट करता है और स्त्री के मानवीय स्वरूप को स्थापित करने का निरंतर प्रयास करता है। भूमंडलीकरण ने स्त्री की स्थिति में कुछ सुधार तो किया। स्त्री श्रम के आंकड़ों में कुछ बढ़त अवश्य देखने को मिली परंतु बाज़ार और भूमंडलीकरण ने ऐसा केवल अपनी आवश्यकताओं के लिए किया। स्त्रियों के समस्याओं के समाधान को लेकर कभी पहल नहीं की। औरत को सस्ते और लचीले श्रम के रूप में इस्तेमाल किया गया। स्त्री देह उसके श्रम का भूमंडलीकरण के दौरान दोहन हुआ। यौन व्यापार प्रत्यक्ष रूप से

भूमंडलीकरण से जुड़ता है। 'हंस' में भूमंडलीकरण के इस दावे की आलोचना हुई कि स्त्री मुक्ति कि दिशा को प्रशस्त करने में भूमंडलीकरण ने सहयोग किया। 'हंस' में यह बात स्पष्ट कि गयी है कि भूमंडलीकरण में स्त्री कितने प्रतिशत व्यक्ति के रूप में स्वीकारी गयी और इस प्रक्रिया के दौरान वह कितनी वस्तु समझी गयी। ये सभी प्रासंगिक मुद्दे 'हंस' की स्त्री मुक्ति चेतना में समाहित रहें।

वेश्यावृत्ति की समस्या, दहेज प्रथा की समस्या, स्त्रियों के साथ होने वाले यौन शोषण की समस्या स्त्री का अपने अस्तित्व और अपनी पहचान के लिए जूझना, वैवाहिक बलात्कार ऐसे अनेक विषय हैं जो स्त्री मुक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक हैं और 'हंस' में इन अहम मुद्दों को प्रमुखता से स्थान मिला है।

स्त्री की कामेच्छा एक ऐसा विषय है जिसे समाज हमेशा उपेक्षित करता आया है और सहवास के दौरान स्त्रियों को एक निष्क्रिय वस्तु समझा जाता है। 'हंस' में स्त्री की स्वतंत्र कामेच्छा को भी तरजीह दी गयी है जिससे स्त्रियाँ मानसिक और यौन विक्षिप्ति का शिकार न हो सकें। मुस्लिम समाज की स्त्रियों की रूढ़ियों से बंधी दयनीय स्थिति को 'हंस' लगातार रचनात्मक लेखन तथा सामाजिक यथार्थ घटनाओं, शोषित महिलाओं के साक्षात्कारों की माध्यम से उजागर किया गया। स्त्री समस्याओं पर शीबा असलम फहमी का 'परदा इधर : परदा उधर' और 'मुख्यधारा के अहंकार' और तसलीमा नसरीन का शब्दवेधी/ शब्दभेदी स्तम्भ केन्द्रित रहे हैं

स्त्री मुक्ति के प्रश्न राजेन्द्र यादव की क्रांतिधर्मिता के हमेशा केंद्र में रहे। राजेन्द्र यादव ने समाज में उपेक्षित स्त्री के लड़खड़ाती स्थिति को प्रत्येक आयामों के माध्यम से स्पष्ट किया। हर छोटे से छोटे और गंभीर से गंभीर सभी प्रश्नों को निरंतर वाणी दी तथा स्त्रियों को अपने अधिकारों के लिए लिखने का साहस तथा 'हंस' जैसा एक स्वतंत्र माध्यम मुहैया करवाया। स्त्री को राजेन्द्र यादव ने दलितों की श्रेणी में रखा जिसका मंतव्य यह रहा कि स्त्रियों को उनकी दलित स्थिति का अहसास कराया जा सके। इस तगमे पर पक्ष-विपक्ष का एक बड़ा खेमा तैयार हुआ और वैचारिक बहसें हुई। स्त्रियों ने अपना पक्ष स्पष्ट किया और अपनी स्थिति को परखा। यही 'हंस' की उपलब्धि रही है कि

‘हंस’ में स्त्रियों को अपना पक्ष मजबूती से रखने के लिए हमेशा प्रोत्साहित किया गया चाहे स्त्रियाँ राजेन्द्र यादव के खिलाफ ही मोर्चाबंद क्यों न रही हों।

स्त्रियों को अपने इतिहास के बारे में जानने और इतिहास में अपनी स्थिति की पहचान और पड़ताल करने के लिए ‘हंस’ ने सचेत किया। स्त्री अधिकारों के लिए बने बिल, क़ानूनों पर ‘हंस’ लगातार लेखन करता रहा। स्त्रियों को उनके अधिकारों के लिए सचेत करने में ‘हंस’ ने हमेशा पहल की।

स्त्री विमर्श का सही स्वरूप तभी बनेगा जब स्त्री बिना किसी दबाव के अपने जीवन के बारे में खुद निर्णय ले सकें। राजेन्द्र यादव ने ‘हंस’ के माध्यम से स्त्रियों को सक्षम बनाकर अपने निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया। स्त्री मुक्ति से संबंधी ऐसे अनेक मुद्दे हैं जिनको राजेन्द्र जी ने अपने सम्पादनकाल में उठाया तथा मुक्ति संघर्षों तथा हाशियेकृत वर्ग की मुख्यधारा से जोड़कर उन्हें समाज में अपने मानवीय स्वरूप को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। विभिन्न लेखिकाओं की ख्याति ‘हंस’ से जुड़ी है। स्त्री-विमर्श एक अनुशासन के रूप में अब अधिक परिपक्व और बहुआयामी पहचान हासिल कर चुका है। स्त्री विमर्श को लेकर पहले जो भ्रांतियाँ, भय और एक नकार की स्थिति थी जिससे अनेक लेखिकाएँ खुद को स्त्रीवादी लीक में शामिल किए जाने से कतराती थीं, अब ‘हंस’ के योगदान से इस दृष्टि में खासा बदलाव आ गया है।

‘हंस’ पत्रिका का स्त्री मुक्ति के संदर्भ में जितना महत्व और योगदान है, उतनी बेबाकी अन्यत्र किसी पत्रिका में देखने को नहीं मिलती। जिन परिस्थितियों से राजेन्द्र यादव अपने समय में लेखों के माध्यम से मुठभेड़ कर रहे थे। वे लेख आज भी उतने हुई प्रासंगिक हैं। इससे ‘हंस’ और राजेन्द्र यादव की दूरदर्शी सोच का पता चलता है कि स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को लेकर संपादक राजेन्द्र यादव कितना अधिक सजग रहे हैं।

अतः 'हंस' ने स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को बड़ी जिम्मेदारी के साथ उठाया तथा स्त्री विमर्श को आज जो एक नया मुकाम हासिल हुआ है इसमें 'हंस' और राजेन्द्र यादव की अतुल्य भूमिका रही है।

परिशिष्ट

‘हंस’ में प्रकाशित स्त्री मुक्ति संघर्ष को विविध आयामों से जोड़ते कुछ महत्वपूर्ण चित्र :-



जुलाई 1996, पृ. 41



नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 56



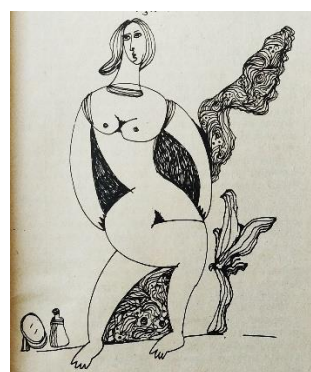
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 61



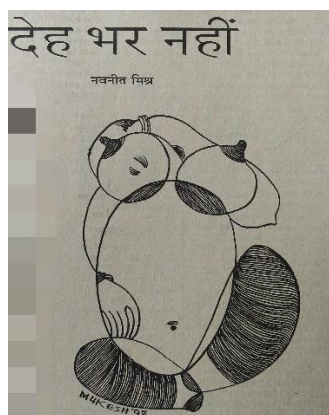
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 198



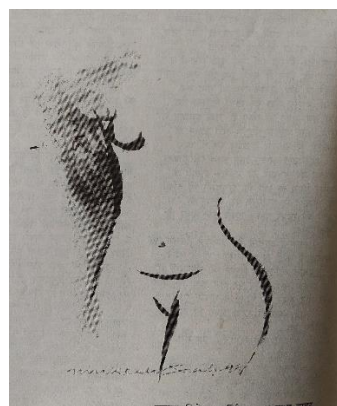
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 209



अगस्त 1998, पृ. 21



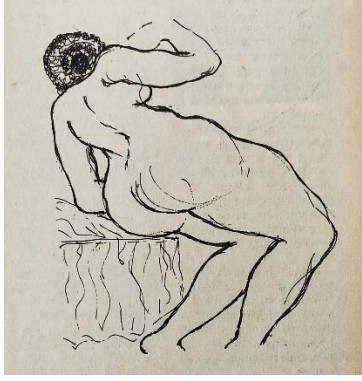
दिसंबर 1997, पृ. 13



मई 1999, पृ. 74



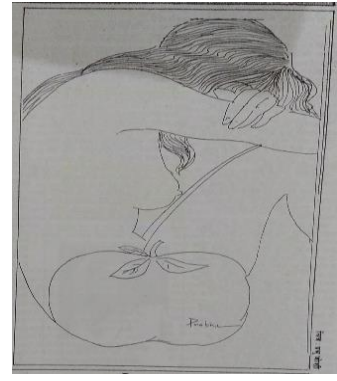
मई 1999, पृ. 77



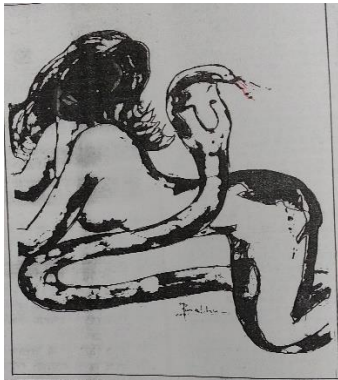
जून 1998 पृ. 43



फरवरी 2007, पृ. 37



नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 21



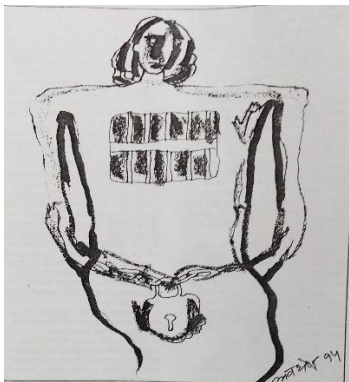
जनवरी 1995, पृ. 16



नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 214



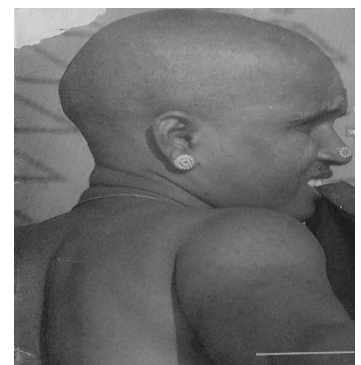
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 226



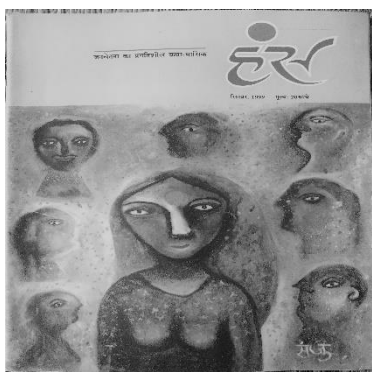
जनवरी 1995, पृ. 68



नवंबर 1996, मुखपृष्ठ



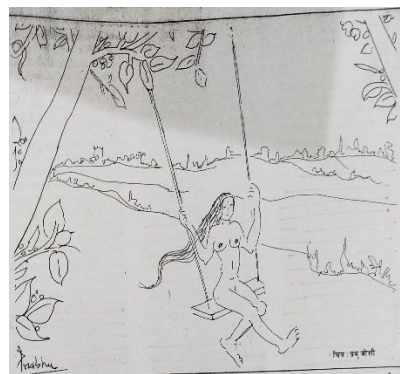
अप्रैल 1996, मुखपृष्ठ



सितम्बर 1999, मुखपृष्ठ



नवंबर 1997, मुखपृष्ठ



जनवरी 1995, पृ. 19



अगस्त 2005, मुखपृष्ठ



अप्रैल 2013, मुखपृष्ठ



जनवरी 2007, पृ. 169



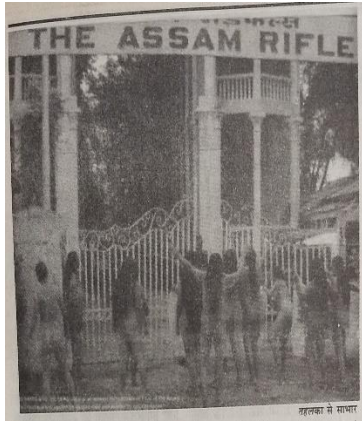
अक्टूबर 2006, मुखपृष्ठ



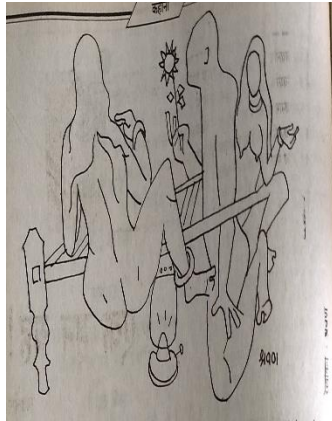
जनवरी-फरवरी 2000, पृ. 115



जून 2005, पृ. 27



सितम्बर 2004, पृ. 21



अगस्त 2001, पृ. 44



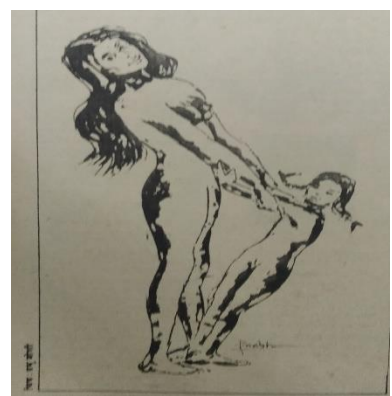
जनवरी 2001, पृ. 18



नवंबर 1993, पृ. 60



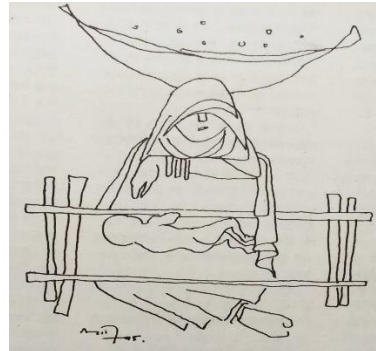
अप्रैल 1998, पृ. 17



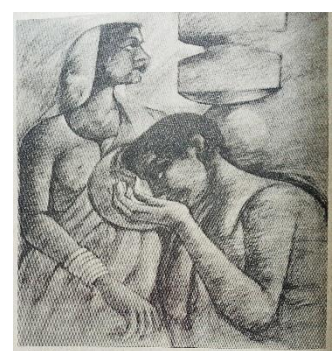
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 228



जुलाई 1999, पृ. 93



जुलाई 1996, पृ. 27



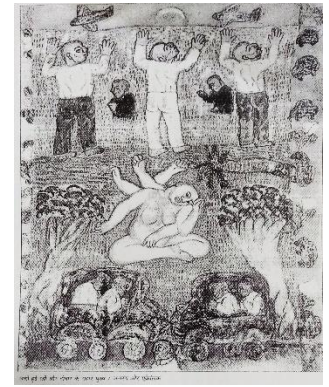
मई 1998, पृ. 20



मई 1998, पृ. 36



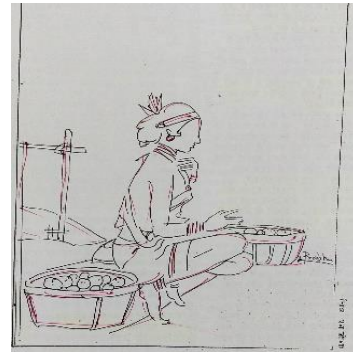
मार्च 2001, पृ. 21



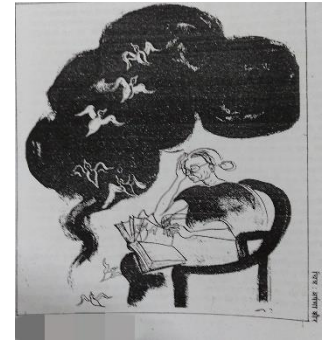
मार्च 2001, पृ. 22



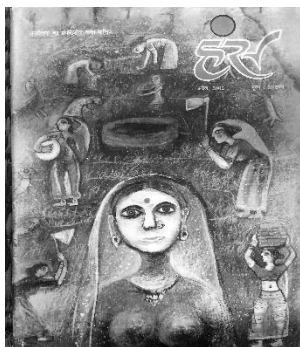
नवंबर 1993, मुखपृष्ठ



नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 25



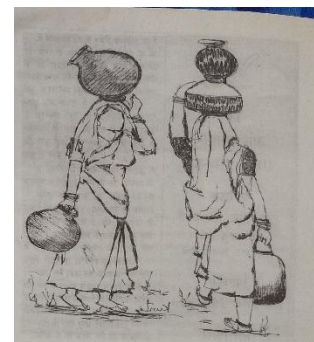
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 50



अप्रैल 2002, मुखपृष्ठ



अक्टूबर 2003, पृ. मुखपृष्ठ



दिसंबर 2009, 23



जनवरी 2005, पृ. मुखपृष्ठ



अप्रैल 2004, पृ. 25



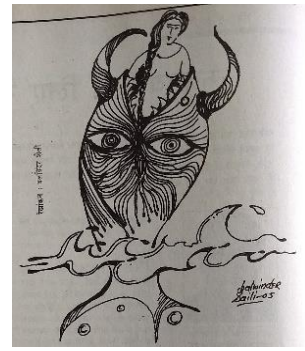
मई 2004, पृ. 33



मई 2003, पृ. 31



नवंबर 2005, पृ. मुखपृष्ठ



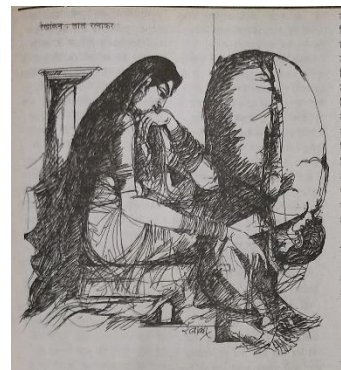
जुलाई 2007, पृ. 8



जुलाई 1991, पृ. मुखपृष्ठ



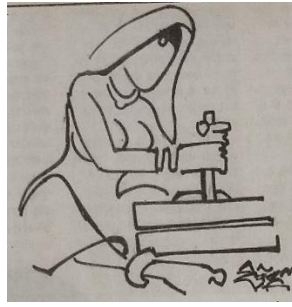
मई 2009, पृ. मुखपृष्ठ



फरवरी 2004, पृ. 45



अप्रैल 2004, 18



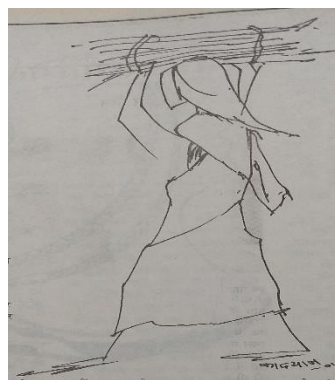
अप्रैल 2004, पृ. 21



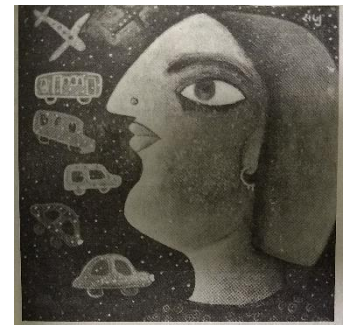
अगस्त 2002, पृ. 13



सितंबर 2008, पृ. 48



फरवरी 2005, पृ. 30



अप्रैल 2002, पृ. 71



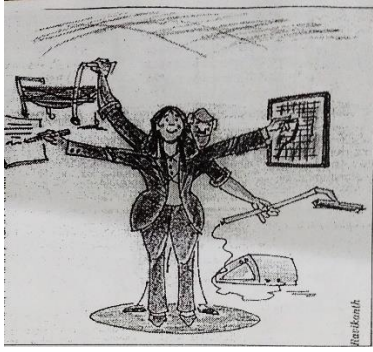
मार्च 2001, पृ. 46



मार्च 2001, पृ. 38



मार्च 2001, पृ. 43



मार्च 2001, पृ. 45



मार्च 2001, पृ. 91



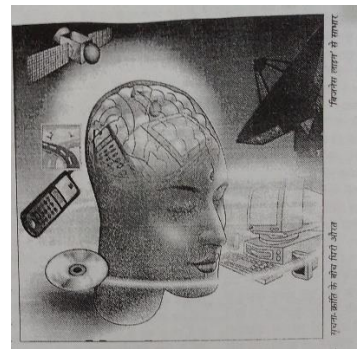
मार्च 2001, पृ. 96



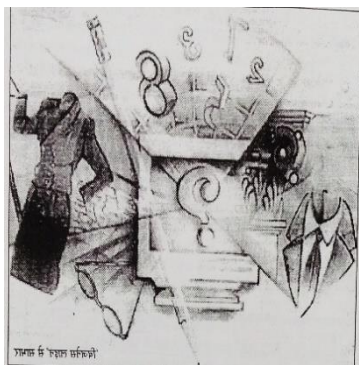
मार्च 2001, पृ. 187



मार्च 2001, पृ. 28



मार्च 2001, पृ. 26



मार्च 2001, पृ. 36



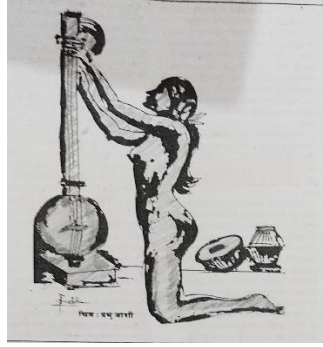
नवंबर 1993, पृ. 62



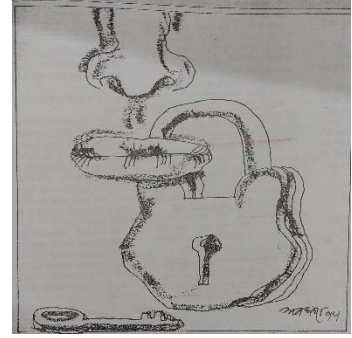
जून 2007, मुखपृष्ठ



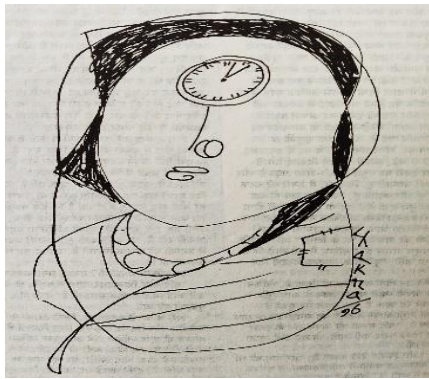
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 162



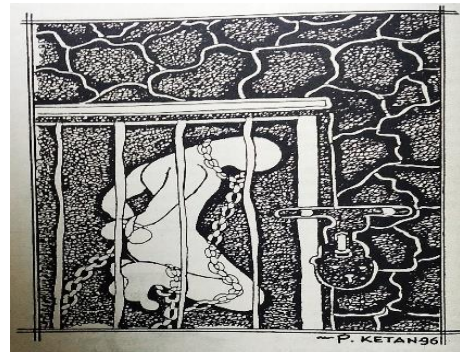
जनवरी 1995, पृ. 25



जनवरी 1995, पृ. 61



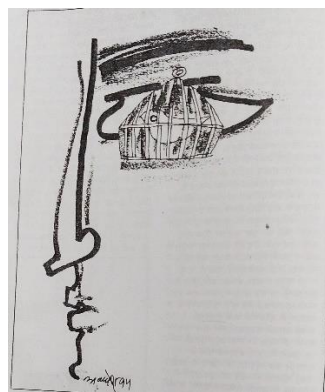
नवंबर 1996, पृ. 59



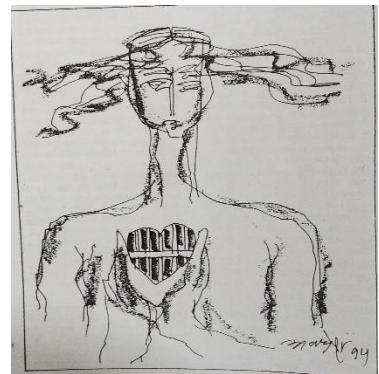
दिसंबर 1996, पृ. 42



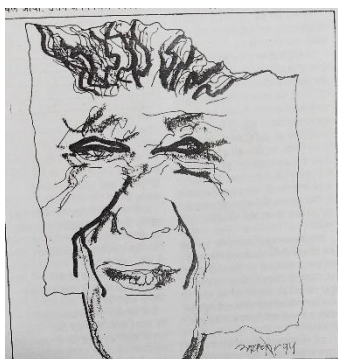
मार्च 2001, पृ. 182



जनवरी 1995, पृ. 70



जनवरी 1995, पृ. 80



जनवरी 1995, पृ. 81



जनवरी-फरवरी 2000, पृ. 115



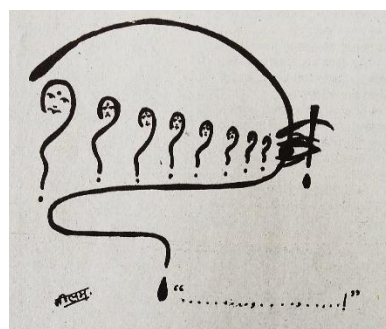
जनवरी-फरवरी 2000, पृ. 130



जनवरी 1995, पृ. 11



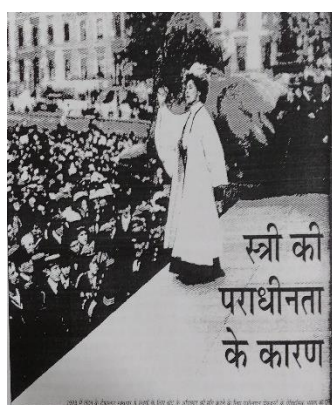
नवंबर-दिसंबर 1994, पृ. 64



जनवरी 1998, पृ. 29



मार्च 2001, पृ. 41



मार्च 2001, पृ. 90



मार्च 2001, पृ. 133



मार्च 2001, पृ. 141



मार्च 2001, पृ. 143



मार्च 2001, पृ. 146



जुलाई 1999, मुखपृष्ठ



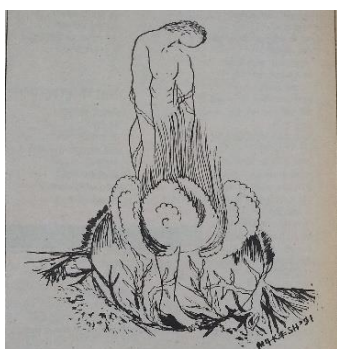
नवंबर 2002, मुखपृष्ठ



मई 2012, मुखपृष्ठ



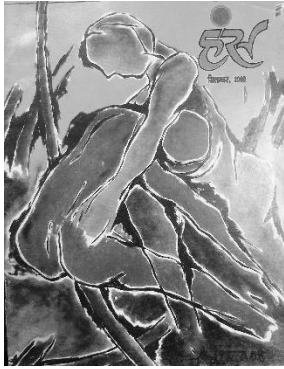
मार्च 2006, पृ. 57



अप्रैल 1991, पृ. 45



जून 2010, मुखपृष्ठ



सितंबर 2008, मुखपृष्ठ



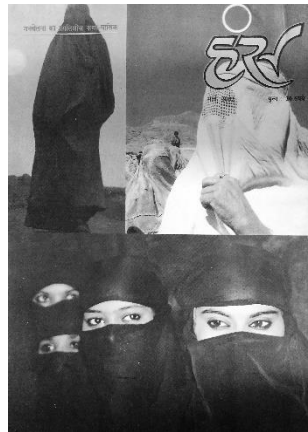
नवंबर 2002, पृ. 74



अप्रैल 2012, मुखपृष्ठ



दिसंबर 2006, मुखपृष्ठ



मार्च 2002, मुखपृष्ठ



मार्च 2007, पृ. 39

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार सामग्री

1. प्रेमचंद (सं.), 'हंस' मासिक (मार्च 1930 से सितम्बर 1936), सरस्वती प्रकाशन, बनारस
2. श्रीपत, अमृतराय (संपा.), 'हंस' मासिक (अक्टूबर 1936 से अगस्त 1952), सरस्वती प्रकाशन, बनारस
3. यादव, राजेन्द्र (संपा.), 'हंस' कथा मासिक (अगस्त 1986-नवंबर 2013), अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

सहायक संदर्भ-ग्रंथ

1. अग्रवाल रोहिणी, साहित्य का स्त्री-स्वर, साहित्य भंडार, इलाहाबाद संस्करण 2015
2. अतिथि संपादक जैन अरविंद, मंडलोई लीलाधार, संपादक प्रो. प्रसाद कमला, शर्मा राजेन्द्र, स्त्री: मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ती संस्करण, 2014
3. अनामिका, मन मांझने की जरूरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
4. अनामिका, स्त्री विमर्श की उत्तर-गाथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2014
5. अनु. पांडेय मनीषा, स्त्री के पास खोने के लिए कुछ नहीं है, संवाद प्रकाशन, मेरठ प्रथम संस्करण 2004
6. औरों के बहाने, राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2014
7. आंबेडकर बी आर, हिन्दू नारी का उत्थान और पतन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2013
8. इस्सर देवेन्द्र, स्त्री मुक्ति के प्रश्न, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पहला संस्करण, 2009

9. एंगेल्स फ्रेडरिख, परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
10. कस्तवार रेखा, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2016
11. कुमार राकेश, नारीवादी विमर्श, आधार प्रकाशन, पंचकुला हरियाणा, प्रथम संस्करण, 2011
12. कुमार, राधा, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2014
13. कृष्णकांत चंद्रा, डॉ० अजय बिन्द (संपा.), राजेन्द्र यादव, समानान्तर दुनिया का सूत्रधार, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2016
14. कांटे की बात-1 (न लिखने का कारण)- राजेन्द्र यादव, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998
15. कांटे की बात-3, राजेन्द्र यादव, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
16. खेतान प्रभा, बाज़ार के बीच: बाज़ार के खिलाफ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति संस्करण, 2010
17. गीताश्री, स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
18. गुप्ता रमणिका, स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली पहला संस्करण 2014
19. जैन महेन्द्र राजा, क्या, कब, कहाँ?, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
20. जोशी गोपा, भारत में स्त्री-असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, द्वितीय संशोधित संस्करण 2015
21. जॉन मिल स्टुअर्ट, स्त्रियों की पराधीनता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवा संस्करण, 2016
22. डॉ. अमरनाथ, नारी का मुक्ति संघर्ष, रेमाधव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम पेपरबैक संस्करण 2007

- 23.डॉ. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं० 2016
- 24.डॉ.स्वामी मीनाक्षी, अस्मिता की अग्नि- परीक्षा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2016
- 25.डॉ सियाराम, नयी सहस्राब्दी में स्त्री विमर्श : चिंतन के विविध संदर्भ
- 26.देसाई नीरा, ठक्कर उषा, (अनु. धुसिया सुभी), भारतीय समाज में महिलाएं, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, छठी आवृत्ति 2017
- 27.दुबे, धनंजय हिन्दी कहानी और 'हंस', अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2014
- 28.पराशर सुनन्दा, हिन्दी नवजागरण और स्त्री अस्मिता, अनन्य प्रकाशन, सं०2017
- 29.पत्रकार प्रेमचंद और हंस- डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, राजेश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977
- 30.पुष्पा मैत्रेयी, वह सफर था कि मुकाम था, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पहला संस्करण 2017
- 31.पांडे मृणाल, जहां औरतें गढ़ी जाती है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- 32.पांडे मृणाल, देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- 33.पांडे मृणाल, परिधि पर स्त्री, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2017
- 34.पाण्डे पद्माकर, हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन
- 35.पांडे रत्नाकर, हिन्दी पत्रकारिता- 'प्रेमचंद और 'हंस', श्री पब्लिशर एंड डिस्ट्रीब्यूटर, नयी दिल्ली, सं० 2016
- 36.बानो शहनाज़, भक्ति काव्य में पितृसत्ता और स्त्री-विमर्श, शिल्पायन प्रकाशन, शाहदरा नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015
37. बोउवार द सिमोन, (अनु. कार्तिकेय ललित), एक गुमशुदा औरत की डायरी, संवाद प्रकाशन, मेरठ, दूसरा संस्करण 2010

- 38.बोडवार द सिमोन, (अनु. खेतान प्रभा), स्त्री उपेक्षिता, हिंदी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, दूसरा रिप्रिंट 2008
- 39.भंडारी मन्नू, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2016
- 40.भंडारी, मन्नू, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2016
- 41.माहेश्वरी सरला नारी प्रश्न (मार्क्स-एंगेल्स संकलित रचनाएं, भाग-3, प्रगति प्रकाशन, मोस्को)
- 42.मिश्र कृष्ण बिहारी, हिन्दी पत्रकारिता, प्रभात प्रकाशन, सं० 2019
- 43.मेनन निवेदिता, आर्य साधना, लोकनीता जिनी, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, पांचवा पुनर्मुद्रण 2015
- 44.यादव राजेन्द्र, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 2015
- 45.यादव राजेन्द्र, जवाब दो विक्रमादित्य- वाणी प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2009
- 46.यादव राजेन्द्र, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली तीसरा संस्करण 2011
- 47.यादव राजेन्द्र, मुड़ मुड़के देखता हूँ., राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2012
- 48.यादव राजेन्द्र, राजेन्द्र यादव ने ज्योति कुमारी को बताए स्वस्थ व्यक्ति के बीमार विचार, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
- 49.यादव राजेन्द्र, सारा आकाश अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, अक्षर संस्करण- 1968
- 50.यादव राजेन्द्र, संकलित कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति 2014
- 51.वर्मा महादेवी, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2017
- 52.वोल्सटनक्राफ्ट, मेरी (अनु. मीनाक्षी), स्त्री- अधिकारों का औचित्य- साधन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2014
- 53.व्होरा आशारानी, भारतीय नारी : दशा और दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, सं० 1983
- 54.शर्मा नासिरा, औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2014

55. शर्मा क्षमा, स्त्रीवादी विमर्श: समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008
56. शिन्दे, ताराबाई, स्त्री पुरुष तुलना, सिद्धार्थ बुक्स शाहदरा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
57. सिन्हा मृदुला, मात्र देह नहीं है औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
58. सोनवणे चन्द्रभानु, कथाकार राजेन्द्र यादव पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 1982
59. सं. उपाध्याय रमेश, उपाध्याय संज्ञा, आज का स्त्री आन्दोलन, शब्दसंधान, प्रकाशन द्वितीय संस्करण 2011
60. सं- गीताश्री, 23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपर बैक संस्करण 2013
61. सं. संजीव, चौखट पर स्त्री, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2017
62. सं. डॉ. गर्ग संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014
63. सं. भारती धर्मवीर, सीमन्तनी उपदेश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006
64. सं- राजकिशोर, स्त्री, परंपरा और आधुनिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2010
65. संकलन संपादक- वर्मा विभास हंस के विमर्श-1, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, (2014)
66. संकलन संपादक- वर्मा विभास हंस के विमर्श-2 वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, (2014)

पत्र-पत्रिकाएँ

1. बहस में स्त्री (आजकल पत्रिका)- फरहत परवीन, मार्च, (2016)
2. स्त्री स्वर का सच (नया ज्ञानोदय)-लीलाधर मंडलोई, अक्टूबर, (2017)
3. पाखी (राजेन्द्र यादव पर केन्द्रित), सितम्बर 2011, सां प्रेम भारद्वाज.
4. जनसत्ता, 14 जनवरी 2007.

5. लेख- कहीं तो थमना होगा हमें (स्त्री सुरक्षा का सवाल)- नासिरा शर्मा, जनसत्ता 2 सितंबर, 2018
6. सरस्वती, महावीरप्रसाद द्विवेदी, सितम्बर 1920
7. सरस्वती, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मई 1915
8. मर्यादा, फरवरी 1919, पृ
9. स्त्री दर्पण, अप्रैल 1918
10. प्रभा जुलाई 1920
11. चाँद, मई 1926, देश सेवा में स्त्रियों का भाग
12. सुधा, जुलाई अंक 1928
13. आलोचना (त्रैमासिक), अंक 0 3 वर्ष 2000 (अक्टूबर-दिसम्बर)
14. आलोचना (त्रैमासिक), सहस्राब्दी अंक 7-8 वर्ष 2001-2002 (अक्टूबर-मार्च)
15. आलोचना (त्रैमासिक), सहस्राब्दी अंक 14 वर्ष, 2003 (जुलाई-सितंबर)

सहायक लिंक

1. गुफ्तगू, इरफ़ान, राज्य सभा टीवी 24 अप्रैल, 2012 (<https://youtu.be/Xkoq2ji-XBE>).
2. <http://tehelkahindi.com/are-we-really-nationalist-a-relevant-essay-by-munshi-premchand/>
3. 'हंस'- सं. प्रेमचंद- स्मृति अंक, मई 1937. वाया <https://avadhbhumi.wordpress.com/tag/पत्रकार-प्रेमचंद।अवधभूमि>
4. <https://youtu.be/hrWSAa5nPQC> प्रकाशित- 9 अप्रैल 2019 (Oddnaari.)
5. स्त्री विमर्श : इससे दयनीय कोई दूसरा विमर्श नहीं है हिंदी में: वीर भारत तलवार (<https://tirchhispelling.wordpress.com/tag/स्त्री-विमर्श/>)

6. <https://www.thequint.com/news/india/india-rape-data-106-rapes-per-day-4-in-10-victims-minors>
7. <https://www.newsclick.in/rise-reported-rape-cases-2018-police-data-reveals>
8. <https://youtu.be/cL2V4NIR> प्रकाशित- 19 दिसम्बर, 2018 (Oddnaari.)
9. <https://www.jankipul.com/2020/10/hemant-kumari-devi-a-women-writer-of-19th-century.html>
10. <https://youtu.be/LQ09Ycttla>, प्रकाशित 12 दिसंबर 2019 (oddnaari).
11. <https://www.thehindu.com/news/national/watch-ncrb-report-decoded/artical29805942.ece>.
12. <https://www.indiatoday.in/magazine/special-report/stroy/19890415-pamella-bordes-sexual-escapades-with-high-and-mighty-rock-british-establishment-815974-1989-04-15>.
13. <https://www.indiamantra.com/meri-raat-meri-sadak-campaign/>.
14. <http://youtu.be/U3dFs4XVgnU> , <https://youtu.be/jMKiGSJPTIs> , https://youtu.be/RtQihR3oR_k
15. <https://www.bbc.com/hindi/india-43741075>
16. <https://hindi.scoopwhoop.com/chinese-women-who-walk-with-deformed-feet/>
17. <https://youtu.be/nNuuloJGPjBA>, ITV NEWS, PUBLISHED ON 3 JAN, 2019.
18. <https://youtu.be/aQPSksjSceM> What is female genital mutilation (BBC HINDI), PUBLISHED ON 6 FEB 2019.

19. <https://youtu.be/BBhFjs5OrhY>, ODD NARI PUBLISHED ON FEB 19, 2018
20. https://repository.inshorts.com/articles/hi/PTI/d36c878c-6985-42f4-9e71-e55ce8849c0c?utm_campaign=fullarticle&utm_medium=referral&utm_source=inshorts Published on 6 feb 2020.
21. लिंग चयन प्रतिषेध अधिनियम, 1994- विकिपीडिया, (hi.wikipedia.org). कन्या भ्रूण हत्या-विकिपीडिया, (hi.wikipedia.org).
22. <https://www.republicworld.com/entertainment-news/television-news/supermodel-of-the-year-february-9-written-update.html>. (#no more tears).
23. <https://www.jagran.com/delhi/new-delhi-city-ncr-nirbhayas-mother-protest-outside-court-over-delay-in-hanging-of-convicts-20024030.html>.
24. https://www.bbc.com/hindi/news/010910_womenbill.shtml
25. महिलाओं के आरक्षण और समानता का मुद्दा-
<https://www.drishtiias.com/hindi/burning-issues-of-the-month/women-reservation-still-eluding>
26. <https://images.app.goo.gl/EXjPqHHTjaq91Xh78>
27. <https://www.amarujala.com/columns/opinion/one-year-to-end-three-divorces>
28. <https://www.youtube.com/watch?v=np65diUZzIY&t=140s>
29. <https://www.youtube.com/watch?v=muvgmrZmlYc>, (घर सबका काम सबका)
30. <http://thewirehindi.com/96724/rajasthan-roop-kanwar-sati-case-sikar-divrala-village/>

31. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%A8%E0%A5%88%E0%A4%A8%E0%A4%BE_%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B9%E0%A4%A8%E0%A5%80
32. <https://www.bbc.com/hindi/india-39299355>
33. <https://shrts.in/dZDi>, अबॉर्शन-बैन-के-विरोध-में-यूक्रेन-में-पोलैंड-के-दूतावास-के-बाहर-नग्न-हुई-कार्यकर्ता-1603730158219?utm_source=news_share
34. <https://www.bbc.com/hindi/india-39276129>, **13 साल पहले क्यों करना पड़ा था औरतों को नग्न प्रदर्शन?, 15 मार्च 2017।**
35. <https://timesofindia.indiatimes.com/india/rajkot-woman-stages-semi-nude-protest-against-dowry-demand/articleshow/2176007.cms>, rajkot women stages semi- nude protest against dowry demand
36. <https://navbharattimes.indiatimes.com/state/madhya-pradesh/bhopal/indore-man-kept-wifes-private-parts-locked-for-four-years/articleshow/15028257.cms>
37. <http://archive.indianexpress.com/news/sc-frees-rape-convicts-after-compromise-with-victim/754026/>
38. <https://www.thehindu.com/news/cities/Delhi/crimes-against-women-saw-over-63-rise-in-2021-so-far/article35181148.ece>

Vol. 4, Issue 36-37, April-may 2018

वर्ष 4, अंक 36-37, अप्रैल-मई 2018

Impact Factor: 2.0202 [GIF]

ISSN 2454-2725

जनकृति

अप्रैल-मई 2018

जनकृति

बहुभाषा अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका Multilingual International Monthly Journal

प्रधान संपादक: कुमार गौरव मिश्रा

Editor-in-chief: Kumar Gaurav Mishra

परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा (अमेरिका), प्रो. सरन घई (कनाडा), प्रो. अनिल जनविजय (रूस), प्रो. राज हीरामन (मॉरीशस), प्रो. उदयनारायण सिंह (कोलकाता), स्व. प्रो. ओमकार कौल (दिल्ली), प्रो. चौथीराम यादव (उत्तर प्रदेश), डॉ. हरीश नवल (दिल्ली), डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली), डॉ. रमा (दिल्ली), डॉ. प्रेम जन्मेजय (दिल्ली), प्रो. जवरीमल पारख (दिल्ली), पंकज चतुर्वेदी (मध्य प्रदेश), प्रो. रामशरण जोशी (दिल्ली), डॉ. दुर्गा प्रसाद अग्रवाल (राजस्थान), पलाश बिस्वास (कोलकाता), डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा (दिल्ली), प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (उज्जैन), ओम पारिक (कोलकाता), प्रो. विजय कौल (जम्मू), प्रो. महेश आनंद (दिल्ली), निसार अली (छत्तीसगढ़),

संपादक

कुमार गौरव मिश्रा

सह-संपादक

जैनेन्द्र (दिल्ली), कविता सिंह चौहान (मध्य प्रदेश)

कला संपादक

विभा परमार

संपादन मंडल

प्रो. कपिल कुमार (दिल्ली), डॉ. नामदेव (दिल्ली), डॉ. पुनीत बिसारिया (उत्तर प्रदेश), डॉ. जितेंद्र श्रीवास्तव (दिल्ली), डॉ. प्रजा (दिल्ली), डॉ. रूपा सिंह (राजस्थान), तेजिंदर गगन (रायपुर), विमलेश त्रिपाठी (कोलकाता), शंकर नाथ तिवारी (त्रिपुरा), बी.एस. मिरगे (महाराष्ट्र), वीणा भाटिया (दिल्ली), वैभव सिंह (दिल्ली), रचना सिंह (दिल्ली), शैलेन्द्र कुमार शुक्ला (उत्तर प्रदेश), संजय शेफर्ड (दिल्ली), दानी कर्माकर (कोलकाता), राकेश कुमार (दिल्ली), ज्ञान प्रकाश (दिल्ली), प्रदीप त्रिपाठी (महाराष्ट्र), उमेश चंद्र सिरवारी (उत्तर प्रदेश), चन्दन कुमार (दिल्ली)

सहयोगी

गीता पंडित (दिल्ली)
निलय उपाध्याय (मुंबई, महाराष्ट्र)
मुन्ना कुमार पाण्डेय (दिल्ली)
अविचल गौतम (वर्धा, महाराष्ट्र)
महेंद्र प्रजापति (उत्तर प्रदेश)

विदेश प्रतिनिधि

डॉ. अनीता कपूर (कैलिफोर्निया)
डॉ. शिप्रा शिल्पी (जर्मनी)
राकेश माथुर (लन्दन)
मीना चौपड़ा (टोरंटो, कनेडा)
पूजा अनिल (स्पेन)
अरुण प्रकाश मिश्र (स्लोवेनिया)
ओल्या गपोनवा (रशिया)
सोहन राही (यूनाइटेड किंगडम)
पूर्णमा वर्मन (यूएई)
डॉ. गंगा प्रसाद 'गुणशेखर' (चीन)

जनकृति

(बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका)

वर्ष 4, अंक 36-37. अप्रैल-मई 2018

**संपर्क-**

कुमार गौरव मिश्रा, कमरा संख्या 29, गोरख पाण्डेय छात्रावास,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005,
महाराष्ट्र, भारत
8805408656

वेबसाइट- www.jankritipatrika.in,

www.jankritimagazine.blogspot.in,

ईमेल- jankritipatrika@gmail.com

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार से संपादकीय सहमति
अनिवार्य नहीं है।

- छायावादी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा: डॉ.रामचन्द्र पाण्डेय [220-226]
- अस्मितामूलक साहित्य में नई अध्ययन प्रणालियाँ: कविता पासवान [227-231]
- 'गुलाम मंडी' : एक आलोचनात्मक अध्ययन- वीनू [232- 238]
- निर्मल का एकांत: पायल [239-242]
- सामाजिक – राजनीतिक विद्रूपताओं का अंतःसाक्ष्य 'मुआवज़े': श्वेता रस्तोगी [243-248]
- लोक काव्य में लोक संस्कृति के विविध रूप: पूनम कुमारी [249-254]
- राष्ट्रीयता के जनक एवं युग प्रवर्तक स्वामी विवेकानन्द: दिनेश कुमार [255-262]
- हिंदी दलित साहित्य का विकास और 'हंस' की भूमिका- प्रिया कौशिक [263-273]
- हिंदी साहित्य में मिथक की अवधारणा: राहुल प्रसाद [274-279]

अनुवाद/ Translation

- अनुवाद और हिंदी साहित्य- रणजीत कुमार सिन्हा [280-282]
- गुजराती लघुकथा 'स्वपन्वत' [लेखक- कनु सुणावकर] का हिंदी: अनुवादक- डॉ. रजनीकांत एस. शाह [283-284]



हिंदी दलित साहित्य का विकास और 'हंस' की भूमिका (2001-2008)

प्रिया कौशिक

शोधार्थी

पीएच.डी.(हिंदी)

हैदराबाद विश्वविद्यालय

Kaushik.priya2901@gmail.com

Contact: 8802386008

दलित साहित्य मूलतः मुक्ति एवं समतामूलक साहित्य है। दलित साहित्य में दलित अन्याय का प्रतिकार करने हेतु एकजुट होकर यथास्थितिवादी वर्चस्वशाली समाज से लड़ता है। वह एक ऐसा भारत बनाने में सहयोग देता है, जो समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व पर आधारित हो, न कि असमानता, विषमता और शोषण पर। दलित साहित्य दलितों द्वारा भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति का और दलितों द्वारा लिखे गये अनुभवों का साहित्य है। यह समाज में व्याप्त वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत से मुक्ति हेतु संघर्षरत है।

दलित साहित्य के ऐसे समतामूलक समाज को बनाने में कथाकार राजेन्द्र यादव संपादित 'हंस' पत्रिका की अहम भूमिका है। 'हंस' सामाजिक विसंगतियों से सीधे टकराती है और दलित साहित्य की सम्पूर्ण पहचान करने का प्रयास करती है। 'हंस' ने समाज में व्याप्त

छुआछूत, जातिवाद जैसे सामाजिक विसंगतियों पर प्रश्न चिह्न लगाया और खासकर हिंदी के पाठकों को बिना किसी पूर्वाग्रह के दलित साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित किया। दलित साहित्य में समय समय पर होने वाली बहसों, संगोष्ठियों के जरिए 'हंस' ने दलित साहित्य की वैचारिकी को मजबूत किया है। 'मेरी-तेरी उसकी बात' नामक कॉलम में छपने वाले राजेन्द्र यादव के संपादकीय 'हंस' की वह वैचारिक धारा है जो पाठकों को नई ऊर्जा से भर देती है। 'हंस' के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने दलित साहित्य को मुख्यधारा में मजबूती से स्थापित करने का प्रयास किया है। दलित साहित्य सवर्णों द्वारा स्थापित परंपरा को नकारता है और सवर्णों द्वारा लिखित ग्रंथों, वेद, स्मृतियों को भी सिरे से खारिज करता है, क्योंकि ऐसी ही परम्पराएं एवं ग्रंथ सवर्ण पारित मानसिकता को बढ़ावा देते हैं। कथाकार एवं 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव के शब्दों में-

“मैं हमेशा से कहता हूँ कि दलितों और स्त्रियों का कोई इतिहास नहीं है। जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह तो सवर्ण एवं पुरुषों का इतिहास है। उसमें दलित कितना मालिक के लिए वफादार रहा या कितना मालिक के कहने पर बस्तियों जलाई, कैसे उसने मालिक की जगह



अपने सीने पर गोलियों खाई ये दलित का इतिहास है, स्त्री कितनी पतिव्रता थी, निष्ठावान थी, हमारे लिए सती हो जाती थी, कैसे उसने राजवंश को बचाने के लिए अपने बच्चे की बलि दे दी यह स्त्री का इतिहास है। यानी इनका नहीं बल्कि इनकी वफादारी का इतिहास है, दरअसल इतिहास उसका होता है जो अपने फैसले खुद लेते हैं, दलित और स्त्री अपने फैसले नहीं ले सकते थे।” (‘हंस’ जनवरी 2001, पृ. 4)

नब्बे के दशक में हिंदी में उभरने वाले दलित साहित्य को साहित्यिक विमर्श के केंद्र में लाने का श्रेय ‘हंस’ पत्रिका को जाता है। अगस्त 1992 में ‘हंस’ के तत्वाधान में दिल्ली में दलित साहित्य पर केन्द्रित एक गोष्ठी आयोजित हुई। उसमें हिंदी के अनेक दिग्गज साहित्यकारों ने भाग लिया यद्यपि उस गोष्ठी का मूल स्वर दलित साहित्य पर आधारित नहीं था लेकिन उसमें एक बात स्पष्ट थी कि हिंदी में दलित साहित्य का प्रवेश हो गया है। दलित लेखक श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार- “1990 के बाद सामाजिक लोकतंत्र की चेतनाजन्य विवशता के चलते विशेषकर ‘हंस’ के संपादक राजेन्द्र यादव ने दूरदृष्टि से समझा और गैर दलित स्त्री लेखन के साथ-साथ दलित लेखन को

भी आंशिक मंच देना शुरू किया।” (श्यौराज सिंह ‘बैचैन’ : समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच, पृ. 177).

दलित साहित्य मराठी में बहुत पहले से है। सन् 1920-30 में डॉ भीमराव अम्बेडकर द्वारा चलाए आन्दोलन एवं उससे विकसित दलित साहित्य अपने प्रौढ़ रूप में मराठी में उपलब्ध था। हिंदी पट्टी में दलित साहित्य को लाने की पहल ‘हंस’ ने की। शुरूआती दौर में जब दलित साहित्यकार अपनी रचनाओं को लेकर इधर-उधर भटक रहे थे और छोटी-छोटी पत्रिकाओं ने उन्हें छापने से मना के दिया तो ‘हंस’ ने उनकी रचनाओं को छापने की पहल की। हिंदी में दलित को स्थापित करने में ‘हंस’ ने एक सूत्रधार की भूमिका निभाई और लगातार निभा रही है। जब ‘हंस’ ने दलित साहित्यकारों को जगह दी तो उसे खूब आलोचना का सामना भी करना पड़ा। एक तरफ जहाँ ‘मुख्यधारा’ के लोगों ने यह कहकर राजेन्द्र यादव की आलोचना की, कि ‘हंस’ का स्तर गिरता जा रहा है, राजेन्द्र यादव जी स्त्री, दलित साहित्य के रूप में अश्लील साहित्य को तवज्जो दे रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ दलित लेखकों, पाठकों की यह प्रतिक्रिया रही कि दलित साहित्य के नाम पर राजेन्द्र यादव ढोंग कर रहे हैं। राजेन्द्र यादव को सार्वजनिक तथा



व्यक्तिगत रूप में यथास्थितिवादियों की आलोचनाओं का शिकार भी होना पड़ा, लेकिन वह अपने मोर्चे पर अडिग रहें तथा दलित साहित्य उजागर होने लगा। बाद में मुख्यधारा के लोगों ने स्वयं दलित साहित्य से जुड़ने की कोशिश की और यहीं से शुरू हुआ स्वानुभूति एवं सहानुभूति का प्रश्न।

आज जब साहित्यिक दुनिया में नामी-गिरामी प्रतिष्ठित लेखकों की ही पूछ हो रही है और पुरस्कृत होने की होड़ मची है, ऐसे में बिना किसी मोह के 'हंस' ने अजय नावरिया, हरि भटनागर, अर्जुन चाहवाण, विपिन चौधरी, हरिराम मीणा, बजरंग बिहारी तिवारी, अशोक भारती, राज वाल्मीकि आदि तमाम उभरते युवा रचनाकारों को जगह दी है। वस्तुतः आज दलित साहित्य के पास अपनी अकादमी, अपने प्रकाशन, अपने सम्मलेन, अपनी पत्रिकाएँ हैं, फिर भी 'हंस' पत्रिका का हिंदी दलित साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि 'हंस' मुख्यधारा की पहली ऐसी पत्रिका है, जिसके पाठक देश के कोने-कोने में मौजूद हैं, दलित साहित्य को 'हंस' ने देश के जन-जन तक पहुँचाया है, दलित वर्ग के सच को मुख्यधारा से जुड़ा है, क्योंकि दलित साहित्य के नाम पर छापी गयी दलित पत्रिकाएँ

मुख्यधारा में दलितों जैसी ही अछूत मानी जाती हैं। श्यौराज सिंह बैचैन के अनुसार-

“ ‘हंस’ (सं. राजेन्द्र यादव) के संपादकीय व प्रकाशित सामग्री ने दलित लेखन को मुख्यधारा की राष्ट्रीय बहस के केंद्र में ला दिया है, ‘हंस’ ने थोड़ा पारिश्रमिक भी दिया है, यह किसी से छिपा नहीं है। ‘हंस’ के दलित लेखकों व संपादक पर वर्णवादी व यथास्थितिवादियों का कोप किस तरह बरसता रहा है। वह पत्र-पत्रिकाओं से जाहिर है।” (श्यौराज सिंह ‘बैचैन’ : समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच, पृ.167)। ‘हंस’ ने समय-समय दलित साहित्य पर लेख, कविताओं, आत्मकथात्मक अंशों, लघुकथाओं कहानियों को छापा है और उनसे प्रश्नों व समस्याओं को बहसों के माध्यम से सुलझाया है। सैकड़ों साल के परम्परावादी साहित्य में यह सेंध मारना, कम परिवर्तनीय नहीं है, परन्तु ऐसे ही परिवर्तन क्या दलित साहित्य में हो रहे हैं, इसकी पड़ताल हम इक्कीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में ‘हंस’ में छपे दलित साहित्य से कर सकते हैं।

‘हंस’ ने समय-समय पर दलित कवियों की कविताओं को छापा है। ‘हंस’ के अक्टूबर 2001 के अंक में छपी जय प्रकाश कर्दम की कविता ‘लाठी’



वर्णवादी सामंती व्यवस्था को उजागर करती है। नवंबर 2001 के अंक में मदन वीरा की चार कविताएँ प्रकाशित हुईं, 'कलारसिक', 'हिजरत', 'घोडा', 'धुंध के पार'। 'कलारसिक' नामक कविता मुख्यधारा से अलग हाशिये के सौंदर्यशास्त्र को रेखांकित करती है। हिजरत में अच्छी जिन्दगी की तलाश में गाँव से शहर की ओर पलायन करने की व्यथा वर्णित है। 'घोडा' प्रतीकात्मक रूप में दलितों में छिपी शक्तियों की याद दिलाता है। चौथी कविता 'धुंध के पार' में 'कर्म कर फल की चिंता मत कर' का उपदेश देने वाले ग्रंथ 'भगवद्गीता' पर व्यंग्य किया गया है। परन्तु जनवरी 2002 में छपी राज्वाल्मीकि की गजल यह दिलासा देती है कि हमेशा ऐसी स्थिति नहीं रहेगी-

“आज नहीं तो कल निकलेगा

कुछ न कुछ तो हल निकलेगा।”

(जनवरी 'हंस' 2002 पृ.90)

फरवरी 2002 के अंक में छपी सूरजपाल चौहान की कविता 'कलात्मक के नाम पर', जुलाई 2002 के अंक में ओम प्रकाश वाल्मीकि की तीन कविताएँ 'गीली जमीन', 'स्याही में रंगा शब्द', और 'हमलावर' प्रकाशित हुई। इन कविताओं में अनुभूति

की गहनता और शिल्प की प्रौढ़ता दोनों देखने को मिलती है। फरवरी 2003 में शैलेन्द्र चौहान की कविता 'दया' दलित के संदर्भ में सवर्णों द्वारा दलितों पर दया दृष्टि के खिलाफ है।

'हंस' का अगस्त 2004 का अंक दलित विशेषांक के रूप में छपा। इस विशेषांक में दलित कहानियाँ, आत्मकथांश, कविताएँ, साक्षात्कार आदि छापे गये।

कविताओं में अछूतानन्द 'हरिहर', श्यामलाल शर्मा, संगीता नौहियता, कृष्ण परख, सत्यप्रकाश और राजेश चन्द्र की कविताएँ छपी हैं। अक्टूबर 2008 के अंक में पवन करण की कविता 'सीवर लाइन' एक समूह की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। इसी अंक में सुधीर कुमार 'परवाज' की कविता 'गाय' और 'मैं' इस अमानवीयता की पुष्टि करती है। दलित कवियों ने अपनी अपनी कविताओं के माध्यम से सामाजिक, ऐतिहासिक, वर्णव्यवस्था, धर्म संस्कृति, राजनीति में दलितों के प्रति होने वाले अन्यायों का मुंह तोड़ जवाब देकर खंडन किया है और मानवता का पाठ सिखाया है। दलित कविताएँ दलितों की यथास्थिति से विद्रोह की कविताएँ हैं।

आत्मकथाओं के महत्व को रेखांकित करते हुए कथाकार राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि **“यह संयोग**



नहीं है कि दलित और स्त्री साहित्य भी प्रथमतः अपनी आत्मकथाओं को अपना प्रस्थान बिंदु मानते हैं दलित आत्मकथाओं अपनी यातनाओं की सीधी सपाट और इकहरी कथाएँ हैं, और उस बिंदु पर खत्म होती हैं कि दलित नायक अपनी यातनाओं को लगभग अपनी भाषा में कह सकने का साहस जुटा सका है।” (हंस. दिसम्बर, 2006, पृ. 8)

‘हंस’ ने समय-समय पर दलित आत्मकथाओं के अंशों को छपा है। ‘हंस’ पत्रिका ने जुलाई 2001 के अंक में श्यौराज सिंह द्वारा अनूदित दलित लेखक हजारी की आत्मकथा ‘कर्मवाद’ से परिचय कराया। यह आत्मकथा स्वतंत्रता पूर्व की दलितों की परिस्थितियों को दर्शाती है। ‘हंस’ ने प्रसिद्ध दलित लेखक सूरजपाल चौहान की आत्मकथा ‘तिरस्कृत’ और ‘संतप्त’ दोनों आत्मकथाओं को छपा है। उनका पहला आत्मकथांश अक्टूबर 2001 के ‘हंस’ में ‘मुंह से निकली चीख और ‘आंसू’ तिरस्कृत से लिया गया है। इसमें सवर्णों के सामंती चरित्र वर्णित है। दूसरा अंश ‘जो कहा नहीं गया’ आत्मकथा संतप्त से लिया गया है। 2005 अप्रैल में छपा यह आत्मकथांश दलित समाज को एक नयी सच्चाई से रूबरू कराता है। दिसंबर 2005 के अंक में छपा

सूरजपाल चौहान का आत्मवृत्त ‘माँ और मैं’ भी संतप्त से ही लिया गया है। तीसरी आत्मकथा नर्वेदु की ‘रुकी हुई रोशनी’ 2002 के अंक में प्रकाशित हुई। अगस्त 2004 के दलित विशेषांक में ‘स्वानुभूति’ नामक अंश में बहुत से दलित लेखकों के संस्मरण, यात्रावृत्तांत आदि को छपा है, परन्तु आत्मकथांश में श्यामलाल जैदिया के आत्मकथांश अंश ‘एकभंगी कुलपति का बचपन’ नामक शीर्षक से छपा है। ‘हंस’ के जून 2005 अंक में प्रकाशित श्यौराज सिंह बैचैन का आत्मकथांश ‘राहें बदली कि जीवन बदलता गया’ शिक्षा के प्रति लेखक की जीवटता को उजागर करती है। इनका दूसरा आत्मकथांश ‘यहाँ एक मोची रहता था’ शीर्षक से जुलाई 2007 अंक में प्रकाशित हुआ। ‘हंस’ 2005 के सितम्बर अंक के विशेषांक ‘नैतिकता के टकराव II’ में लेखक दया पवार की आत्मकथा ‘अछूत’ से, शरणकुमार लिम्बाले की ‘अक्करमासी’ से, पंजाबी लेखक बलबीर माधोपुरी की ‘छांग्यारुख’ से एक-एक अंश प्रकाशित किया गया है। इन आत्मकथाओं में दलित स्त्रियों की स्थिति को बड़ी ही शिद्दत से उकेरा गया है।

‘हंस’ सितम्बर 2006 में छपा रूपनारायण सोनकर का आत्मकथांश ‘नागफनी’ साहित्य को एक



अलग संघर्ष से रूबरू करता है। इसके बारे में राजेन्द्र यादव ने अपने संपादकीय में लिखा गई- **“इस बार दलित लेखक रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा के वे अंग दिए जा रहे हैं, जहाँ हाथ मार डाला के चीत्कार नहीं हैं मगर संघर्ष है कि दैनिक जीवन के साथ जुड़ा है। सोनकर की आत्मकथा उस परिवर्तन का हिस्सा है, जिसे अंग्रेजी में ‘साइलेंट रेवोल्यूशन’ कहा जाता है”**। (‘हंस’ सितम्बर 2006 पृ. 4) हिंदी में यह पहली आत्मकथा है, जिसमें सिर्फ सोनकर के साथ हुए अन्याय, अत्याचार का रोना नहीं है। इसमें पूरे दलित समाज की पीड़ा को अभिव्यक्ति करने का प्रयास किया गया है।

‘हंस’ में प्रकाशित प्रत्येक आत्मकथा में दलित समाज के संघर्ष की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

हिंदी दलित साहित्य के विकास में ‘हंस’ यें प्रकाशित दलित कहानियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसकी शुरुआत हिंदी साहित्य के आठवें दशक में उभरे सामान्तर कहानी आन्दोलन से माना जा सकता है। ‘हंस’ में छपी दलित कहानियों में लगभग दलित समाज का संघर्ष देखने को मिलता है। ‘हंस’ में छपी कहानियां दलित समाज से जुड़ी सच्चाई को उकेरती हैं। ‘हंस’ 2001 के अंक में मराठी लेखिका उर्मिला पवार, मराठी

लेखक बाबूराव बागूल एवं हिंदी लेखक हरि भटनागर की कहानियां विशेष रूप से उल्लेखनीय रहीं। इन तीनों कहानीकारों ने दलित स्त्री की समस्याओं की तहें खोलने का प्रयास किया है, और साथ ही उसके स्वाभिमान को भी उजागर किया है। 2002 के फरवरी अंक में हरीभटनागर की कहानी ‘बदबू’ दलितों में खासकर युवाओं में सवर्णों के प्रति प्रतिरोध की भावना को रेखांकित करती है। ‘पुनर्जन्म’ शरण कुमार लिम्बाले की कहानी दलित साहित्य के अबतक के सफ़र को वर्णित करती है। ‘हंस’ के पाठक अरुण अभिषेक पूर्णिया से लिखते हैं- **“कहानी ‘पुनर्जन्म’ दलित विमर्श की कहानी है देखो देखो, दलित किस मुस्तैदी से आगे बढ़ रहे हैं, कहाँ से कहाँ पहुँच गये, तुम सवर्ण ऐसे क्यों नहीं बनते, बस जनेऊ तोड़ डालो। हो गये उनकी जमात में। क्या यह मौजू पहल है कथाकार महोदय। क्या समाज की विसंगतियां इसी तरह दूर होंगी? व्यवस्था और राजनीति की जड़ पकड़े बिना क्या सवर्ण मानसिकता खत्म हो सकती है?”** (‘हंस’, जुलाई 2002, पृ. 13) दिसम्बर 2002 में सूरजपाल चौहान की ‘अहल्या’ कहानी पुनर्जन्म का प्रतिउत्तर कही जा सकती है। 2003 के ‘हंस’ के अक्टूबर अंक में प्रकाशित संजीव और प्रहलादचंद दस की कहानियां दलित वर्ग के लोगों का एक और सच सामने रखती हैं।



वह सच है आर्थिक मजबूती होने पर ब्राह्मणवाद को अपनाना और अपनी ही जाति और वर्ग के लोगों का शोषण करना यानि दलितों में मनुवाद का स्थापित होना। संजीव की कहानी 'योद्धा' और प्रह्लादचंद दस की कहानी 'गलत हिसाब' दोनों में यह सच देखने को मिलती है। दिसम्बर 2003 के 'हंस' में छपी युवा दलित लेखक अजय नावरिया की कहानी 'एस धम्म संन्तानों' शहरी दलितों के अनुभवों और उनकी प्रगतिशीलता को रेखांकित करती है। यह कहानी उन सच्ची घटनाओं पर आधारित है, जिसमें दलित सवर्णों के जुल्म से तंग आकर गाँव से शहर की ओर पलायन कर जाता है। चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानी 'डोम पहलवान' जुलाई 2004 में प्रकाशित हुई इसमें सामाजिक दुर्व्यवहार के खिलाफ लड़ने वाली कहानी है। आज के दलित समाज में 'डोम पहलवान' जैसे लोगों की जरूरत है। दलित साहित्य की ऐसी कहानियां परिवर्तित जनचेतना का प्रतिनिधित्व करती है। इसी अंक में छपी रत्नकुमार संभारिया की कहानी 'चमरवा' जातिप्रथा के धिनौना रूप को दर्शाती है। इस कहानी में 'चमरवा बाभन' में जाति व्यवस्था की अमानवीयता और घृणित पक्ष की अभिव्यक्ति है। यहाँ पर एक पाठक हरेराम सिंह की यह प्रतिक्रिया सटीक जान पड़ती है- "आज के समाज में 'डोम पहलवान' की तरह के व्यक्ति की जरूरत

है चमरवा बाभन की तरह नहीं" (हंस, जुलाई 2004, पृ.77).

'हंस' अगस्त 2004 का अंक 'सत्ता विमर्श और दलित' के नाम से दलित विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। यह स्वानुभूति, वैचारिकी, कहानियों, कविताओं, साक्षात्कार का बेजोड़ संयोजन है। इस अंक में बीस कहानियां संकलित है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'चिड़ीमार' सवर्ण समाज के एक धिनौने सच को दर्शाती है। वैसे भले ही सवर्ण दलितों के साथ भेदभाव रखते हैं, परन्तु दलितों की सुन्दर लड़की को देखते ही लार टपकाने लगते हैं। इस कहानी में इसी को दिखाया गया है। 'दिवंगत' कहानी के माध्यम से राजेन्द्र यादव यह विचार रखते हैं कि आरक्षण के आधार पर चयनित लोगों की योग्यता पर संदेह प्रकट किया जाता है, परन्तु जो सवर्ण घूस और सिफारिश के बल पर नियुक्त होते हैं उन पर कोई उंगली क्यों नहीं उठता? इस अंक में प्रह्लाद चंद दस की 'अब का समय', जय प्रकाश कर्दम की कहानी 'लाठी' का प्रसंग, कंचनलता की कहानी 'बाप', राजेन्द्र कुमार की कहानी 'सत्तूमधैया', अनीता रश्मि की 'मिरग-मरीचा' कहानी, रजतरानी की 'मीनू', राम निहोर विमल की 'दस्यु' का प्रसंग, मुशर्रफ़ अली का कहानी 'पिघलता हुआ शीशा', शिव कुमार की



‘रात’, अजय नावरिया की ‘उपमहाद्वीप’, सरिता भारत की कहानी ‘मैं मइया थी’ आदि कहानी प्रकाशित हुई जो दलित साहित्य के विकास में सहायक हुई।

‘हंस’ के फरवरी 2005 के अंक में छपी वेणुगोपाल की कहानी ‘अंताक्षरी’ दलित साहित्य में उपजे व्यक्तिवाद को रेखांकित करती है। सितम्बर 2005 के अंक में अंशू मालवीय की कहानी ‘14 अप्रैल’ जातिवाद एवं छुआछूत को लेकर गैर दलितों की पीढ़ी दर पीढ़ी में हो रहे परिवर्तन को रेखांकित करती है। अजय नावरिया की ‘चीख’, ओम प्रकाश वाल्मीकि की ‘रिहाई’, प्राइवेट वार्ड’, अनिल चमड़िया की ‘जो हत्यारा नहीं था’, 2007 के अंक में उर्मिला पवार की चौथी दिवार’, अजय नावरिया की ‘चियर्स’ दिसम्बर 2007 में बौद्ध शरण ‘हंस’ की ‘कामरेड’ और टेकचंद को ‘अम्बेडकर जयंती’ प्रकाशित हुई। ‘हंस’ अक्टूबर 2008 में सुशीला टाकभौर की कहानी ‘बदला’ में दलितों में आयी चेतना को रेखांकित करती है।

‘हंस’ में छपी दलित साहित्य की कहानियां दलित समाज की अलग अलग परिशिष्ट से ली गयी हैं। ‘हंस’ ने कहानियों के माध्यम से कई नए दलित कहानीकारों को प्रतिष्ठित किया है। ‘हंस’ के पाठक मास्टर सूरजदीन ने लिखा है- “‘हंस’ एक विश्वविद्यालय है जिसमें

राजेन्द्र यादव वाइसचांसलर हैं। रूप नारायण सोनकर, अजय नावरिया व शैलेन्द्र सागर जैसे साहित्यकार पैदा हो रहे हैं।” (हंस, दिसम्बर 2004, पृ. 4)

‘हंस’ ने जिस तरह से दलित कविताओं, आत्मकथाओं, कहानियों को छापकर हिंदी साहित्य को जन जन तक पहुँचाया है, उसी तरह दलित साहित्य के वैचारिक लेखों को छापकर दलित सोच, उसमें हो रहे परिवर्तन को भी रेखांकित किया है। दलित साहित्य प्रारंभ से ही विवादों के घेरे में रहा है। इसकी स्वतंत्र अस्मिता प्रश्नों के कटघरे से दो चार होती रहती है। ‘हंस’ ने समय समय पर लेखों, बहसों के माध्यम से सुलझाने की कोशिश की है। ‘हंस’ जनवरी 2001 में प्रकाशित लेख ‘हिंदी उपन्यास: दलित विमर्श का पुराख्यान’ में तेजसिंह ने दलित विमर्श और दलित चेतना के अंतर को स्पष्ट किया है। इस लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य गैर दलितों की वर्चस्वशाली संस्कृति से लबरेज है। दलित साहित्य इसी वर्चस्वशाली संस्कृति के विरुद्ध आम आदमी की चीख है जो निरंतर अपने परिष्कार से क्रांति का रूप ले रही है। ‘दलित साहित्य का सृजन उतरदायित्व किसका है’ नामक लेख जो 2001 अप्रैल में प्रकाशित हुआ उसमें बंशीधर



त्रिपाठी मूल बात यही स्वीकारते हैं कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य कहा जा सकता है, क्योंकि दलितों की अनुभूति ज्यादा प्रमाणिक है। परन्तु वे यह भी स्वीकारते हैं कि दलित साहित्य में अनुभूति की पूँजी होने के बावजूद अब भी उसमें कच्चापन दिखाई देता है। रुद्रकांत अमर का लेख 'बेदों के विरुद्ध उपनिषद' में उपनिषदों को वेदांत न मानकर वेदों के विरोध में खड़ा एक ऐसा दर्शन मन गया है जिसमें वैदिक कुरीतियों पर प्रहार किया है। ब्रजरंजन मणि का लेख 'ब्राह्मणवादी राष्ट्रीयता और फासीवाद' भी 'हंस' पत्रिका में छपा। 'हंस' ने चालीस साल पहले 1962 में कल्पना में छपे ओमप्रकाश दीपक के लेख 'जाति व्यवस्था और साहित्य' को अप्रैल 2001 के अंक में पुनः प्रकाशित कर दलित साहित्य को और समृद्ध बनाया है। आश्चर्य है कि जब दलित साहित्य अस्तित्व में भी नहीं आया था उस समय एक सवर्ण लेखक ने दलितों की आवाज़ को उठाने की ईमानदार कोशिश की है। इसके बारे में वीरभारत तलवार ने लिखा है कि –

“चालीस साल पहले 1962 में कल्पना में (हैदराबाद) में छपा ओम प्रकाश दीपक का यह लेख ऐतिहासिक महत्व का है। उस जमाने में हिंदी में दलित साहित्य का कोई आन्दोलन नहीं था और न हिंदी प्रदेश में दलितों की कोई अलग

प्रभावशाली राजनीति थी, जैसी आज बहुजन पार्टी है।” (हंस, अप्रैल 2002, पृ. 29) ऐसे में एक सवर्ण लेखक द्वारा जातिवाद व्यवस्था पर खुलकर लिखना समन्वयवादी विचारधारा को बढ़ावा देता है। तेजसिंह के 'दलित धर्म और दर्शन' नामक लेख में डॉ. धर्मवीर व जय प्रकाश कर्दम के विचारों की पड़ताल की गयी है। अशोक भारती के लेख 'शहीद भगत सिंह और दलित' में दलितों के प्रति भगत सिंह के विचारों को रेखांकित किया गया है। मार्च 2003 के लेख 'दलित साहित्य: पहचान और पूर्वानुमान' में सुरेन्द्र 'अज्ञात' ने दलित साहित्य की वैचारिकी और उद्देश्य को बड़े ही सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया है। जुलाई 2003 में वीरभारत तलवार का लेख 'दलित अंग्रेज और हिंदी' प्रकाशित हुआ। नवम्बर 2003 के अंक में छपे लेख 'बैंकूवर में दलित सम्मलेन' में श्यौराज सिंह 'बैचैन' बताते हैं कि भारतीय दलितों की स्थिति में अब तक कोई सुधार नहीं हुआ है, जबकि जो दलित विदेशों में जा बसे हैं, उन्होंने अपनी दशा में ग़ज़ब का सुधार किया है। 2004 अगस्त में डॉ. तुलसीराम का बौद्ध धर्म तथा वर्ण व्यवस्था' छपा है। चन्द्रभान प्रसाद के लेख 'बौद्धिकता के अंकुर अभिजात वर्ग से' प्रकाशित हुआ।



2005 अगस्त-सितम्बर के दोनों अंक 'नैतिकता का टकराव' नाम से प्रकाशित हुए। 'बौद्ध धम्म में नैतिकता' लेख में लेखक आनंद श्रीकृष्ण बौद्ध धम्म की नैतिकता के बारे में बताते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववादी' लेख लिखा है। 2008 के अंक में मनोज कुमार श्रीवास्तव अपने लेख 'संत कवि रैदास और घेरने की बाजीगरी' में डॉ. धर्मवीर की पुस्तक 'संत रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय' की समीक्षा की है। इन लेखों के माध्यम से हिंदी दलित साहित्य में सहानुभूति, ब्राह्मणवादी बनाम श्रमणवादी संस्कृति, दलित धर्म और दर्शन को रेखांकित किया गया है।

'हंस' पत्रिका ने अपने हर कालम में हिंदी दलित साहित्य को बखूबी उभारा है। दलित साहित्य में वैचारिकी विकास में, विषय सूची के संपादकीय कालम- 'मेरी तेरी उसकी बात', 'बीच बहस में' के माध्यम से देखने की कोशिश की जा रही है सर्वप्रथम 'मेरी तेरी उसकी बात' नामक 'कालम' में राजेन्द्र यादव की संपादकीय का हिंदी दलित साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। यह 'हंस' की वैचारिक धारा है जो पाठक को भीतर से झकझोरती है जो पाठक इससे सहमत नहीं होते, वे तो तिलमिला उठते हैं, लेकिन जो इस धारा को आत्मसात करते हैं, उन्हें एक

नई ऊर्जा मिलती है। अतएव किसी भी पत्रिका की नींव संपादक द्वारा तैयार की जाती है। संपादक के महत्वपूर्ण योगदान के लिए दलित लेखक श्यौराज सिंह बैचैन ने लिखा है- *"जनचेतना की मासिक पत्रिका 'हंस' 1990 के बाद वास्तव में. या कहें वस्तु में लोकतांत्रिक हो रही है। संपादक राजेन्द्र यादव की एक माह की अस्वस्थता ने यथास्थितिवादी सामग्री पर आधारित 'हंस' के दो अंक निकले गये। अतिथि संपादक ने तो हद ही कर दी। असल में जब आप समझते ही नहीं हैं इस दलित रचनात्मकता की गंभीरता को तो क्यों टांग अड़ाते हैं। दलित साहित्य प्रक्रिया में?..... खैर अंदाज़ यह लगाया जाना चाहिए कि यादव जी सक्षम कलाम के बाद उनकी अनुपस्थिति में 'हंस' कैसा होगा?"* (समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उचाव, पृ. 157) अतएव 'हंस' के प्रगतिशीलता कुछ हद तक राजेन्द्र यादव के प्रगतिशील विचारों पर निर्भर है।

'बीच बहस में' कालम के जरिए 'हंस' ने दलित साहित्य के उन प्रश्नों को सुलझाने की जो कोशिश की जो प्रश्न दलितों में आज भी मौजूद है। उदाहरणस्वरूप, जातिवाद के नाम पर प्रेमी जोड़े की हत्या, दलित साहित्य का मुख्यधारा में प्रवेश वर्जित, शिक्षा आदि में



वर्चस्वशाली मानसिकता बदलने का प्रयास 'हंस' पत्रिका ने किया है।

'हंस' पत्रिका अगस्त 1986 से लगातार बहस के केंद्र में है। इसमें साहित्यिक समस्याओं के सार्थ साथ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया गया है। 'हंस' में दलित साहित्य पर छापी गयी रचनाएँ समाज, राजनीति, संस्कृति आदि में व्याप्त घोर अपमान अराजकता एवं वर्चस्व की काली तस्वीर खींचने के उपरांत इससे मुक्ति की संभावनाओं को भी तलाशा गया है। समाज के हाशिये पर रह रहे दलितों को 'हंस' ने एक नई राह दिखाई, प्रत्येक कालम में दलितों को बाखूबी उभारा है। चाहे वह आत्मकथा हो, कविता हो, कहानी हो, अथवा लेख हों। दलित समाज के सकारात्मक परिवर्तन में स्त्रियों, पिछड़ों अल्पसंख्यकों को भी शामिल किया है और उनके राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नयी दृष्टि दी है। घनघोर आलोचनाओं एवं विरोधों के उपरांत भी 'हंस' ने इस कोशिश को छोड़ा नहीं है। 'हंस' की यही कोशिश हिंदी साहित्य में उभरे अनेक मतभेदों के बावजूद उसे विस्तृत फलक पर ले जाती है।

संदर्भ सूची :-

आधार ग्रन्थ :-

1. राजेन्द्र यादव (संपादक) : 'हंस' पत्रिका (2001- 2008) अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

संदर्भ ग्रन्थ:-

2. ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2001
3. कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहबाद, प्रथम संस्करण-2002
4. कंवल भारती: दलित साहित्य की अवधारणा बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, यू. पी. प्रथम संस्करण- 2002
5. जय प्रकाश कर्दम : जाति: एक विमर्श मुहीम प्रकाशन हापुड़, प्रथम संस्करण- 1991
6. श्यौराज सिंह बैचैन : समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच. अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली प्रथम संस्करण-2007



वर्ष — 11, अंक—21

अंक— जनवरी—मार्च 2021

UGC-CARE LISTED S.N. - 61

ISSN NO. 2320-5733

समसामयिक सृजन

समकालीन साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति का संगम



• ब्रज लोक गीतों में ... / डॉ. नृत्य गोपाल	111	• रमेशचंद्रशाह की ... / कृपा शंकर	212
• जकिया जुबैरी की ... / निर्मल रानी	114	• जैनदर्शन में कर्मवाद / छाया	214
• समाज का ध्वनिग्राहक कवि / निशा नाग	116	• "समकालीन संदर्भ ... / नमित कुमार सिंह	218
• भारतीय सिनेमा और ... / पल्लवी	119	• दिल्ली की शहरीकरण ... / डॉ. गगन दीप	221
• कुबेरनाथ राय के ... / प्रदीप कुमार तिवारी	122	• क्या भूलूँ क्या याद ... / नूतन सतपथी	224
• सिक्किम में हिंदी का ... / डॉ. प्रदीप त्रिपाठी	124	• छायावादी कवियों ... / डॉ. जी. पद्मावती	227
• मोंरीशस ... / प्रो. सच्चिदानंद चतु.-प्रियंका कु.	127	• इक्कीसवीं सदी की ... / डॉ. पठान रहीम खान	230
• सामाजिक-सांस्कृतिक ... / प्रियंका राय	130	• स्त्री मुक्ति का 'हंस' / प्रिया कौशिक	234
• संत कवि गुरु नानक ... / डॉ. राजेश कुमार शर्मा	133	• पारसी रंगमंच के नाटक ... / डॉ. राखी उपाध्याय	237
• नवजागरण और भारत-दुर्दशा / राजकुमार शर्मा	136	• बौद्ध पारिस्थितिकी की ... / डॉ. रणजीत कुमार	240
• जाम्भोजी महाराज ... / डॉ. राजमोहिनी सागर	139	• रेणु के कथा ... / रश्मि शर्मा	243
• छायावादी काव्य में ... / डॉ. रीतामणि वैश्य	142	• जयप्रकाश कर्दम के ... / डॉ. जी.वी. रत्नाकर	246
• आदिवासी केंद्रित ... / डॉ. रूपेश कुमार	145	• स्त्री के स्तर को सुधारने ... / रीना कुमारी	248
• भारतीय साहित्य में ... / साधना वर्मा	149	• धूमिल के काव्य का ... / शेख हीना अनवर	251
• भिखारी ठाकुर के ... / डॉ. संगीता राय	152	• जनजातियों के भिन्न ... / स्मृतिरेखा नायक	254
• पिंजर उपन्यास में ... / शरिफुज जामान	154	• रहीम के नीतिकाव्य ... / डॉ. सुधीर कुमार शर्मा	257
• हिंदी साहित्य में व्यंग्य ... / शिलाची कुमारी	157	• भास कृत उदयनकथाश्रित ... / सुमन कुमारी	260
• जीवन से ... / डॉ. सुनील कुमार सुधांशु	159	• आधुनिक समाज एवं ... / डॉ. उदय कुमार	263
• स्त्री शोषण का ... / सुनील कुमार यादव	162	• उत्तर प्रदेश के जनपद ... / उमेश कुमार तिवारी	265
• किसानों संस्कारों ... / सूर्यनाथ सिंह	165	• सुशीला टाकभीरे की ... / उषा यादव	270
• नई सदी की प्रमुख ... / डॉ. तारु एस. पवार	169	• निराला की काव्य-भाषा : ... / डॉ. वर्षा गुप्ता	273
• आदिवासी जीवन ... / डॉ. प्रेमी मोनिका तोपनो	172	• राम कथा में वाल्मीकि ... / मीना कुमारी	276
• आत्मकथाओं में लैंगिक ... / उमा मीना	176	• रसोपासना की पवित्रता / डॉ. पवन सचदेवा	279
• दलित कथाकार ... / वीरेन्द्र	179	• हिंदी फिल्मी ... / डॉ. प्रीति प्रकाश प्रजापति	282
• हिंदी दलित कहानियाँ ... / विजय कुमार	182	• पूर्वोत्तर भारत केंद्रित ... / संजीव मण्डल	285
• विवाह-विच्छेद एवं ... / विकास कुमार सिंह	185	• कुमाउनी काव्य के ... / मुरली मनोहर भट्ट	289
• हिंदी नवजागरण ... / डॉ. विनय कुमार गुप्ता	187	• नई सदी की हिंदी ... / वीरेश विसनल्लि	294
• अंबेडकर का ... / डॉ. वीरेंद्र सिंह कश्यप	189	• लोहिया के समाजवादी ... / डॉ. मृदुला शर्मा	296
• युग प्रवर्तक के ... / अखिलेश यादव	192	• सरदार पटेल के ... / डॉ. दीपक कुमार अवस्थी	299
• माध्यमिक स्तर ... / अमित कुमार दूबे	194	• प्रतिलोम सत्ताओं का ... / हेमंत कुमार	303
• जनतांत्रिक मूल्य : ... / डॉ. अश्विनी कुमार	197	• महादेव टोप्पो के ... / डॉ. रवि कुमार गोंड	307
• दुष्यंत कुमार का ... / आजाद	200	• साठोत्तरी कविता ... / डॉ. महावीर सिंह वत्स	311
• चीन में हिंदी ... / डॉ. विवेक मणि त्रिपाठी	203	• रचना और आलोचना ... / डॉ. बीना जैन	312
• 21वीं सदी के नाटकों ... / डॉ. गणेश	206	• औरत : मीडिया ... / डॉ. अजय सिंह चौहान	315
• हिंदी उपन्यासों ... / जैनंद्र चौहान	209	• हबीब ... / अशोक बैरागी-डॉ. दीपिका श्रीवास्तव	318

स्त्री मुक्ति का 'हंस'

प्रिया कौशिक

साहित्यिक पत्रकारिता आज पत्रकारिता के क्षेत्र में अपनी पूरी संभावनाओं के साथ मौजूद है। हिंदी पत्रकारिता में स्त्रियों की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो उनकी स्थिति आज पहले से अधिक स्वीकृत है। कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो अब स्त्री की पहुँच से अछूता हो, परंतु इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए तथा इस स्वीकृत मुकाम को हासिल करने के लिए स्त्रियों को अनेक ऐसे अंधेरे रास्तों से गुजरना पड़ा जहाँ भटकाव की स्थिति भी सामने आई परंतु स्त्रियों के हृदय में मुक्ति की मशाल निरंतर जल रही थी जिसने उन्हें भटकाव के समय संयम तथा विवेक से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। साहित्यिक पत्रकारिता को समृद्ध बनाने में हिंदी के अनेक साहित्यिक विद्वानों ने संपादन का दायित्व सँभाला है। जिनमें राजेंद्र यादव जी का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। राजेंद्र यादव जी ने अपने संपादन काल में प्रेमचंद की प्रगतिशील परंपरा का निर्वाह करते हुए स्त्री मुक्ति के प्रश्न, दलित अस्मिता के प्रश्न, अल्पसंख्यकों और आदिवासियों के प्रश्न की ओर ध्यान केंद्रित किया। राजेंद्र यादव अपने समय के सबसे विवादास्पद और समाज में टकराहट पैदा करने वाले लेखक तथा संपादक रहे हैं। स्त्री मुक्ति का विषय उनकी क्रांतिकारिता के केंद्र में था। राजेंद्र यादव ने समाज में उपेक्षित स्त्री के लड़खड़ाते पैरों को सँभालते हुए उन्हें निरंतर उनके अधिकारों के लिए लिखने का साहस तथा 'हंस' का मंच प्रदान किया। स्त्री अस्मिता के प्रश्न पर राजेंद्र यादव ने 'हंस' के संपादकियों में अपनी चिंताएँ व्यक्त की तथा स्त्री की दारुण यथार्थ स्थिति को गंभीरता से लेते

हुए उनकी मुक्ति के लिए नई दिशा प्रदान की। यादव जी स्त्रियों को स्वयं अपनी नियति समझने तथा विद्रोह करने के लिए प्रेरित करते थे। 'हंस' के माध्यम से पहले स्त्री-दलित विमर्श को विचार का विषय बनाया गया साथ ही मुसलमान विशेषांक भी प्रकाशित किए गए। एक अरसे से अंधकार में अपनी पहचान और अस्मिता तथा सांसारिक शोरगुल में अपनी आवाज तथा अभिव्यक्ति को तलाशते हुए स्त्री रचनाकारों को 'हंस' के माध्यम से एक साहित्यिक मंच प्राप्त हुआ और स्त्रियों ने अपनी त्रासद स्थिति तथा संघर्ष को निर्भीक रूप से व्यक्त किया। राजेंद्र यादव जी ने भी संपादकियों के माध्यम स्त्री चेतना का बिगुल बजाया। हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श की उपस्थिति में राजेंद्र यादव तथा उनके 'हंस' का योगदान सरहानीय है। रूप चंदेल इस बात को स्वीकारते हुए लिखते हैं कि "दलित और नारी विमर्श आज साहित्य और वैचारिक विमर्श की मुख्यधारा बन गए हैं तो उसका बड़ा श्रेय वरिष्ठ कथाकार राजेंद्र यादव को है। उन्होंने इसके लिए 'हंस' का मंच ही उपलब्ध नहीं करवाया बल्कि इन मुद्दों को साहित्य की बहस बना दिया।"¹

राजेंद्र यादव के संपादनत्व में 'हंस' का हिंदी पत्रकारिता और साहित्य के लिए सबसे बड़ा योगदान उसके विशेषांक हैं। राजेंद्र यादव के नीर-क्षीर विवेक तथा पारखी दृष्टि से अस्मितामूलक समाज हाशिए से केंद्र में आया। 'हंस' में विशेषांकों के माध्यम से हाशिएकृत समाज को राजेंद्र यादव जी ने एक पुख्ता आधार प्रदान किया जिससे उनकी सामाजिक यथार्थ स्थिति की खुलकर अभिव्यक्ति हो सकी।

राजेंद्र यादव हमेशा अपने वक्तव्यों से टकराहट पैदा करते थे तथा समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता, उपेक्षित वर्ग की संवेदानाओं तथा अपने गहन चिंतन को वे हमेशा अपने संपादकीय के माध्यम से सामने लाते रहते थे। राजेंद्र यादव ने स्त्री को मात्र देह तक सीमित करने वाली पुरुषवादी मानसिकता पर अनेक संपादकियों में कटाक्ष किया है। स्त्री को समाज से प्राप्त दोगम दर्जे की राजेंद्र जी कड़ी निंदा करते हैं तथा स्त्री के मानवीय स्वरूप को स्थापित करने में यादव जी की कोशिशों का ही परिणाम है कि स्त्री मुक्ति के पथ पर निरंतर बढ़ी। स्त्री को समाज में मात्र देह के समझे जाने पर राजेंद्र यादव जी कहते हैं "नारी को हम संपूर्णता में नहीं देख पाते। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करुणा-भरी है, सुंदरता और शील की देवी है, वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह काम-कन्दरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है।"²

राजेंद्र यादव ने स्त्री विमर्श की समस्त समस्याओं को केंद्र में तो रखा ही साथ ही उनसे जुड़े तमाम उन सवाल पर भी निरंतर बहस जारी रखी कि ऐसे कौन से कारण हैं जिसने पुरुष सत्ता को समाज में स्त्रियों की स्थिति को कुचलने पर मजबूर किया? लिंग परीक्षण से लेकर स्त्रियों से साथ होने वाले नृशंस मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सभी प्रकार के शोषणों से मुक्ति के स्वर सर्वप्रथम 'हंस' द्वारा ही उठाए गए। ये ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जो नब्बे के दशक में राजेंद्र यादव जी द्वारा उठाए गए जो अपने आप में

स्त्रियाँ हजारों वर्षों से घुटन भरा जीवन जीती आई हैं। उन पर होने वाले अन्याय तथा उससे मुक्त होने की भावना स्त्रियों को संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करती है। आज स्त्री विमर्श का जो स्वरूप हमारे

स्त्री मुक्ति को लेकर राजेंद्र जी के विचार विवादास्पद भी रहे। राजेंद्र जी का मानना था कि यदि स्त्री स्वतंत्र रहना चाहती है तो यह केवल तभी संभव है जब वह वेश्या हो। अन्यथा उसको अपने जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर विभिन्न संबंधों के रूप में एक पुरुष संरक्षक की आवश्यकता रहेगी।” वेश्या स्वतंत्र नारी है। विडंबना है कि नारी को अगर स्वतंत्र होना है तो वेश्या बनने के सिवा कोई रास्ता नहीं है, तभी वह जी सकेगी। धन, पति, पुत्र के ही हाथ में है। न उसका अपना कोई व्यक्तित्व है,

स्त्री की राजनीति में जो यथार्थ स्थिति है, उसको लेकर राजेंद्र यादव चिंतित रहते थे तथा स्त्रियों को उसकी सच्चाई से समय-समय अवगत भी करवाते रहे। इस विषय पर केंद्रित उनके संपादकीय “तुम्हारे गले में ये किसकी आवाज है, उमा भारती? (‘हंस’, मार्च 1993) और सिंहासन खाली करो कि... (‘हंस’, अप्रैल 1997) अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीति में स्त्री की उपस्थिति सुनिश्चित होने और 33: आरक्षण से पुरुषवादी खेमे में भूकंप आया गया। उन्हें उनकी सत्ता के पाँव हिलते महसूस होने लगे। यथास्थितिवादियों के विचारों से यदि राजनैतिक चेतना, साधन सुविधा पाते ही औरतों के पर निकाल आएँगे। हिंदू कोड बिल का विरोध हो या संसद में स्त्रियों की निश्चितता का पुरुष इन अधिकारों को स्त्रियों से अनभिज्ञ ही रखना चाहते थे। स्त्रियों की एकजुटता का ख्याल ही पुरुषों को भयभीत कर देता है। महिला आरक्षण विधेयक का शरद यादव ने इस विधेयक का विरोध यह कहकर किया था कि इससे ‘बालकटी-परकटी’ महिलाओं का का प्रभुत्व बढ़ जाएगा। ऐसा भी देखा जाता है कि जब महिला उम्मीदवार की सीट आरक्षित होती है तब पूर्व विधायक अपनी पत्नी को चुनाव में खड़ा कर देते हैं। चुनाव जीतने के बाद पत्नी अपनी गृहस्थी में वापिस भेज दी जाती है और विधायकी के नारे निर्णय विधायक के पति ही लेते हैं। 3 अप्रैल 2020 को इसी समस्या को लेकर दीपक कुमार निर्देशित “पंचायत” नाम की वेब सीरीज आई थी। स्त्री आरक्षण परिवार की और समाज की मूल संरचना में ही परिवर्तन ला सकती

है। क्योंकि स्त्री चाहे किसी भी वर्ग की क्यों ना हो समाज से उसे प्रताड़ना ही मिलती है। 2020 में अनुभव सिन्हा निर्देशित फिल्म 'थप्पड़' फिल्म में भी इसी मुद्दे को केंद्र में रखा गया था।

स्त्रियों के साथ हिंसा केवल शारीरिक नहीं होती, मानसिक रूप से भी उनको पंगु बनाया जाता है। भाषिक और मानसिक रूप से पहले ही उसकी हत्या कर दी जाती है। स्त्रियों तुम्हें पालतू बनाने में हमें भाषा के स्तर पर खुद पशु और हत्यारा बनना पड़ता है तब जाकर हम अपनी भाषा में इतनी हिंसा, इतनी निर्दयता ला पाते हैं ताकि तुम्हें गुलाम बना सके। “स्तुतियों से ही नहीं, गालियों से भी हमने तुम्हें मारा है। जो भाषा हम तुम्हारे लिए इस्तेमाल करते हैं, उसे कभी सुना है? वह सिर्फ तुम्हारी देह और देह संबंधों के बखिए उधेड़ती है, या तो तुम्हारी योनि और वासना कि दुर्दमनीयता को धिक्कारती है या अपनी असमर्थता को कोसती है कि तुम्हारी देह को क्यों कुचल और रौंद नहीं पाते...”⁷

स्त्री विमर्श का सही स्वरूप तभी बनेगा जब स्त्री बिना किसी दबाव के अपने जीवन के बारे में खुद निर्णय ले सकें। राजेंद्र यादव ने ‘हंस’ के माध्यम से स्त्रियों को सक्षम बनाकर अपने निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया। स्त्री विमर्श को केवल हिंदी पढ़ी तक ही नहीं बल्कि एक राजनैतिक, सामाजिक विमर्श के रूप में ‘हंस’ ने ही स्थापित किया। स्त्री मुक्ति के सवाल को लेकर राजेंद्र यादव जी को अनेक प्रकार के व्यक्तिगत आक्षेपों का भी शिकार होना पड़ा परंतु कोई भी राजेंद्र यादव तथा ‘हंस’ को अपने इस मोर्चे से हिला नहीं सकें और ना ही इनसे राजेंद्र यादव ने अपने मूल्यों के साथ कभी किसी प्रकार का समझौता किया। स्त्री और दलित हाशिए से निकालकर मुख्यधारा में लाने के इस ऐतिहासिक कदम का श्रेय तो ‘हंस’ को ही जाता है। राजेंद्र यादव की संपादकीय दृष्टि के विषय में रामशरण जोशी का कथन है—“हजार असहमतियों के बावजूद क्या हम इससे इंकार कर

सकते हैं कि 20-25 वर्षों के दौरान उन्होंने ‘हंस’ के माध्यम से हिंदी जगत को विमर्शों से आंदोलित रखा और समृद्ध किया है? आज हाशिए के मुद्दे (स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, अल्पसंख्यक, सांप्रदायिकता, धर्म निरपेक्षता आदि) हिंदी चिंतन जगत के केंद्र में हैं... हिंदी में अंतर अनुशासन, चिंतन व सीमाओं को तोड़कर समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, मानवशास्त्र जैसे ज्ञान के क्षेत्रों को भी हाशिए के संसार को समझने के लिए निर्मात्रित किया”⁸ ‘हंस’ में भारतीय स्त्री की पराधीनता तथा दलितों की पराधीनता को वैचारिक बहस का मुद्दा बनाया।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जनचेतना की परंपरा में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को महत्त्व देने वाली पत्रिकाओं में ‘हंस’ का स्थान अग्रणी है। स्त्री-विमर्श में सबसे बड़ा सवाल है देह-मुक्ति का, जिसको लेकर राजेंद्र जी ने अनेक लेख लिखे तथा यह यादव जी के अभूतपूर्व क्रांतिकारी और ऐतिहासिक योगदान की ही बानगी है कि हिंदी की लेखिकाएँ ‘कितनी बिस्तरों में कितनी बार’ के अनुभवों को बिना किसी हिचक के, बिना किसी लागलपेट के अपनी-अपनी आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति दे पाई हैं। ‘हंस’ ने स्त्री मुक्ति के लिए प्रभुत्ववादी और रूढ़िवादी विचारधारा को चुनौती दी। उस समय इन वर्चस्ववादी ताकतों से दो हाथ करने का साहस केवल राजेंद्र यादव में ही था। स्त्रियों को गृहिणी के तयशुदा किरदार से बाहर निकालने में ‘हंस’ ने अनेक प्रयास किए जिससे स्त्री मुद्दों की एक ठोस व्यावहारिक वैचारिकी तैयार हुई। राजेंद्र यादव जी के कुछ महत्त्वपूर्ण संपादकियों और लेखों पर चर्चा करके हम उनकी स्त्री विषयक चिंताओं और प्रगतिशील दृष्टिकोण को समझ सकते हैं।

शोध संदर्भ सूची :

1. सिमोन द बोउवार, (अनु. प्रभा खेतान). (1998), स्त्री उपेक्षिता, दिल्ली : हिंदी पॉकेट बुक्स
2. यादव, राजेंद्र. (2001), आदमी की निगाह में औरत, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन

3. शर्मा, क्षमा (2002), स्त्रीवादी विमर्श : समाज और साहित्य, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन
4. पांडे, मृणाल (1987), देह की राजनीति से देश की राजनीति तक. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन.
5. पांडे, मृणाल. (2006). जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
6. खेतान, प्रभा. (2004). बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
7. जॉन स्टुअर्ट मिल. (2002). स्त्री और पराधीनता. मेरठ : संवाद प्रकाशन.

हंस पत्रिका के स्त्री विशेषांक

1. औरत उत्तरकथा : अंक-1, नवंबर-दिसंबर 1994, अंक-2, जनवरी 1995,
2. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य जनवरी-फरवरी, मार्च 2000,
3. स्त्री भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप 2001,
4. स्त्री विमर्श : अगला दौर स्मृति प्रभा खेतान।

संदर्भ :

1. जवाब दो विक्रमादित्य, संपादक राजेंद्र यादव, पृष्ठ 29.
2. आदमी की निगाह में औरत, राजेंद्र यादव, पृष्ठ सं. 14.
3. आदमी की निगाह में औरत, राजेंद्र यादव, पृष्ठ सं. 26.
4. ‘हंस’, सं. राजेंद्र यादव अंक-जनवरी 2001 पृष्ठ सं.
5. <https://www-thehindu-com/news-national/watch&ncrb&report&decoded/artical29805942-ecce->
6. आदमी की निगाह में औरत, राजेंद्र यादव पृष्ठ सं. 18
7. ‘हंस’, सं. राजेंद्र यादव आदमी की निगाह में औरत, लेख होनाधसोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ, पृष्ठ सं 105
8. डॉ. कृष्णकांत चंद्रा, डॉ. अजय बिन्द (संपा.), राजेंद्र यादव, समानान्तर दुनिया का सूत्रधार, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 131.

शोधार्थी

पी-एच.डी. (हिंदी)

हैदराबाद विश्वविद्यालय

Kaushik.priya2901@gmail.com

Contact : 8802386008



काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय



BANARAS HINDU
UNIVERSITY



‘साखी’ एवं भोजपुरी अध्ययन केन्द्र का संयुक्त आयोजन

राष्ट्रीय संगोष्ठी

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता, ‘हंस’ और राजेन्द्र यादव

दिनांक : 20-21 अक्टूबर 2016

राधाकृष्णन सभागार, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/डॉ० प्रिया कोशिक शोध छात्रा, हिन्दी विभागा, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने ‘साखी’ एवं भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में सहभागिता की तथा : हिन्दी साहित्य को हंस की देन

विषयक शोध पत्र प्रस्तुत किया।

2015 - 2017 Centenary Year

प्रो० अवधेश प्रधान

सह-समन्वयक
भोजपुरी अध्ययन केन्द्र,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रो० सदानन्द शाही

समन्वयक
भोजपुरी अध्ययन केन्द्र,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

स्त्री के पक्ष में : सृजनात्मक प्रतिरोधी स्वर

चार दिवसीय राष्ट्रीय परिसंवाद

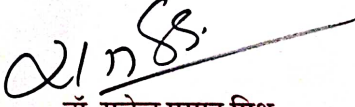
05-08 मार्च 2017

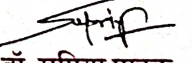
स्त्री अध्ययन विभाग

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/श्रीमती/सुश्री/डॉ./प्रो..... प्रिया कौशिक..... ने दिनांक 05-08 मार्च 2017 को स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) द्वारा “स्त्री के पक्ष में : सृजनात्मक प्रतिरोधी स्वर” विषय पर आयोजित चार दिवसीय परिसंवाद में अध्यक्ष/ प्रमुख वक्ता/ सह-अध्यक्ष/ प्रतिभागी/ सत्र-संचालक/ स्पीकिंग/ तकनीकी सहयोगी/ आभ्युपेक्षण समिति के सदस्य के रूप में सहभागिता की। इन्होंने स्त्री मुक्ति का प्रश्न और 'हंस' की भूमिका..... शीर्षक पर शोध पत्र / शोध आलेख / व्याख्यान प्रस्तुत किया।


प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति


डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र
कुलसचिव


डॉ. सुप्रिया पाठक
परिसंवाद संयोजक